जीवन-ज्योति

(सामवेद के आग्नेय-पर्व की व्याख्या)

लेखक

वेदप्रिय श्री प० चमूपति जी एम० ए०

सम्पादक

स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रथमावृत्ति] १६६५ [मूल्य डेढ़ रुपया

पुस्तक कदाचित् न छप सकती यदि श्री पं० ठाकुरदत्त जी शर्म्मा, अमृतधारावाले, अपनी धर्मार्थ दाय-निधि से सहायता न दिलाते। शर्म्मा जी प्रतिवर्ष एक सौ रुपए की राशि वेद-मन्त्र-संबन्धी पुस्तक छापने के लिए सभा को दिया करते हैं। चूँकि यह ग्रन्थ बड़ा था, १००) रु० में नहीं छप सकता था अतः हमारी प्रार्थना पर प्रशंसनीय शर्म्मा जी ने इस ग्रन्थ का सारा व्यय देना स्वीकार किया। तदर्थ मैं श्री पण्डित ठाकुरदत्त जी को अनेकानेक धन्यवाद समर्पण करता हूँ।

सभा ने अनुसन्धान-विभाग तथा साहित्य-विभाग दोनों को एक करके, और उस नए विभाग का 'चमूपति-साहित्य-विभाग' नाम रख कर गुणग्राहकता का परिचय दिया है।

यह ग्रन्थ इतना शीघ्र न छप सकता, यदि आर्य प्रेस लिमिटेड के अधिकारी और विशेषकर पं० विष्णुदत्त जी कृपा न करते। तदर्थ उन्हें भी साधुवाद।

स्वामी वेदानन्दतीर्थ
चमूपति-साहित्य-विभाग—अधिष्ठाता।

श्री प० ठाकुरदत्त शर्म्मा जी

(अमृतधारा के आविष्कारक)



आपने इस पुस्तक के प्रकाशन का सारा
व्यय दिया है।



जीवन-ज्योति के द्योतयिता

प० चमूपति जी एम० ए०



ज़न्म-तिथि : १५ फ़रवरी १८९३ ई० | निधन-तिथि : १५ जून १९३७ ई०

वेदप्रिय पं० चमूपति जी

'जीवन-ज्योति' के द्योतयिता श्री पण्डित चमूपति जी आज इस संसार में नहीं है। जगन्नाटक के सूत्रधार का निर्देश पाकर वह इस रंग-स्थली से पुनः नेपथ्य की ओर चले गए। आज आर्य-कानन में चमूपति-कोकिल की कूज सुनाई नहीं देती। उसकी स्मृति, किन्तु अमिट-सी, शेष है। बहुधा उस कोकिल की कल ध्वनि से श्रोत्र आप्यायित होते प्रतीत होते हैं। मनो-नेत्रों के आगे कई बार विनयभरभंरित सस्मितमुखपंकज आ जाता है। उनके अभिन्न-हृदय सहृदय सुहृदों के मुख-कमलों को, बहुधा, उनकी स्मृति से उत्पन्न अश्रुतुषारों से ताडित, उष्ण निश्वासानिल से क्लान्त देखा गया है। अब भी चमूपति-चर्चा अनेकों हृदयों में सद्भावनाओं का संचार करती है। चमूपति में कौन-सा ऐसा गुण था, जिसके कारण मित्र उन पर आसक्त थे, और अमित्र उनसे संत्रस्त थे। इसका थोड़ा-सा वर्णन यहाँ करना अभीष्ट है, उसके प्रसङ्ग में उनके जीवन की कई एक घटनाओं का भी उल्लेख रहेगा।

रियासत बहावलपुर में महता-परिवार की महत्ता सर्व-सम्मत है। उस महत्ता-महान् परिवार की महिमा १५ फ़रवरी १९९३ को और भी गौरवयुक्त हुई, जबकि महता दलपतरायजी के पुत्र महता वसन्दा राम की अर्द्धाङ्गिनी सौ० श्रीमती उत्तमी देवी ने एक बालक-रत्न को कोख-रूप खान से बाहर किया।

चम्पतराय ने (बालक का यही नाम धरा गया) बाल्य-काल में चमूपति=सेनापति होने का परिचय देना आरम्भ किया। वह अपनी बाल-सुलभ, वृद्धस्पृहणीय लीलाओं से अपने माता-पिता, सगे-सम्बन्धियों का मन हरण कर लेता था। बाल्य-काल से ही आपकी रुचि तथा प्रवृत्ति धार्मिक रही। आरम्भ में आप पर गुरु नानक के भक्ति-वाद का गहरा प्रभाव था। उस भक्ति के साथ मस्ती ने मिलकर चम्पतराय को समवयस्कों का प्रमुख बना दिया। अनेक तरुण तारुण्य की अलबेली अवस्था में ही चम्पतराय के सम्पर्क से आस्तिक निष्ठावान् भक्त बन गए।

चम्पतराय का मिडिल तक का शिक्षण, उसके जन्मग्राम खैरपुर टामेवाली में ही हुआ। अध्यापकों के आप प्रीति-भाजन एवं स्नेहास्पद रहे। मिडिल-परीक्षा में समस्त रियासत में प्रथम रहे। मैट्रिक पास करने के पीछे बहा-वलपुर के सादिक ईजर्टन कालिज में प्रविष्ट हुए। कालिज से जितने विद्यार्थी यूनिवर्सिटी-परीक्षा में बैठे, उनमें से सफलता ने केवल आपके ही चरण चूमने उचित समझे। कालिज में पढ़ते समय आपके हृदय में अशरीरिणी वाणी ने—अव्यक्त से व्यक्त दशा में आने का उपक्रम किया। उन्हीं दिनों में आपने सिखों के 'जपुजी' को उर्दू-काव्य का कुरता ओढ़ा दिया, जिससे सबका मनोरंजन हुआ।

एफ़० ए० के बाद आप अहमदपुर शर्किया के मिडिल स्कूल के द्वितीयाध्यापक नियत हुए।

चम्पतराय जी का चित्त अभी चंचल है। सिखी से सन्तुष्ट न हुआ; सिखी-त्याग के साथ आस्तिकता को भी जलांजलि दे बैठा। इस प्रवाह में इतना वहा कि अमृतसर से निकलनेवाले 'सत्सङ्ग' पत्र में ईश्वरास्तित्व के खण्डन में लेख लिख मारा। चम्पतराय जिस स्वाँग को धारण करता है, उसमें तन्मय हो जाता है, यही तन्मयता—अपने भावों का मूर्त्त रूप बन जाना ही—उसकी सफलता तथा मान्यता का हेतु है। भक्त चम्पत यदि अपने हमजोलियों का नेता था, तो नास्तिक चम्पत भी वैसा ही सफल चमूपति है। इस दशा में उसे कहीं से प्रसिद्ध स्वामी विवेकानन्द जी के ग्रन्थ मिल जाते हैं। उनसे हृदय में विवेक जागरूक होता है। ईश्वर में विश्वास उत्पन्न होता है, किन्तु आप ब्रह्म बन बैठता है। ब्रह्म जी ने पलटा खाया और अब लगे मूर्त्तियों के आगे सिर झुकाने। अब ब्रह्म-भाव विलीन हो चुका है। मन्दिर में स्थापित मौन मूर्त्ति केवल पूज्य ही नहीं रही, अनुकरणीय भी हो गई है। मूर्त्ति को मौन देखकर चम्पतराय प्रतिज्ञा करते हैं, "अब से मौन रहेंगे, आवश्यकता के विना जिह्वा नहीं हिलाएँगे।" आर्यसमाज के प्रचण्ड साहित्य-झंझावात के सम्पर्क से यह मौन मुद्रा दूर हुई। चंचल चम्पत-चित्त, जो अब तक कहीं न टिकता था, यहाँ आके टिक गया। ऐसा टिका कि बड़ी-से-बड़ी विचार वात्या भी उसे कम्पायमान न कर सकी। ईश्वर, वेद, वैदिक धर्म, और दयानन्द ने उस पर ऐसा अधिकार जमाया कि अब वह सोते-जागते

इन्हीं की परिक्रमा करने लगा। दयानन्द के रस से वह ऐसा आप्लावित हुआ कि वह उसमें दूसरों को भी निमग्न करने को उद्विग्न हो उठा। फल-स्वरूप 'दयानन्द-आनन्द-सागर' का प्रवाह हुआ। इस 'दयानन्द-आनन्द-सागर'-रूपी बाढ़ ने स्वयं चम्पतराय को बहावलपुर से उछाल बाहर फेंका। चम्पतराय ने अपने श्रद्धेय आचार्य के लिए एक ऐसे शब्द का प्रयोग किया, जिसे वहाँ के मुसलमान अपने मान्य पैग़म्बर के लिए ही सुरक्षित समझते थे। चम्पतराय को कहा गया, इसके लिए क्षमा माँग लो। चम्पतराय को इसमें क्षमा माँगने की सामग्री न दीखी। चम्पतराय को समझाने के लिए एक बहुत बड़े मुसलमान राज्याधिकारी ने उनको अपने घर बुलाया। उस राज्याधिकारी ने भी उनको क्षमा माँग लेने का परामर्श दिया। चम्पतराय का उत्तर स्पष्ट था, आप मुझे समझा दीजिए। उस पर उस सज्जन ने कहा—लोग मूर्ख हैं, अशिक्षित हैं, उनको ऐसी बातों की समझ नहीं। चम्पतराय ने क्षमा माँगने में अपनी असमर्थता प्रकट की।

चम्पतराय जब चलने लगे, तो राज्याधिकारी महानुभाव ने कहा—"मैंने आपको यह परामर्श, पदाधिकार से नहीं वरन् अपने वैयक्तिक विचार से दिया है। मैं आपके परिवार के उपकार-भार का आभारी हूँ। अपने चिरन्तन पुनीत सम्बन्ध के कारण मैंने हित-दृष्टि से आपको यह परामर्श दिया है, इसमें कोई दूसरा हेतु न समझिएगा।" इधर से जो

उत्तर दिया गया, उसमें विनय था, किन्तु दैन्य न था। चम्पतराय ने कहा—"मैं आपका कृतज्ञ हूँ, मुझे दुःख है तो इतना कि आप-से मान्य हितैषी के एतद्विषयक विचार से मैं सहमत नहीं हो सका।"

विनय के साथ स्वपक्ष पर दृढ़ रहने का कितना सुन्दर उदाहरण है।

'दयानन्द-आनन्द-सागर' १९१८ ई० में लिखा गया था।

इस घटना के समय आप बहावलपुर के सादिक ईजर्टन कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे। अहमदपुर से आप बहावलपुर हाईस्कूल में आए। यहाँ आपने अध्यापन कार्य करते-करते बी. ए. परीक्षा भी पास कर ली और वहीं तृतीय अध्यापक बना दिए गए। इतिहास तथा अँगरेज़ी भाषा पढ़ाते थे। अधिकारी तथा विद्यार्थी सभी आपसे सन्तुष्ट एवं प्रसन्न थे। शिक्षा-विभाग के अधिकारी, तथा उच्च पदस्थ कर्मचारी सभी आपकी कार्यदक्षता, योग्यता के कारण आप पर मुग्ध थे। रियासत की कौंसिल आव रीजेंसी (Council of Regency) के अध्यक्ष श्री मौलवी रहीमबख़्शख़ाँ भी उनसे अत्यन्त प्रसन्न थे, एक बार वह बहापुर में पण्डित जी के घर पर उनसे मिलने को आए। यहाँ रहकर आपने एम. ए.-परीक्षा पास की। बी. ए. तक संस्कृत-भाषा क्या देवनागरी अक्षरों से भी चम्पतराय जी परिचित य थे, किन्तु एम. ए. संस्कृत में किया। प्रत्येक आर्य को आर्य-भाषा तथा संस्कृत का अवश्य ज्ञान होना चाहिए, इस आर्ष

आदेश के सूझते ही धुन के धनी ने अपनी धुन पूरी कर दिखाई ।

इन दिनों चम्पतराय जी अँगरेज़ी वेषभूषा से भूषित रहते थे। कोट, पतलून, गलपट्ट (कॉलर), गलबन्धन (नेकटाई) से अलंकृत रहा करते थे। वेषभूषा-उपस्कार (फ़ैशन) में उस समय बहावलपुर में आप आचार्य माने जाते थे। प्रत्येक —शिक्षित अशिक्षित—इस विषय में उनको अनुकरणीय मानता था। इस विषय की एक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा—

बहावलपुर का एक वस्त्रव्यापारी एक बार एक ऐसा कपड़ा मँगा बैठा, जिसका रंग अच्छा न था। वेष-भूषा का आचार्य उसका मित्र है, प्रायः उसी के यहाँ से कपड़ा ख़रीदता है। नए नमूने के वस्त्र की तलाश में, एक दिन, उसकी दुकान पर पहुँचता है, बज़ाज़ के म्लान-मुख को देख कर कारण की जिज्ञासा करता है। दुकानदार संकोच करता है, वह डरता है कहीं इनको कपड़ा दिखाया, और इन्हें पसन्द न आया, तो किसी तरह भी यह कपड़ा न बिकेगा। किन्तु इधर भी आग्रह अदम्य है। फ़ैशन के आचार्य के आग्रह के सामने बेचारे दुकानदार के भय और लज्जा को हार स्वीकार करनी पड़ती है, और वह अपनी दुःखगाथा उनको सुना देता है। चम्पतराय केवल फ़ैशन का ही पण्डित नहीं है, वह क़वि है, कवि भावुक होता है, भावुकता रस के पुट विना परिपाक को प्राप्त नहीं करती। सच्चा कवि वेद के शब्दों में 'जनानां कविः'—

जनता का कवि होता है। जनता का कवि जनता के भावों का चित्रण करता। अतः वह तो करुणा का मूर्त्त रूप होता है। अतः करुणावेश में आविष्ट वेष-भूषाचार्य उस कपड़े का एक सूट सिलाने का आदेश करता है। दुकानदार उसे परिहास समझता है, उसे विश्वास ही नहीं होता कि चम्मत-राय ऐसा परिष्कृत-रुचि-संपन्न सज्जन इस वस्त्र को पहिरेगा? किन्तु इधर मुद्रा गम्भीर थी। मुख हृदय का साक्षी हो रहा था। परिहास की रेखा भी तो न थी। विवश, दुकानदार ने अपेक्षित कपड़ा काट दिया। दूसरे दिन वस्त्र तैयार हो गए। चम्पतराय अगले दिन से नए सूट को धारण कर स्कूल जाते हैं। सायंकाल को बज़ाज़ की दुकान पर जाते हैं। बज़ाज़ के मुख पर प्रसन्नता खेल रही है। दुकानदार उन्हें देख कर प्रसन्नता से उनका स्वागत करता है और कहता है—मास्टर जी! आपकी दया से सात सूटों का कपड़ा बिक गया है। कृतज्ञता-वश वह उनसे दाम नहीं लेना चाहता। इस पर यह आवेश में आ जाते हैं और कहते हैं, क्या तुम मुझे उत्कोच (रिश्वत) देना चाहते हो? याद रखो, ऐसा करोगे, तो मैं इस सूट के कपड़े के विरुद्ध सम्मति प्रकाशित कर दूँगा। डरते-डरते दुकानदार ने मूल्य ले लिया।

वेष-भूषा की नई-नई रीतियों के आविष्कारक और प्रचारक चम्पतराय के विचार पलटा खाते हैं। सिर पर हैट नहीं रही, सिर नंगा है। पतलून को धोती ने भगा

दिया है, कोट अब शरीर का कोट नहीं रहा। चम्पतराय अब मूर्त्तिमान् सादगी बन गए हैं। क्या यह विचार और तदनुसार आचार उन्हीं तक सीमित हैं? नहीं। पूरी धुन के साथ इनका प्रचार किया जा रहा है।

चम्पराय खरे स्वभाव के हैं। जो मानते हैं, वैसा ही बखानते हैं। बहावलपुर में आर्य थे, आर्यसमाज न था। उन आर्यों ने एक सभा बना रखी थी, जिसका नाम था सत्सङ्गसभा। चम्पतराय ने यत्न किया कि इसका नाम बदल दिया जाए। किन्तु भीरु सत्सङ्गी इस पर सहमत न हो सके। चम्पतराय ने उस सभा को छोड़ दिया और वहाँ 'आर्यसमाज' स्थापित किया; पर्याप्त समय तक उसके प्रधान वे स्वयं रहे।

बहावलपुर के धनी-मानी लोगों में मद्य-पान आदि दूषण-भूषण माने जाते थे, चम्पतराय जी ने अनेक सम्भ्रान्त सज्जनों को इन दूषणों के त्यागने की सफलता-पूर्वक प्रेरणा की। इस प्रकार वैदिक धर्म में दीक्षित होकर चम्पतरायजी मनसा, वपुषा, वचसा वैदिक धर्म के प्रचारक बन गए।

ऐसी परिस्थिति थी, जब कविवर चम्पतराय सादिक़ ने 'दयानन्द-आनन्द-सागर' उर्दू काव्य लिखा। जिसके कारण उन्हें नौकरी छोड़नी पड़ी, रियासत छोड़नी पड़ी। और वे मुलतान गुरुकुल में आ गए। सांसारिक दृष्टि-कोण से, सम्भव है, चमूपति जी (चम्पतराय ने अब चमूपति नाम धारण कर लिया है।) घाटे में रहे हों, किन्तु नैतिक दृष्टि

मे चमूपति जी को लाभ हुआ। चमूपति विस्तृत संसार में आ गए। और खूब नाम पाया, जो कदाचित् बहावलपुर में रहते सम्भव न होता। यहाँ से उनके जीवन का एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

चमूपति-काण्ड आरम्भ करने से पूर्व चम्पतराय-काण्ड की एक घटना हम यहाँ लिखना चाहते हैं, जो चमूपति जी के चरित्र पर प्रकाश डालती है। श्री स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी धर्म-प्रचार के प्रसङ्ग से बहावलपुर रियासत में गए। गाड़ी में उन्हें एक मुसलमान सज्जन मिला। उस सज्जन को जब पता लगा कि स्वामी जी आर्यसमाजी हैं, तो उसने स्वामी जी से पूछा—"क्या आप मेरे उस्ताद महता चम्पतराय जी को जानते हैं, वे अब कहाँ हैं, वे आर्यसमाजी हैं? स्वामी जी ने उत्तर में कहा—"इस समय वह प्रभु की गोद में हैं।" यह सुनकर उस सज्जन का कण्ठ रुद्ध हो गया। नयन सजल हो गए। अत्यन्त दुःखित होकर उसने कहा—"वे अत्यन्त सज्जन थे। बहुत योग्य थे, यदि बहावलपुर रियासत में रहते, तो शिक्षा-विभाग के सबसे बड़े अधिकारी होते। वह मेरे उस्ताद (गुरु) थे। बहुत बड़े ईश्वर-विश्वासी तथा आस्तिक थे। मुझे उनका शिष्य होने का अभिमान है।"

पण्डित चमूपति जी दो वर्ष मुलतान में रह कर आर्य प्रतिनिधि सभा में कार्य करने के लिए लाहौर आ गए। सभा 'दयानन्द-सेवा-सदन' की स्थापना का विचार कर चुकी थी।

चमूपति जी को कण्ठस्थ हैं, उतने स्यात् ही किसी को हों ?' संस्कृत में ऐम० ए० पास थे।

इधर कई वर्षों से पण्डित जी की रुचि प्रभु के अमर काव्य के अनुशीलन में बहुत बढ़ गई थी। इसके कारण उन्होंने कविता करना छोड़-सा दिया था। इस अनुशीलन का फल अच्छा ही रहा। वैदिक मैगज़ीन में उन्होंने यजुर्वेद के पहले १० अध्यायों का अनुवाद प्रकाशित कराया। उसमें अपना नाम वेदप्रिय रखा। गुरुकुल रहते सोम-सरोवर बनाया, जिसमें सामवेद के पवमान-पर्व की व्याख्या है। उसके बाद 'जीवन-ज्योति' चमकाई। यह सामवेद के पहले ११४ मन्त्रों (आग्नेय पर्व) की व्याख्या है।

चमूपति जी ने निम्नलिखित पुस्तकें लिखीं—

उर्दू

(१) दयानन्द-आनन्द-सागर (कविता)
(२) भारत की भेंट (कविता)
(३) हिन्दुस्थान की कहानी
(४) गौ-माता की लोरी (कविता)
(५) मरसिया-ए-गोखले (कविता)
(६) समाज और हम
(७) तालीमी ट्रैक्ट
(८) छू मन्त्र
(९) काकभुसुण्डी का लेक्चर
(१०) जवाहर-जावैद

(११) चौदहवीं का चाँद

(१२) परमात्मा का स्वरूप

(१३) गङ्ग-तरङ्ग (पद्य)

(१४) वैराग्य-शतक का पद्यानुवाद (अप्रकाशित)

(१५) नारा-ए-तौहीद

(१६) मज़हब का मक्सद

(१७) सत्यार्थप्रकाश का उर्दू अनुवाद (१—१० समुल्लास)

हिन्दी

(१) सन्ध्या-रहस्य

(२) हमारे स्वामी

(३) वृक्षों का आत्मा

(४) वैदिक दर्शन

(५) योगेश्वर कृष्ण

(६) सोम-सरोवर

(७) जीवन-ज्योति

(८) देव-यज्ञ

(९) आर्य प्रतिनिधि सभा का इतिहास

(१०) यास्क-युग

अँगरेजी

(1) Ten Commandments of Dayananda.

(2) Glimpses of Dayananda.

(3) Translation of Yajur-Veda (1-10 chapters)

(4) Mahatma Gandhi and the Arya Samaj.

इसके अतिरिक्त सामयिक पत्रों में विविध भाषाओं में, जो लेख उन्होंने लिखे हैं, उनकी संख्या बहुत अधिक है। हिन्दी तथा उर्दू की उनकी सैकड़ों कविताएँ अप्रकाशित पड़ी हैं।

जीवन-ज्योति

मूल-पाठ

१. अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥

२. त्वमग्ने यज्ञानाँ होता विश्वेषां हितः ।
देवेभिर्मानुषे जने ॥

३. अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

४. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥

५. प्रेष्ठं वो अतिथिँ स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ॥
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥

६. त्वन्नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्य अरातेः ।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥

७. एह्यूषु ब्रवाणि तेऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्द्धास इन्दुभिः ॥

८. आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥

९. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥

१०. अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे ।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥

* इति प्रथमा दशतिः *

११. नमस्ते अग्न ओजसे गृणन्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥

१२. दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृंजसे गिरा ॥

१३. उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः ।
वायोरनीके अस्थिरन् ॥

१४. उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ॥
नमो भरन्त एमसि ॥

१५. जराबोध तद्विविड्ढि विशेविशे यज्ञियाय ।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥

१६. प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥

१७. अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः ।
सम्राजं तमध्वराणाम् ॥

१८. और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्निं समुद्रवाससम् ॥

१९. अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥

२०. आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् ।
परो यदिध्यते दिवि ॥

* इति द्वितीया दशतिः *

२१. अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।
अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥

२२. अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यꣳसद्विश्वं न्यत्रिणम् ।
अग्निर्नो वꣳसते रयिम् ॥

२३. अग्ने मृड महाँ असयय आ देवयुं जनम् ।
इयेथ बर्हिरासदम् ॥

२४. अग्ने रक्षा णो अꣳहसः प्रति स्म देव रीषतः ।
तपिष्ठैरजरो दह ॥

२५. अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥

२६. नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम् ।
सुवीरमग्न आहुतः ॥

२७. अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेताꣳसि जिन्वति ॥

२८. इममू षु त्वमस्माकꣳ सनिं गायत्रं नव्याꣳसम् ।
अग्ने देवेषु प्र वोच ः॥

२९. तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥

३०. परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत् ।
दधद्रत्नानि दाशुषे ॥

३१. उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥

३२. कविमग्निमुप स्तुहि सत्यधर्म्माणमध्वरे ।
देवममीवचातनम् ॥

३३. शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये ।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

३४. कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते ।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥

* इति तृतीया दशति *

३५. यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥

३६. पाहि नो अग्न एकया पाह्यु ३ तद्वितीयया ।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥

३७. बृहद्भिरग्ने अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ्य रेवत्पावक दीदिहि ॥३॥

३८. त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः ।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥

३९. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः ।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ॥

४०. अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रꣳ राधो अमर्त्य ।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाँ उषर्बुधः ॥६॥

४१. त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधाꣳसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥

४२. त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः ।
त्वां विप्रासः समिधान दीदिव आ विवासन्ति वेधसः ॥

४३. आ नो अग्ने वयोवृधꣳरयिं पावक शꣳस्यम् ।
रास्वा चन उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीति सुयशस्तरम् ॥

४४. यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम् ।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ।

* इति चतुर्थी दशतिः *

४५. एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥

४६. शेषे वनेषु मातृषु सन्त्वा मर्त्तासः इन्धते ।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥

४७. अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ।
उपोषु जातमार्यस्य वर्द्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥

४८. अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥

४९. अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।
अग्निं राये पुरुमीढ श्रुतं नरो अग्निः सुदीतये छर्दिः ॥

५०. श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः ।
आ सीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥

५१. प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना ।
अनु मातरं पृथिवीं विवावृते तस्थौ नाकस्य शर्म्मणि ॥

५२. अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्द्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥

५३. कायमानो वना त्वं यन्मातृरजगन्नपः ।
न तत्ते अग्ने प्र मृषे निवर्त्तनं यद्दूरे सन्निहा भुवः ॥

५४. नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥

* इति पञ्चमी दशतिः *

५५. देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥

५६. प्रैतु ब्रह्मणस्पते प्र देव्येतु सूनृता ।
अच्छा वीर्य्यं नर्य्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥

५७. ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता ।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्वि ह्वयामहे ॥

५८. प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत् ।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशꣳसिनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥

५९. प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निꣳ सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यꣳ समिदन्य इन्धते ॥

६०. अयमग्निः सुवीर्य्यस्येशे हि सौभगस्य ।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥

६१. त्वमग्ने गृहपतिस्त्वꣳ होता नो अध्वरे ।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्य्यम् ॥

६२. सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्तास ऊतये ।
अपान्नपातꣳ सुभगꣳ सुदꣳ ससꣳ सुप्रतूर्त्तिमनेहसम्

* इति षष्ठी दशतिः *

६३. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं
नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम् ।
इडस्पदे नमसा रातहव्यं
सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥

६४. चित्र इच्छोचिस्तरुणस्य वक्षथो
न यो मातरावन्वेति धातवे ॥
अनूधा यदजीजनदधाचिदा
ववक्षत्सद्यो महि दूत्यं चरन् ॥

६५. इदं त एकं पर उ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व ।
संवेशनस्तन्वे चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥

६६. इमꣳ स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ॥
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सꣳ
सद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥

६७. मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या
वैश्वानरमृत आ जातमग्निम् ।

कविꣳ सम्राजमतिथिं जनाना-
मासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥

६८. वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादु-
क्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्या-
जिं न गिर्वाहो जिग्युरश्वाः ॥

६९. आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रꣳ
होतारꣳ सत्ययजꣳ रोदस्योः ।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धि-
रण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥

७०. इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन ।
नरो हव्येभिरीडते सबाध अग्निरग्रमुषसामशोचि ॥

७१. प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्द्ध ॥

७२. अग्निं नरो दीधितिभिरण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्
दूरेदृशं गृहपतिमथव्युम् ॥

* इति सप्तमी दशतिः *

७३. अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्
यह्वा इव प्रवयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥

७४. प्र भूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम्

७५. शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि ।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु

७६. इडामग्ने पुरुदꣳसꣳ सनिङ्गोः
शश्वत्तमꣳहवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने
सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥

७७. प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्त्ते ।
दधद्यो धायी सु ते वयाꣳसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः॥

७८. प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुꣳसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य ।
इन्द्रस्येव प्र तवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥

७९. अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥

८०. सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न
त्वा रक्षाꣳसि पृतनासु जिग्युः ।
अनुदह सह मूरान् कयादो मा
ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥

* इत्यष्टमी दशतिः *

८१. अग्न ओजिष्ठमा भर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।
प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥

८२. यदि वीरो अनुष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः ।
आ जुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म्म भक्षीत दैव्यम् ॥

८३. त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि संच्छुक्र आततः ।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥

८४. त्वꣳहि क्षैतवद्यशो मित्रो न पत्यसे ।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि ॥

८५. प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्तास इन्धते ॥

८६. यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो ।
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥

८७. विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम् ॥
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥

८८. बृहद्वयो हि भानवेर्चा देवायाग्नये ।
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्त्तासो दधिरे पुरः ॥

८९. अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम् ।
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते ॥

९०. जातः परेण धर्म्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः ।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥

* इति नवमी दशतिः *

९१. सोमं राजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥

९२. इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ॥

९३. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि ।
ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी ॥

९४. दधन्वे वा यदीमनु वोचद् ब्रह्मेति वेरु तत् ।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवाभुवत् ॥

९५. प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि ।
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्य्यम् ॥

९६. त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत ।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥

* इति दशमी दशतिः *

९७. पुरु त्वा दाशिवां वोचेररिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥

९८. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत् ।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥

९९. अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो ।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥

१००. अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवान् देवयते यज ।
होता मन्द्रो विराजस्यति स्रिधः ॥

१०१. जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये ।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥

१०२. उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत् ।
सा शन्ताता मयस्करदप स्रिधः ॥

१०३. ईडिष्वा हि प्रतीव्यां३ यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णु धूममगृभीतशोचिषम् ॥

१०४. न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः ।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥

१०५. अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम् ॥

१०६. श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते ।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥

* इति प्रथमा दशतिः *

१०७. प्र मंꣳहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उप स्तुतासो अग्नये ॥

१०८. प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥

१०९. तं गूर्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे ।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥

११०. मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः ।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥

१११. भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः ।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥

११२. यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

११३. तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा कंचिदत्रिणम् ।
मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥

११४. यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे ।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षाꣳसि सेधति ॥

*** इति द्वितीया दशतिः ***

इति द्वादशः खण्डः ॥

इत्याग्नेयं (पर्व) काण्डम् ।

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

जीवन-ज्योति



* ओम् *

भूमिका

सामवेद के पूर्वार्चिक का प्रथम भाग आग्नेय पर्व है इसमें ११४ मन्त्र हैं, जो १२ दशतियों में विभक्त हैं। इस पर्व के लगभग सभी मन्त्रों का देवता अग्नि है। किसी-किसी मन्त्र का कोई और देवता है परन्तु वह या तो अग्नि का ही विशेष रूप है, यथा सूर्य (३, ११), अथवा अग्नि से संबद्ध कोई अन्य ऐसी शक्ति है जिसके विना अग्नि का काम नहीं चल सकता, जैसे "आपः" (३. १३)। इन्द्र (५. ८), ब्रह्मणस्पति (६. २), यूप (६. ३), सुर (८. ३), विश्वेदेवाः (१०. १), पवमान (११. ५), अदिति (११. ६)। ऐसे देवताओं की संख्या इतनी कम है कि उनके रहते भी पर्व आग्नेय ही रहता है। जैसे हम ऊपर कह आए हैं, इस पर्व के लगभग सभी मन्त्रों में अग्निदेव ही की स्तुति की गई है। प्रस्तुत पुस्तक इस आग्नेय पर्व का अनुशीलन है।

अग्निदेव का स्वरूप—

यह अग्निदेव कौन है? इसका स्वरूप क्या है? यह एक प्रश्न है जो वेद का अध्ययन करनेवालों के सम्मुख बार-बार आता है। मध्यकालीन भाष्यकार अग्नि का अर्थ

यज्ञ की आग समझते हैं। ऐसा समझने के लिए वेद-मन्त्रों में ही काफी आधार विद्यमान हैं। अग्नि के साथ यज्ञ का वर्णन स्थान-स्थान पर आता है। इस आग्नेय पर्व के ही प्रथम खण्ड के दूसरे मन्त्र में कहा गया है—

त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ १. २ ॥

हे (जीवन-याग की) आग! तुझे देवताओं ने मानव जन के भीतर सब यज्ञों का आह्वान देने के लिए आहित—स्थापित किया है।

तीसरे मन्त्र में फिर कहा है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १. ३ ॥

हम देव-दूत अग्नि को अपने संपूर्ण धन-धान्य का उपभोग तथा दान करनेवाला स्वीकार करते हैं। वह विश्वव्यापक है, विश्व का रहस्य जानता है, हमारा सँपूर्ण धन उसी का है। इस यज्ञ का उत्तम संकल्प, उत्तम ज्ञान-लाभ, उत्तम सम्पादन (वही कर सकता है)।

दूसरे खण्ड के दूसरे मन्त्र में आता है—

यजिष्ठमृञ्जसे गिरा। २. २

देवों की सबसे अधिक पूजा करनेवाले, उत्तम दानी, संगतिकरण स्वरूप (तुझ दूत) को स्तुति द्वारा रिझा कर अपने अनुकूल बनाता हूँ।

आगे चलकर छठे मन्त्र में कहते हैं—

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे । २. ६

उस सुन्दर सर्वाङ्गीण यज्ञ के लिए हम तुझे इसलिए बुलाते हैं कि तू दुग्ध-पान कर गायों को सुरक्षित करे—सफल करे।

इस प्रकार के मन्त्र अनेक हैं, परन्तु हमारे अभिप्राय की सिद्धि के लिये ऊपर दिये गए उद्धरण ही पर्याप्त होंगे। अग्नि यज्ञ का देवता तो है ही। वह "होता" है, "सुक्रतु" है, "यजिष्ठ" है, यज्ञ में "गोपीथ" के लिये उसका आवाहन किया जाता है।

यज्ञ का स्वरूप—

अब स्वभावतः प्रश्न यह उठता है कि यज्ञ क्या है? पाणिनि की व्याख्या के अनुसार 'यज' धातु के तीन अर्थ हैं—देव-पूजा, संगति-करण तथा दान। जिस कार्य में यह तीनों अथवा इनमें से कोई एक विशेषता विद्यमान हो, यौगिक दृष्टि से उसे यज्ञ कहा जायगा। वास्तव में ये तीनों क्रियाएँ एक ही क्रिया के भिन्न-भिन्न रूप हैं। सामाजिक क्षेत्र में संगति-करण या तो बड़ों से होगा, या बराबरवालों से या फिर छोटों से। बड़ों की पूजा, बराबरवालों से मेल-जोल और छोटों के प्रति दान-वृत्ति—सामाजिक व्यवहार के शिष्टता-पूर्ण रूप यही तीन ही तो हैं। "यज्ञ" शब्द का अर्थ दूसरे शब्दों में सामाजिक शिष्टता है। इस शिष्टता का

विस्तार जितना अधिक होगा, यज्ञभाव का विस्तार भी उसी अनुपात से उत्तरोत्तर अधिक विशाल होता जायगा। आग्नेय पर्व के तीसरे खण्ड के प्रथम मन्त्र में कहा है—

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् । ३. १

हम बड़े-से-बड़े जन-समुदाय को आगे ले जानेवाले अग्निदेव (की ओर प्रवृत्त होते हैं) जो अहिंसा आदि व्रतों की वृद्धि करनेवाला है।

"अग्नि" शब्द का एक विशेषण "अङ्गिराः" है। इसी तीसरे खण्ड के ६वें मन्त्र में आया है—

तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अंगिरः । ३. ६

हे अंगी-अंगी में रमण कर रही (विश्व-याग-की) आग! वाणी को पवित्र रखनेवाला तुम्हारे उस (तिरोहित) तेज को वाणी द्वारा प्रकाशित करता है।

"अंगिराः" का अर्थ ऋषि दयानन्द इस प्रकार करते हैं—

अंगिभ्यः सुखं राति ददाति सः (यजुः ३४।२२),
अंगेषु रसवद्वर्तमानः (ऋ० ३।३१।७)।

अंगियों को सुख देनेवाला।
अंगों में रस की तरह विद्यमान।

वास्तव में यज्ञ नाम ही, अंग बनकर, किसी अंगी की गोद में रमण करने का है। हमारा शरीर अंगी है और उसके भिन्न-भिन्न अवयव अंग। समाज अंगी है और उसके सदस्य अंग। राष्ट्र अंगी है, और नागरिक सभी उसके अंग। विश्व अंगी है और ग्रह-उपग्रह उसके अंग। अणु-

अणु इस विश्व का अंग है। संपूर्ण संसार मेल ही का खेल है। इसलिए यदि विश्व को यज्ञ ही का परिणाम अथवा स्वयं यज्ञ कह दिया जाय तो उचित ही है। विश्व महा-यज्ञ है; उसमें ग्रह-उपग्रह सब अलग-अलग छोटे-मोटे याग-से हो रहे हैं। इन यागों के प्रत्येक भाग का रूप एक आंशिक याग का है। इस प्रकार अणु से लेकर संपूर्ण विश्व तक यज्ञों की एक परम्परा-सी चल रही है। प्रत्येक अणु अपने आप में एक संस्थान है। संस्थान नाम ही मेल का है—संगतिकरण का। अणु-गत संस्थान अणु-भर याग है तो विश्व-व्यापक संस्थान विश्व-व्यापक याग।

विश्व-याग की आग—

आश्चर्य की बात यह है कि इन भौतिक संस्थानों में संयोग का कारण ताप है जिसे अंग्रेज़ी में हीट (Heat) कहते हैं। वेद में इस शक्ति का नाम अग्नि है। इस आग्नेय पर्व ही के प्रथम खण्ड के तीसरे ही मन्त्र में अग्नि के लिए कहा है—

विश्ववेदसम्। १. ३

अर्थात्, विश्व में विद्यमान या विश्व-वेत्ता अथवा विश्व का धनी।

'विश्व-वेदाः' अग्नि विश्व-याग की आग के सिवाय और क्या हो सकती है? यह आग विद्युत् के रूप में सर्वत्र विद्यमान है। संसार के किसी भी पदार्थ को ज़रा ज़ोर से

रगड़ दो, झट बिजली प्रकट हो जाती है। और तो और, पानी की बूँदों तक में यह आग मौजूद है। जहाँ भी इन बूँदों में संघर्ष हुआ, वहीं विद्युत् उत्पन्न हो गई। निरुक्त में दो समुद्रों की सत्ता का वर्णन किया गया है—एक अन्तरिक्ष में बादलों के रूप में विद्यमान, दूसरा पृथिवी ही की गोद में लहरा रहा वीचि-माली। २. ८ में इन दोनों समुद्रों की ओर संकेत किया गया है—

और्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे।
अग्निं समुद्रवाससम्॥ २. ८

मैं हृदय-समुद्र में बस रही पवित्र यज्ञाग्नि का इस प्रकार आवाहन करता हूँ जैसे पृथिवी की उपज को पका रहा किसान आकाश-समुद्र को आच्छादित कर रही चमकीली विद्युत् अग्नि को या जैसे उद्योग-धन्धे के ताने-बाने में लगा शिल्पी समुद्र में बस रही जलाने-तपानेवाली बिजली को।

५. ८ में फिर कहा है—

अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि। ५. ८

चाहे पृथिवी से चाहे द्युलोक के महान् प्रकाश से प्रादुर्भूत हो।

७. ६ में भी यही बात आई है—

अपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ७. ६

तरंगों की गोदी में इस महान् तत्व की वृद्धि ही हुई।

जीवन-यज्ञ—

फिर ४. १ में कहा है—

प्र प्रवयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ।

हम मरण-रहित जीवन अग्नि की हमारे मित्र की तरह बार-बार प्रशंसा करते हैं।

४. ८ में कहते हैं—

जाता सुक्रतो पृण । ४. ८

हे मंगल-संकल्प ! सम्पूर्ण जीव-जात की न्यूनतायें पूरी कर ।

५. १ में इस अग्नि को "चेतिष्ठ" कहा है अर्थात् खूब चेतन। ८. ५ में इस आग का नाम "तनूपाः" आया है अर्थात् शरीर की रक्षा करनेवाला ।

यह अग्नि स्पष्ट जीवन-अग्नि है जिसे अंग्रेज़ी में वाइटल हीट (Vital heat) कहते हैं। इसके द्वारा जीवन-याग का संपादन हो रहा है। प्रत्येक सजीव शरीर में इस आग का चमत्कार दृष्टि-गोचर हो रहा है। अंग और अंगी की पूरी भावना सजीव पिण्डों ही में मिलती है। ये पिण्ड भी उन्हीं भौतिक घटकों ही से हैं, परन्तु इसका मेल रासायनिक संयोग से भी कहीं अधिक आश्चर्य-जनक है। भिन्न-भिन्न अवयवों में किस प्रकार अभेद का भाव आ गया है! हाथ पैर से, आँख कान से, जड़ कोंपल से, तना शाखा से, शाखा फूल से, कैसे एकीभूत हो रही है—यह देखने ही की

वस्तु है। यही यज्ञ-भाव है। इस यज्ञ-भाव का फल शरीर का वह सुन्दर स्वाभाविक विकास है जो केवल सजीव शरीरों ही में दृष्टि-गोचर होता है। बीज वृक्ष बन रहा है। वीर्य बालक, बालक युवा। इसका कारण वह जीवन-अग्नि है जो प्रत्येक सजीव शरीर में प्रत्यक्ष ताप के रूप में उसके जीते-दम तक विद्यमान रहती है। शरीर मरते ही ठंडा पड़ जाता है। यों तो निर्जीव शरीरों में भी भौतिक विद्युत् का संचार होता रहता है, परन्तु वैज्ञानिकों का कहना है कि जीवन जीवन ही से पैदा होता है। जड़ घटकों के मिला देने से चेतन पिण्ड पैदा नहीं हो सकता। मनुष्य की शक्ल का पुतला तो कृत्रिम हाड़-मांस से भी निर्मित हो सकता है, उसमें जीवन की कोई चेष्टा पैदा नहीं होती, नहीं होगी। मनुष्य मनुष्य ही की सन्तान है, पशु पशु ही की। यही अवस्था पौधों की है। जीवन-याग की आग भौतिक शक्तियों को साधन-रूप में प्रयोग कर अपना काम चला रही है। १. २ में इसी आग को इन शब्दों में संबोधित किया गया है—

त्वमग्ने यज्ञानाᳪं होता विश्वेषाᳪं हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ १. २

हे (जीवन-याग की) आग! तुझे देवताओं ने मानवजन के भीतर सब यज्ञों का आह्वान देने के लिये आहित—स्थापित किया है।

५. १० में इसे—

ज्योतिर्जनाय शश्वते ।

हमेशा रहनेवाले मनुष्य के लिये ज्योति

कहा गया है। जीवन-ज्योति वास्तव में "शश्वत्" ज्योति है। सन्तान के रूप में प्रकट हो यह ज्योति आगे-आगे चलती जाती है। यह आग अजर है, अमर है।

३.४ में आया है—

तपिष्ठैरजरो दह ।

तुम जरा-रहित हो—जीर्ण-शीर्ण नहीं होते। अपने अत्यन्त ताप-जनक प्रभावों द्वारा विनाशक शक्ति को जला-जला कर राख कर दीजिये।

२.२ तथा ६.५ में इसे अमर्त्य अर्थात् मरण-रहित कहा गया है। शरीर मर जाए, परन्तु सन्तान पैदा हो जाने से जीवन-ज्योति फिर भी जलती रहती है। जीवन नित्य है।

गृहाग्नि—

संभवतः इसी भाव को लक्ष्य में रख कर अग्नि को गृहपति कहा गया है। शास्त्रों में गार्हपत्य अग्नि का यत्र-यत्र उल्लेख किया गया है। यह अग्नि आर्यों के गार्हस्थ्य जीवन का बीज है। विवाह के समय इसकी स्थापना होती है और वानप्रस्थ होने तक इसे प्रज्वलित रखा जाता है। वैदिक आदर्श के अनुसार गृहस्थ-आश्रम एक यज्ञ है। इसमें पति-पत्नी का मेल होकर सन्तान पैदा की जाती है। ४.५ में आता है—

अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः। ४. ५

हे घर के मालिक! तुम घर से बाहिर न जाते हुए पूज्य हो। तुमने घर-बार की इच्छा कर द्यु-लोक को सुरक्षित कर लिया है।

६. ७ में कहा है—

त्वमग्ने गृहपतिः। ६. ७

हे अग्नि-देव! तुम हमारे घरों के स्वामी हो।

७. १ में—

निहोतारं गृहपतिं दधिध्वम्। ७. १

यज्ञाग्नि को गृहपति-रूप में भली प्रकार स्थापित करो।

गृहस्थ-आश्रम ही समाज की बुनियाद है। मनुष्य अकेले से दुकेला इसी आश्रम के कारण होता है। पहिले तो पति-पत्नी ही अपने पारस्परिक भेद को गार्हपत्य अग्नि की भेंट कर देते हैं। फिर सन्तान को माता-पिता का संयुक्त "आत्मा"—अर्थात् अपना आप—अभिन्न रूप कहा गया है। भाई-बहिन, सगे-सम्बन्धी एक ही मूल के विकसित तने हैं। जो निष्काम प्यार एक कुटुम्ब के सदस्यों में पाया जाता है, उसी का विकास समाज में, राष्ट्र में, विश्व-भर में कर सकना ही तो समाज-शास्त्र का उद्देश्य है। विश्व-व्यापक साम्राज्य का आदर्श एक हँसता-खेलता घर ही तो है। १२. ८ में कहा है—

यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति॥ १२. ८

यह जो मनुष्य के घर में प्रजाओं का पालन करनेवाला, खूब प्रसन्न हुआ हुआ मानो सान पर चढ़ कर पैंना हो चुका हो, वह अग्नि-देव सभी राक्षसों का नाश कर उनको उनके विपरीत रूप में पुनरुज्जीवित कर देता है।

मानसिक विकास का यज्ञ—

मानव जीवन केवल भौतिक वृद्धि ही का नाम नहीं है। खाया, पीया, बढ़े, फले, फूले—इतने में ही मानव यज्ञ की इतिश्री नहीं हो जाती। मानव-जीवन की विशेषता उसका मानसिक विकास है। मनुष्य मनन-शील प्राणी है। यह सोचता है, विचारता है। अपने भौतिक जीवन को सुख-मय बना पृथिवी पर, समुद्र में तथा आकाश की चोटियों पर विचरता है। भौतिक वायुयानों से सन्तुष्ट न होकर यह कल्पना के घोड़े पर सवार हो जाता है। इन उड़ानों का परिणाम कला है, साहित्य है, काव्य है, संगीत है। ये सब आविष्कार मानव-जाति के सम्मिलित उद्योग ही के फल हैं। व्यक्ति व्यक्ति से, जाति जाति से, देश देश से मिलकर सम्मिलित विचार कर रहा है। यह विश्व-व्यापी याग भौतिक नहीं; आध्यात्मिक दुनिया में हो रहा है। इसी याग की आग को वेद में—

वैश्वानरमृत आजातमग्निम् ।७. ५

'ऋत में प्रकट हुआ सर्वजन न अग्निदेव' कहा गया है।

निम्नलिखित मन्त्रों में स्पष्ट मानसिक याग का वर्णन हुआ है—

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥ २. ४

हे अग्नि-देव! हम प्रतिदिन दिनरात ज्ञान, कर्म तथा ध्यान को साधन बना कर अपनी सम्पूर्ण (अन्न) सम्पत्ति, (नमस्कार) विनम्र भक्ति तथा (वज्र) शासन शक्ति की भेंट लिये हुए तुम्हारे समीप आ रहे हैं।

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥ २. ६

अग्नि को प्रदीप्त करते हुए मनुष्य मन से इस प्रकार का ध्यान करे कि भाँति-भाँति की जीवन-ज्योतियों से मैं यज्ञाग्नि को ही प्रकाशित कर रहा हूँ।

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते ।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥५. १०

हे अग्नि-देव! तुम हमेशा रहनेवाले मनुष्य के लिये ज्योति हो। तुम्हें आरम्भ से ही पूर्वजों ने निदिध्यासन कर (अपने हृदय मन्दिर में) स्थापित किया है। कर्म की कृषि करनेवाले मनुष्य जिसको अपनी विनम्रता, वीरता तथा धन-धान्य की भेंट देते हैं, वे तुम यज्ञ द्वारा प्रकट तथा स्नेह-रस से अभिषिक्त होकर मुझ मेधावी यजमान में प्रज्वलित हुए हो।

ओजः-स्वरूप —

मानसिक अग्नि के रूप असंख्य हैं। मानव-जीवन का जितना भी मानसिक व्यापार है, वह सब अग्नि-रूप है।

वेद में ओजस्विता को विशेष रूप से अग्नि का चमत्कार समझा गया है। कहा ही तो है—

नमस्ते अग्न ओजसे । २. १

हे अग्नि-देव ! तुझ ओजः स्वरूप को नमस्कार है।

अतन्द्रो हव्यं वहसि । ५. २

तुम बिना आलस्य के झटपट आहुति ले लेते हो।

अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ५. ५

अग्नि-देव की ज्योति प्रसुप्त है। उसकी गाथायें—गा-गाकर स्तुति कर—जिससे वह तेरी ओट बने।

अपां नपातं सुभगं सुदंससं सुप्रतूर्तिमनेहसम् ॥ ६. ८

अनवरत कर्म का, सौभाग्य-सम्पन्न उत्तम पुरुषार्थ का, निष्पाप सुन्दर तरण-कला का—(आवाहन करते हैं)।

अग्न ओजिष्ठमाभर द्युम्नमस्मभ्यम् । ६. १

हे अग्नि-देव ! हमारे लिये अत्यन्त ओज-भरा तेज लाइये।

भाषा से अग्नि की उत्पत्ति—

मानव-जाति के मानसिक विकास का एक विशेष साधन भाषा है। यह वह शक्ति है जो केवल वर्तमान व्यक्तियों तथा जातियों ही को नहीं, किन्तु एक पीढ़ी को दूसरी पीढ़ियों से, एक शताब्दी को दूसरी शताब्दियों से, एक युग को दूसरे युगों से—संभवतः एक सर्ग को दूसरे सर्गों से मिला रही है। भाषा ने लेख का, मुद्रण का, वाणी-वाहन

(Telephone) का, वाणी-रक्षण (Phonograph) का, वाणी-विकिरण (Broadcast) का रूप धारण कर वास्तव में एक चमत्कार-युक्त यज्ञ को जन्म दिया है। इस यज्ञ का कीर्तन वेद में अनेक स्थानों पर हुआ है। ३. ६ में ही कहा है—

तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अंगिरः । ३. ६

हे अंगी-अंगी में रमण कर रही (विश्व याग की) आग! वाणी को पवित्र रखनेवाला तुम्हारे उस (तिरोहित) तेज को वाणी द्वारा प्रकाशित कर रहा है।

२. २ में कहा है—

यजिष्ठमृञ्जसे गिरा । २. २

मैं देवों की सब से अधिक पूजा करनेवाले, उत्तम दानी, संगति-करण स्वरूप तुझ (देवदूत) को वाणी द्वारा रिझा कर अपने अनुकूल बनाता हूँ।

कवि—

वाणी से अग्नि की उत्पत्ति, संस्कृति की अमर आग का निर्माण ही तो है। कला-साहित्य तथा काव्य वाणी ही के विविध रूप हैं। कलाकार सभी कवि होते हैं। उनकी कल्पना की उड़ान अपरिमेय है। इस कवित्व का कारण वही अग्नि-देव है। जो यज्ञ भावना के रूप में इन अमर काव्य-निर्माताओं के हृदय में विद्यामन है। वास्तविक कवि वही अग्नि-देव है। ३. १२ में आया है—

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे । ३. १२

सत्यधर्मा-क्रान्तदर्शी अग्नि-देव की, अहिंसादि व्रतरूपी यज्ञ में, पास जाकर स्तुति कर।

४. ८ में कहा है—

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः। ४. ८

हे त्राण-कर्त्ता अग्नि-देव! तुम्हीं व्यापक क्रान्तदर्शी ऋत—स्वरूप हो।

साम्राज्य—

संस्कृति का यह यज्ञ सार्वभौम है। इसी बात को लक्ष्य में रखकर अग्नि को सम्राट् कहा गया है। वैदिक साम्राज्य की कल्पना इसी आधार पर की गई प्रतीत होती है कि मानव जाति का सांस्कृतिक विकास सब राष्ट्रों के सहयोग से ही हो सकता है। राष्ट्र अध्वर है अर्थात् यज्ञ। अग्नि को

सम्राजं तमध्वराणाम्। २. ७

हिंसा के मिटानेवाले (राष्ट्र-) यज्ञों का जाज्वल्यमान सम्राट्

कहा गया है। ३।१ में साम्राज्य को

अग्निं वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम्॥ ३. १

बड़े से बड़े जन समूहों को आगे ले जानेवाला और अहिंसादि व्रतों की वृद्धि करनेवाला

कहा गया है।

सम्राट् इस साम्राज्य-यज्ञ का अधिपति होगा। वह ऐसा मनुष्य होना चाहिए जिसमें यज्ञ की भावना पूर्णतया पूरी हो चुकी हो। वेद के शब्दों में उस पुरुष को सबसे

पूर्व अपनी आहुति देनी चाहिए। ३. ६ में यह भाव बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित हुआ है—

नि त्वा नच्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।

सुवीरमग्न आहुत ॥ ३. ६

हे प्राप्त करने योग्य विश्व-याग की आग बन चुके, अग्रणी, प्रजाओं के पालक! हम तुझ द्युलोकवाले को (अपने यज्ञ का अगुआ) निश्चित करते हैं।

अग्नि अग्रणी है, अर्थात् यज्ञ में अगुआ। इसलिए उसे सबसे पहिले आहुत होना चाहिए। तभी वह "विश्पते" अर्थात् प्रजाओं का रक्षक—सम्राट्—हो सकता है।

३. ७ में उसे—

पतिः पृथिव्या अयम्। ३. ७

पृथिवी का पति

कहा गया है।

३. १० में उसे "वाजपतिः" कहा है।

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्।

दधद्रत्नानि दाशुषे ॥ ३. १०

अन्न, बल तथा ज्ञान के पालक क्रान्तदर्शी साम्राज्य यज्ञ के नेता ने हव्य-दान देनेवाले को रमणीय रत्न देते देते उसकी आहुतियों को चारों ओर से घेर लिया है।

"वाज" का अर्थ अन्न, बल तथा ज्ञान है। साम्राज्य की स्थापना का उद्देश इन तीनों की वृद्धि है। सम्राट् वही पुरुष होगा जो इस वृद्धि का पथ-प्रदर्शक हो सके। उसी को

अग्नि अर्थात् अग्रणी कहा जाएगा। ४.५ में उसका एक और कर्तव्य भी बताया है—

अग्ने जरितर्विश्पतिः तपानो देव रक्षसः। ४.५

हे! आत्म समर्पण करनेवाले! तुम प्रजाओं के पालक हो। हे देव! तुम राक्षसों के तपानेवाले हो।

अत्याचारियों का दमन भी विश्पति का धर्म है।

राक्षसों का स्वरूप—

हमने यहां 'रक्षः' का अर्थ अत्याचारी कर दिया है। अग्नि को अनेक स्थलों पर राक्षस, वृत्र, यातुधान आदि का शत्रु कहा गया है। ये राक्षस आदि क्या हैं?—इस बात का निश्चय उन सब प्रकरणों को एक साथ पढ़ जाने से होना संभव है जिनमें इस प्रकार के वर्णन पाए जाते हैं। हम कतिपय उदाहरण देकर इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे कि अग्नि के विरोधी कौन हैं? इससे राक्षस आदि का स्वरूप समझने में सुगमता होगी।

१.६ में कहा है—

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः।
उत द्विषो मर्त्यस्य॥ १.६

हे यज्ञ-याग की आग! तू हमें यज्ञात्मक महात्मता द्वारा मरणोन्मुख मनुष्य के (चिह्न स्वरूप) सब प्रकार की कृपणता और द्वेष से सुरक्षित कर।

३.४ में कहा है—

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रतिस्म देव रीषतः ।

तपिष्ठैरजरो दह ॥ ३. ४

हे अग्नि-देव ! पाप तथा रोग से हमारी रक्षा कीजिये। तुम जरा-रहित हो—जीर्ण-शीर्ण नहीं होते। अपने अत्यन्त ताप-जनक प्रभावों द्वारा विनाशक शक्तियों को जला जला कर राख कीजिये।

देवममीवचातनम् । ३. १२

देव रोगों का नाश करनेवाला है।

'अप त्यं वृजिनं रिपुं स्तेनमग्ने दुराध्यम् ।

दविष्ठमस्य क्रुधी सुगम् ॥ ११. ६

हे सचाई के रक्षक अग्नि-देव ! उस कुटिल शत्रुता-शील दुष्ट चोर को दूर से दूर फैंक कर अपने निकट कर लीजिये।

तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा कंचिदत्रिणम् ।

मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥ १२. ७

हे अग्निदेव ! हममें वह तेज पैदा कर जो किसी पेटू राक्षस को दबा चुका है—जैसे मनुष्य के पाप-संकल्प क्रोध को।

यहाँ "अत्री" दुर्धी मन्यु ही है। इससे ऊपर भी अग्नि देव से पाप, द्वेष, रोग इत्यादि के नाश की प्रार्थना की गई है। यही भाव राक्षस-भाव हैं। जिन मनुष्यों ने अपने आपको इन भावों का मूर्त रूप-सा बना लिया है, वे भी राक्षस तथा वृत्र आदि हैं। ऊपर ३. ४ में "रीषतः" अर्थात् हिंसकों को "दह"—जला डाल—कहा गया था। ११. १० में "रक्षसो दह"—ऐसा पाठ मिलता है। इससे स्पष्ट है कि

राक्षस और हिंसक पर्याय हैं। संपूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥ ११. १०

हे प्रजाओं के पालक! हे शत्रु-संहारक! अग्नि-देव! मेरी नई स्तुति को सुनकर मेरी मायावी राक्षस-प्रवृत्तियों को तप के तेज से भस्म कर दीजिये।

सदाचार—

मायावी लोगों का दमन सत्य की रक्षा ही के लिए किया जाता है। यज्ञ की संस्था की स्थापना ही सदाचार की सहायता के लिए हुई है। ३. १२ में कहा है—

अग्निमुप स्तुहि सत्यधर्माणम्। ३. १२

सत्यधर्मा अग्नि-देव की, पास जाकर स्तुति कर।

५. ३ में आया है—

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन् व्रतान्यादधुः ॥५. ३

हमें उस उत्तम पथ-प्रदर्शक के दर्शन हुए, जिसके सम्मुख व्रती जन व्रत धारण करते हैं।

इसी ५. ३ में ही अग्नि को—

आर्यस्य वर्धनम् ५. ३

आर्यजन को बढ़ानेवाला

कहा गया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि अग्नि-देव सदाचार का केवल सहायक ही नहीं, किन्तु आधार-स्तंभ है। वास्तव में सदाचार ही यज्ञ है। धार्मिक पुरुषों की प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग में यह धारणा रही है कि संसार

शील के सहारे ही से कायम है। महाभारत में विदुर के स्वभाव की प्रशंसा करते हुए कुन्ती कहती है—

तस्य कृष्ण महाबुद्धेर्गम्भीरस्य महात्मनः।
वृत्तुः शीलमलङ्कारो लोकान् विष्टभ्य तिष्ठति॥
उद्योग पर्व ८९, ५५

हे कृष्ण! उस महाबुद्धि, गम्भीर-स्वभाव महात्मा विदुर का, सदाचार ही अलङ्कार है। जिस सदाचार के सहारे सारे लोक स्थित हैं।

आध्यात्मिक अग्नि—

मनुष्यों के आचार ने किस प्रकार इस सारे संसार को सहारा दे रखा है—यह एक पहेली है जिसे न दर्शन बुझाता है न विज्ञान। इस तत्त्व का साक्षात्कार योगी लोग करते हैं। उनकी परिभाषा में विश्व के ये आधार-भूत सूत्र "धर्म" कहाते हैं। धर्म का अर्थ ही है आधार। संपूर्ण सामाजिक जीवन धर्म के इन सूत्रों के आधार पर चलता है। ऋषियों का कहना है कि भौतिक जगत् के आधार-भूत भी यही नियम हैं। ऋषि नियमों का दर्शन करते हैं। योग-दर्शन संभवतः इन्हीं नियमों को ऋत कहता है। ऋत का अर्थ है यज्ञ। विश्व यज्ञ के ही सहारे स्थित है। यही वह आध्यात्मिक सत्य है जिसका साक्षात्कार कर सिद्ध पुरुष ऋषि बन जाता है। इस ऋत का देवता अग्नि है। ऋषि इस देवता को प्रत्यक्ष देख लेता है। यही उसकी समाधि है। ५.४ में अग्नि को—

ब्रह्मणस्पते । ५.४

हे विश्व याग के रक्षक, वेद-वाणी के पति परमात्मदेव! कह कर संबोधन किया है। ६.२ में कहा है—

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्रदेव्येतु सूनृता ।

अच्छा वीरं नर्यं पंक्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥६.२

वेद का, ब्रह्माण्ड का, ब्राह्मण का रक्षक हमें प्राप्त हो, रसीली सत्यस्वरूप दिव्य वाणी हमें प्राप्त हो। देवगण हमें, पंक्तियों से समृद्ध मानव-मात्र के लिये हितकारी, वीरतापूर्ण यज्ञ की ओर ले जायें।

आध्यात्मिक अग्नि ज्योतिःस्वरूप है। अनुभवियों के कथनानुसार यह ज्योति ऐसी उज्ज्वल है कि भौतिक ज्योति इसके सम्मुख धुआँ-सी है। वेद के शब्दों में द्युलोक का प्रकाश इस आध्यात्मिक प्रकाश का धुआँ है।

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि संछुक्र आततः ।

सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ९.३

हे अग्नि-देव! तुम्हारी ज्योति का धुआँ व्यापक प्रकाश बन कर द्युलोक में गतिकर रहा है। हे पवित्र करनेवाले अग्नि-देव! तुम अपनी कृपा से इस प्रकार शोभायमान हो रहे हो जैसे सूर्य अपने प्रकाश से।

११.७ में इस आध्यात्मिक प्रकाश को

चरिष्णु धूममगृभीतशोचिषम् । ११.७

जिसका धुआँ गति करता है और जिसकी ज्योति ग्रहण का विषय नहीं है ऐसा

कहा गया है। संसार गति ही का आगार है। इसमें जो भी पदार्थ है। हिल रहा है, चल रहा है। भौतिक ज्योतियों का यह निरन्तर चल रहा जलूस उस आध्यात्मिक ज्योति का धुआँ है। धुआँ चल रहा है। उसकी गति इस बात का प्रमाण है कि उसकी ओट में आग विद्यमान है। ज्योति अगृहीत है। आग ग्रहण में नहीं आती। आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के करणों से छूट-छूट जाती है। इस ज्योति का प्रत्यक्ष तर्क की भूमिका से ऊपर उठ कर श्रद्धा के ऊँचे-से-ऊँचे शिखर से होना है। ६. १० में ऋषि की इस अनुभूति का वर्णन बड़े सुन्दर शब्दों में हुआ है—

जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्धिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः॥६. १०

यह जो तू साथियों में आ मिला है, यह परम धर्म द्वारा तेरा जन्म हुआ है। इस परम धर्म का स्वरूप यह है कि तत्त्व-दर्शी ऋषि का पिता अग्नि-देव होता है, माता श्रद्धा होती है और उसका मन क्रान्तदर्शी हो जाता है।

१. ८ में इस योगी को बाल-बुद्धि भक्त का रूप दिया गया है—

प्र ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित् सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामये गिरा॥ १. ८

मैं बालबुद्धि होकर ऊँची-से-ऊँची योग-भूमि अर्थात् समाधि-स्थान से तुम्हारे मन को इस उद्गार द्वारा अपने वश

में करता हूँ— हे मेरे आगे-आगे भाग रही अग्नी ! मैं तुम्हें चाहता हूँ।

१. ६ में स्पष्ट कहा है कि श्रद्धा की यह भूमिका मस्तिष्क रूपी कमल से ऊपर है। कमला कमल पर पैर रख कर विहार करती है। कहा है—

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ १. ६ ॥

हे हमें आगे ही आगे ले जा रही आग ! तुझे स्थित-प्रज्ञ योगी ने विश्व के धारण करनेवाले मूर्धा-रूप कमल से ऊपर उठा कर संघर्ष द्वारा प्रकाशित किया है।

तर्क-वितर्क की विनोद-जनक लीला के पश्चात् श्रद्धा के इस ऊँचे शिखर पर पहुँच कर मनुष्य देव बन जाता है। आध्यात्मिक द्युलोक यही है। १०. २ में इस तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है—

इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन् ।
प्र भूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ १०. २

ये देवता इस लोक से ऊपर चढ़े। द्युलोक की भूमिकाओं पर चढ़ गये जिस रास्ते से अङ्गियों में रमण करनेवाले यज्ञाग्नि प्रदीप्त कर द्युलोक को प्राप्त हो गये।

इस मन्त्र से पूर्व १०. १ में सोम, वरुण, अग्नि आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पति का वर्णन हो चुका है। इस मन्त्र में प्रयुक्त "एते" शब्द का संकेत इन्हीं देवताओं की ओर है। ये देवता आरम्भ में पार्थिव मनुष्य

ही होते हैं। यज्ञ-भाव से जीवन व्यतीत करने के फल-स्वरूप इनका आरोहण द्युलोक में हो जाता है। इसी से ये मनुष्य देव बन जाते हैं। यहाँ द्युलोक का अर्थ इन मनुष्यों की दिव्य अवस्था ही प्रतीत होती है। यास्क ने "अदिति" को "अदीना देव-माता" कहा है। देव अदिति-युक्त ही होंगे। इस अदिति के सम्बन्ध में वेद का आदेश निम्नलिखित है—

उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्यागमत्। ११.६

वह विचलित न होनेवाली मति अपनी रक्षा-शक्ति सहित दिन के प्रकाश में भी हमें उपलब्ध हो।

यहाँ अदिति अविचलित मति ही का नाम है। देवता इस मति की सन्तान हैं। जिन मनुष्यों ने यह मति धारण कर ली, वे अदिति-पुत्र हो गये। मनुष्य से देवता बनने का रास्ता यज्ञ-वृत्ति की ध्रुव धारणा ही है। गीता में यज्ञ-भाव की बड़ी सुन्दर व्याख्या हुई है। फल की आकांक्षा छोड़कर विशुद्ध कर्तव्य बुद्धि से सत्कर्म करना यज्ञ है। कर्म कुशलता-पूर्वक करना, परन्तु उसका कर्तृत्व अपना नहीं, ब्रह्म ही का समझना—यही गीतोक्त याग है। इस उपदेश की पराकाष्ठा इस श्लोक में हुई है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥ गीता

ब्रह्माग्नि में ब्रह्म द्वारा डाली हुई ब्रह्महवि ब्रह्म ही के अर्पण

होती है। इस प्रकार ब्रह्मकर्म में समाहित होकर ब्रह्म ही प्राप्त करना चाहिये।

वेद में यह भाव असन्दिग्ध और फिर अत्यन्त हृदयङ्गम रूप से प्रतिपादित किया गया है। १०. ३ में कहा है—

राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।

ईडिष्वा हि महे वृषन् द्यावा होत्राय पृथिवी॥ १०. ३

हे अग्नि-देव! महान् रमणीय दान के लिये हम तुम्हें प्रदीप्त करते हैं। हे दान की वृष्टि करनेवाले! महान् यज्ञ के लिए तुम द्युलोक तथा पृथिवी की प्रशंसा करो ही।

१०. ४ में इस दान को ब्रह्म ही के अर्पण कर दिया है—

दधन्वे वा यदीमनुवोचद् ब्रह्मेति वेरु तत्। १०. ४

जिस भी कार्य को मनुष्य संपादित करे, उसके पश्चात् कह दे—यह ब्रह्म की कृति है। वह वास्तव में उस यज्ञ के तत्त्व को जानता है।

ज्ञानी का यह लक्षण पीछे के शास्त्रों में भी किया गया है। साधारणतया इस निष्काम कर्म की शिक्षा का श्रेय गीताकार को दिया जाता है। सामान्य-जनों में यह विश्वास खूब प्रचलित है कि शुरू-शुरू में यज्ञ पशु-हिंसा ही का नाम था। उपनिषदों ने इस कर्म-वाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई। उन्होंने ज्ञान को प्रधानता दी। गीता ने इन दोनों मार्गों का समन्वय किया। ज्ञान जिस धर्म का आत्मा था, कर्म उसका शरीर हो गया। यज्ञ का अर्थ ही कर दिया गया—निष्काम कर्म। आग्नेय पर्व सारे-का-सारा अग्नि-देव ही के

अर्पण हुआ है। अग्नि-देव यज्ञ का देवता है। दूसरे शब्दों में यह पर्व यज्ञ-याग ही का विधायक है। परन्तु पाठकों को अध्ययन के पश्चात् स्वयं ज्ञात हो जायगा कि इस पर्व में पशु-हिंसा तो क्या, पशु तक का भी नाम नहीं आया। यज्ञ में घृत, स्रुवा, समिधा, बर्हि, ग्रावा आदि ही का नाम आता है। इससे प्रतीत होता है कि वैदिक कर्म-काण्ड में इन हिंसा-रहित पदार्थों ही का स्थान है। यह कर्म-काण्ड केवल उपलक्षण है। यज्ञ-याग का सार-भूत उद्देश्य दान-वृत्ति का जगाना है। दान करना, परन्तु उसमें भावना दान की नहीं, अदन की—उपभोग की रखना—यही यज्ञ है। ४.६ में अग्नि को "उपमाति" अर्थात् उपमान—आदर्श—कहा गया है। आग्नेय पर्व का पहिला ही मन्त्र है—

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥ १.१

हे (विश्व-याग की) आग! भोग करने—हवि देने के लिये उपदेश देती हुई आजा। (मेरे शरीर के) तिनकों में (देवताओं को) पुकारती हुई विराज—प्रकट हो!

यहाँ अग्नि को उपदेश के लिए बुलाया गया है। उपदेश है "वीति" अर्थात् उपभोग का और "हव्य दाति" अर्थात् आहुति देने का, इन दो में 'च' (और) का प्रयोग न कर संभवतः शिक्षा यह भी दी गई है कि अग्नि-देव का उपभोग और हव्य-दान एक है। हवन का अर्थ दान भी है, अदन भी। अग्नि-देव खाता है इसलिए कि अपनी खाई हुई आहुति का

सार दूसरे देवताओं के मुख में डाल दे। कृष्ण भगवान् कहते हैं—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरूष्व मदर्पणम्॥ गीता

हे अर्जुन! तू जो करता है, जो खाता है, जो आहुति देता है, जो दान देता है और जो तपस्या करता है वह मेरे अर्पण कर दे।

यही भावना यज्ञ की है। वैदिक यज्ञ-याग का उद्देश्य इसी भावना को जागृत करना है। कोई गृहस्थ बन कर इस भावना को व्यवहार में ला रहा है, कोई राज्य के सिंहासन से इस मनोवृत्ति को क्रियात्मक रूप दे रहा है। कोई संन्यासी बन कर द्वार-द्वार पर यह अलख जगा रहा है। ये सब रूप अग्नि-देव के हैं। वे नर-नारी अग्नि-देव ही के मूर्त रूप हैं जो स्वयं "आहुत" होकर इस आत्माहुति द्वारा दूसरों को भी आहुति देने की प्रेरणा कर रहे हैं। यज्ञ-सम्बन्धी धन का नाम "रयि" है। अग्नि द्वारा दिया गया धन "रयि" कहलाता है। "रयि" की व्युत्पत्ति "रा" धातु से भी होती है, "रमु" से भी। "रा" का अर्थ है दान, "रमु" का अर्थ है क्रीडा। जो धन दान दिया जाता है, जिसके साथ यजमान खेलता है, वह रयि है। अग्नि द्वारा धन के दान का अर्थ ही है इस दान अथवा क्रीडा की वृत्ति का दान। धन धनवाले के हाथ आता ही तभी है जब इसका उपयोग यज्ञ में अर्थात् निष्काम दान में किया जाए।

अग्नि से धन की प्रार्थना क्या की है ? अपना सर्वस्व उसकी भेंट कर दिया है। यह देवता है ही ऐसा जिसकी भाषा में लेना-देना पर्याय हैं। हमने कहा—दे। उसने ले लिया और कहा—दे दिया है। अग्नि की दान-लीला कुछ ऐसी ही है। यजमान इसी लीला से निहाल है, गद्गद हो रहा है।

इस प्रकार के लीला-प्रिय धन के अतिरिक्त यजमान अपने इष्ट-देव से सन्तान की कामना भी करता है। यज्ञ-याग के साथ सन्तान की कामना लगी हुई है। यज्ञ-याग गृहस्थाश्रम का विशेष कर्तव्य समझा जाता है। संन्यासी को निरग्नि कहते हैं, जिसका अर्थ है अग्नि-रहित। हम इस विशेषण का अभिप्राय निःशेष-अग्नि समझे हैं। जो मनुष्य यज्ञ करता करता यज्ञ-स्वरूप हो गया है, जो आग जलाते-जलाते स्वयं जीती-जागती आग-सा बन गया है, वास्तव में संन्यस्त वही है। उसे वेद अतिथि कहता है। अत सातत्यगमने। अर्थात् निरन्तर फेरी लगानेवाला। ६.७ में केवल "अतिथि" ही को नहीं, किन्तु उसकी "दुर्यवचः" द्वार पर दी गई आवाज़ को—अलख को भी अग्नि कहा गया है। परन्तु वेद का आदर्श मनुष्य-मात्र को संन्यासी बना देना नहीं। संसार के किसी भी कार्य में लगा पुरुष यदि निष्काम कर्मण्यता की वृत्ति धारण कर ले तो वह अग्नि है। ४.५ में इस तथ्य को बड़ी उत्तमता से प्रतिपादित किया गया है—

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।
अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः ।।४.५

आत्मसमर्पण करनेवाले अग्रणी ! तुम प्रजाओं के पालक हो। हे देव ! तुम राक्षसों के तपानेवाले हो। हे घर के मालिक ! तुम घर से बाहर न जाते हुए—घर-गिरस्ती में रहते हुए भी—पूज्य हो। तुमने घर-बार की इच्छा कर द्युलोक को सुरक्षित किया है।

वैदिक धर्म में राजा और गृहस्थ दोनों पूज्य हैं। यदि उनकी मनोवृत्ति यज्ञ की हो जाए तो उनका आध्यात्मिक उत्कर्ष संन्यासी से किसी भी अंश में कम नहीं है। वे इतने ही मुक्त हैं जितना कोई मोक्षाश्रमी।

गृहस्थ का उद्देश्य है सन्तानोत्पत्ति। इसे वैदिक भाषा में यज्ञ का रूप दिया गया है। स्वयं गर्भाधान एक यज्ञ है। इसमें वीर्य और शोणित का संगति-करण होकर बालाग्नि को प्रदीप्त किया जाता है। सन्तान का अर्थ सम्यक् विस्तार। निष्काम कर्म की जिस आग का आधान यजमान ने अपने सर्वस्व की आहुति से किया है, वह कहीं बुझ न जाए, इस उद्देश्य को सम्मुख रख कर पति-पत्नी अपने एक संयुक्त प्रतिनिधि को संसार की कर्म-स्थली में अवतीर्ण करते हैं। उनकी मृत्यु के साथ कहीं उनके यज्ञ की भी मृत्यु न हो जाए—इसका उपाय सन्तान है। गृहस्थी मृत्यु को जीतने का साधन है—यज्ञ की मृत्यु को जीतने का। गर्भाधान द्वारा अग्नि-देव यज्ञ-संस्था सहित अमर हो गया है। इस रहस्य का उद्घाटन वेद ने अपनी चमत्कार-मयी भाषा में बार-बार किया है। कहीं अग्नि को "नप्ता" (३. १) कहा है अर्थात् न गिरनेवाला, कहीं "ऊर्जो नपात्" (५. १) अर्थात् बल का

पात अर्थात् विनाश न होने देनेवाला, कहीं "अपां नपात्" (६. ८) अर्थात् कर्म की धारा का पात अर्थात् विच्छेद न होने देनेवाला, कहीं "सहसोयहः" अर्थात् बल की सन्तान। सन्तान, नपात्, अपत्य, नप्ता—ये सब एक ही चीजें हैं। इन सबका अभिप्राय यज्ञ का तन्तु न टूटने देना है। मनुष्य अपने आप इस शृंखला को अक्षुण्ण बनाए रखे और जब स्वयं उसका देहान्त होने लगे तो वह अपनी यज्ञ की बपौती अपनी सन्तान के अर्पण कर दे। जो कर्म पहिले उसके अपने दो हाथों द्वारा हो रहा था, वह अब अनेक कर-युगलों द्वारा होता चले। यज्ञ का प्रवाह अटूट रहे, अक्षुण्ण रहे। यज्ञ जहाँ मनुष्य को मनुष्य से, देश को देश से, जाति को जाति से मिलाता है, वहाँ दिनों को दिनों से, वर्षों को वर्षों से, सदियों को सदियों से, युगों को युगों से, सर्गों को सर्गों से मिला कर एकीभूत कर देता है। यह भावना अमर भावना है, देश तथा काल की सीमाओं से ऊपर उठी हुई अदेह, अकाल भावना। शास्त्रों ने इसी भावना को मोक्ष-भावना अथवा निर्वाण-भावना कहा है। अग्नि के विमान पर चढ़ कर मनुष्य इसी देव-लोक में जा पहुँचता है, यही अमृत है।

❀ ओम् ❀

जीवन-ज्योति

तिनकों में

अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।
नि होता सत्सि बर्हिषि ॥१॥

ऋषिः—भरद्वाज=यज्ञशील।

(अग्ने) हे [विश्व-याग की] आग! (वीतये) भोग करने, (हव्य-दातये) हवि देने के लिये (गृणानः) उपदेश देती हुई (आयाहि) आजा। (बर्हिषि) [मेरे शरीर के] तिनकों में (होता) [देवताओं को] पुकारती हुई (नि-सत्सि) विराज, प्रकट हो।

संसार में सब ओर यज्ञ ही यज्ञ हो रहा है। संपूर्ण सृष्टि यज्ञ ही का परिणाम है। अणुओं के संयोग से संसार की सृष्टि होती है। यह संयोग—यह संगतिकरण दिव्य है। अणु-परिमाण से मध्यम परिमाण का विकास एक अलौकिक घटना है। अणुओं में लम्बाई नहीं, चौड़ाई नहीं, ऊँचाई नहीं, और उनके मेल से ऐसी वस्तुएँ बन रही

हैं जिनमें लम्बाई है, चौड़ाई है, ऊँचाई है। कैसा अचम्भा है कि जो गुण कारण में नहीं, कार्य में विद्यमान हैं! ये गुण कहाँ से आए? सच तो यह है कि सृष्टि की समस्या का समाधान न विज्ञान कर सकता है न दर्शन। विज्ञान यहीं तक आकर ठहर गया है कि सृष्टि तत्त्वों के मेल से होती है और तत्त्वों का मेल ताप से—वेद की भाषा में अग्नि से। संसार में सब ओर मेल-ही-मेल हो रहा है और उस मेल का कारण एक दिव्य शक्ति है जिसे "अग्नि" कहते हैं। विज्ञान ने उसका एक निर्जीव-सा नाम Heat रखा है—ताप।

संसार में कितनी शक्तियाँ काम कर रही हैं? भौतिक शक्तियाँ भी उतनी ही दिव्य हैं जितनी आध्यात्मिक शक्तियाँ। संसार की समस्याओं का समाधान इन शक्तियों के द्वारा ही किया जाता है। कहा जाता है कि यह सम्पूर्ण संसार शक्तियों का खेल है। खेल होता ही हमेशा दिव्य है। दिवु क्रीडायाम्। परमाणुओं में "गति" है। इससे संसार की उत्पत्ति होती है। और इस गति की उत्पत्ति? परमाणुओं में परस्पर आकर्षण का कारण है। इसी के कारण परमाणु जुड़ रहे हैं, मिल रहे हैं। और इस आकर्षण का कारण? रसायन-वेत्ता कहता है कि कुछ एक तत्त्वों में दूसरे तत्त्वों के लिये 'स्नेह' पाया जाता है—Affinity। यह क्यों?

भौतिक क्रियाओं की व्याख्या भौतिक शक्तियों के द्वारा की जा रही है। भौतिक दृष्टि का यहीं अन्त हो जाता है। इन शक्तियों की व्याख्या आगे नहीं हो सकती। यही कहते

बनता है कि वह शक्तियाँ सभी दिव्य हैं। वैज्ञानिकों ने जिनका नाम शक्तियाँ रखा है, उन्हें ऋषियों ने देवता कहा था। देव का अर्थ है खिलाड़ी। वैज्ञानिक भी इसे शक्तियों का खेल ही तो कहता है।

इन शक्तियों को खेल के लिये अग्नि-देव बुलाता है। ताप के द्वारा ही यह शक्तियाँ उद्बुद्ध होती हैं—सोई सोई जग जाती हैं। इसी लिए अग्नि-देव को 'होता' कहते हैं—देवताओं को बुलानेवाला। वह इन्हें पुकारता है, बुलाता है और फिर आगे ले जाता है—उनका अग्रणी है। गति को, स्नेह को, आकर्षण को जन्म भी देता है और उनकी क्रिया का सञ्चालन भी करता है। अग्नि न हो तो गति न रहे, आकर्षण न रहे, स्नेह न रहे।

अग्नि-देव अन्नाद है—पेटू है। हर समय खा रहा है, खा रहा है। संसार के सभी पदार्थ इसका अन्न हैं। यह उन्हें पचा-पचा कर रूपान्तरित कर रहा है। कारण से कार्य की उत्पत्ति अग्नि की इस पाचन-क्रिया द्वारा ही हो रही है। यही संसार का यज्ञ है। अग्नि के मुँह में जो पदार्थ पड़ा, वह हव्य हो गया—वह देवताओं का अन्न बन गया। अग्नि-देव हव्यवाट् है—हवि को अपने ही पेट में न रख कर झट अन्य देवताओं के मुख में दे देता है। अग्नि का अपना भोग ही यज्ञमय है। उसके लिये खाना और दान पर्याय हैं। इसी को यज्ञिय जीवन कहते हैं।

आध्यात्मिक जगत् का यज्ञ आध्यात्मिक आकर्षण, आध्यात्मिक गति पर निर्भर है। आत्मा आत्मा की ओर

खिंच रहा है, जीव जीव के प्रति द्रवीभूत हो रहा है। प्राणियों का हित सहयोग में है—सहकारिता में। व्यक्ति की उन्नति समष्टि की उन्ननि द्वारा ही हो सकती है। अकेला न कोई उठता है, न गिरता है।

इस जगत् में जो शक्ति भावना को जगाती है—उसे सुप्त अवस्था से जागृत अवस्था में लाती है, वह अग्नि है। परोपकार की आग, पारस्परिक प्रेम की आग, परहित-रक्षा की आग—एक शब्द में यज्ञिय जीवन की आग।

भौतिक संसार के सम्पूर्ण यज्ञ की सफलता इसी में है कि वह इस विशाल आध्यात्मिक यज्ञ की सफलता का साधन बन जाय। भौतिक अग्नि-देव अपनी ज्वालाओं की जीभ से जिस पदार्थ को स्वयं चाटता है, खाता है, उसे वह झट देवताओं के भोग की सामग्री बना देता है। उसका उपभोग और हव्य-दान एक है। अग्नि की ज्वालाएँ इस यज्ञ-भावना का मूर्त्त उपदेश हैं। आध्यात्मिक अग्नि-देव हमारे हृदय के आसन पर बैठा इसी यज्ञ-भावना का उपदेश पुकार पुकार कर हमारी इन्द्रपुरी के देवताओं के कानों में पहुँचा रहा है। वह उन्हें यज्ञ की ओर बुला रहा है। उनका अग्रणी बन कर उन्हें यज्ञ-वेदी की ओर ले जा रहा है।

हे मेरे हृदय के तिनके से उठी यज्ञ की आग! प्रदीप्त हो! प्रदीप्त हो! मेरी दिव्य ज्वाला-मुखी! अपनी उज्ज्वल ज्वालाओं के मुख से मेरे रोम-रोम में यज्ञ का सन्देश पहुँचा दे। मेरे अंग-अंग में स्वार्थ और यज्ञार्थ को—वीति और हव्य-दान को—एक कर देने की आग लगा दे। अपनी

दिव्य पुकार से मेरे रोम-रोम को यज्ञ की आग का तिनका बना दे। ये सूखे तिनके तेरे अलौकिक संसर्ग से यज्ञ-वेदी की चमकती हुई चिनगारियाँ बन जाएँ। तेरा दर्शन मेरे इस भुस-भरे शरीर में हो। भुस वेदी पर पड़ कर आग बन जाए—देवताओं का अग्रणी, मुखिया, सच्चा हव्यवाट्।

क्या मेरे तिनके गीले हैं? इनमें आँच नहीं लगती? तब तो इन्हें और आँच दे। इन्हें सुखा भी, जला भी, चमका भी। इन्हें अग्नि-रूप बना दे। मेरे शरीर के तिनके यज्ञाग्नि की चिनगारियाँ हो जाएँ। स्वयं यज्ञाग्नि हो जाएँ।

***

मानव-जन म

त्वमग्ने यज्ञानाॅं होता विश्वेषाॅं हितः।
देवेभिर्मानुषे जने ॥ २ ॥

ऋषिः—भरद्वाजः=यज्ञशील।

(अग्ने) हे जीवन-याग की आग! (त्वं) तुझे (देवेभिः) देवताओं ने (मानुषे जने) मानव जन के भीतर (विश्वेषां) सब (यज्ञानां) यज्ञों का (होता) आह्वान देने के लिये (हितः) आहित—स्थापित किया है।

सम्पूर्ण मानव-शरीर में यज्ञ की आग जल रही है। जो क्रिया विस्तृत रूप में हो रही है, उसी का संक्षेप इस छोटे से पिण्ड में भी निरन्तर हो रहा है। मानव शरीर का अंग-अंग यज्ञ-रूप है। आँखें देखती हैं, चित्त प्रसन्न होता है,

पाँव चल देते हैं कि इधर स्वर्ग है। कान किसी मधुर आवाज़ की प्रतीक्षा करने लगते हैं। नासिका ने सुगन्धि का अनुभव किया। रसना ने भाँप लिया—कोई स्वादु पदार्थ है। आमाशय में भूख का अनुभव होने लगा। हाथों ने उसे हस्तगत किया। उस पदार्थ को बनाया गया, पकाया गया। शरीर में पहुँचाया गया। किसी अंग ने खाया, किसी ने पचाया। किसी ने उसे रुधिर का रूप दिया। इस रुधिर को किसी ने छाना, किसी ने उबाला, किसी ने फूँक फूँक कर साफ़ किया। अन्न बल बन गया। हड्डी का अंश हड्डी को मिल रहा है, त्वचा का त्वचा को, मज्जा का मज्जा को। शरीर के सभी अवयव अपना-अपना भाग दे भी रहे हैं और ले भी। देवता लेता है देने ही के लिये। उसका लेना-देना पर्याय हैं। संभवतः इसी आशय से इन्द्रियों को देव कहा गया है। ये अपना भाग लेती हैं देने ही के लिये। इनका सभी उपभोग शरीर की जीवन-यात्रा चलाने ही के लिये है।

मानव शरीर के अंग-अंग में यज्ञ हो रहा है। आँखें यज्ञ कर रही हैं, कान यज्ञ कर रहे हैं। प्राण यज्ञ कर रहे हैं, श्वास-प्रश्वास में यज्ञ है। और यज्ञ का होता—आह्वान-दाता अग्नि-देव है। शरीर के जीवित होने का लक्षण अग्नि ही है। शरीर ठंडा पड़ा नहीं और इसमें से जान निकली नहीं। इस अग्नि का आधान मेरी इन्द्रपुरी के देव स्वयं कर रहे हैं। इन्द्रियों की नित्य-प्रति की क्रिया से ही शरीर में गरमी है। और इस गरमी के रहने से ही इन्द्रियों का

सम्पूर्ण क्रिया-कलाप चलता है। जाठर अग्नि के चमक उठने से ही भूख लगती है। यह भूख सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीवन-यज्ञ में अपनी-अपनी आहुती देने का आह्वान-सा होता है। सच तो यह है कि शरीर की सब प्रकार की भूख—खान की, पान की, सुगन्ध की, सुरस की, सुशब्द की, सुरूप की भूख—जीवन-अग्नि ही के चमकते रहने का परिणाम है। मेरी इन्द्रपुरी के देवताओं ने अग्नि-देव को सम्पूर्ण यज्ञ-याग का होता बनाया है। होता इन्द्रियों को यज्ञ के लिये पुकारता भी है और उनके लिये यज्ञ-याग का संपादन भी स्वयं करता है। अग्नि-द्वारा पुकारे गये देव यजमान बनकर अपनी-अपनी आहुति यज्ञाग्नि में छोड़ रहे हैं। अग्नि-देव उस आहुति को लेता है, उसका उपभोग करता है। अग्नि का उपभोग स्वयं हव्य-दान है। अग्नि-देव हव्य को खाता क्या है, उसे यज्ञ का अंग बना देता है। यज्ञ की आहुति परिष्कृत रूप में फिर यजमानों को मिल रही हैं। यज्ञ का अंग बन-कर वह देवताओं का आहार बन रही है। यजमान अन्न का उपभोग तो सीधा भी कर सकते थे। यज्ञ का अंग बना कर उन्होंने इसे हव्य का रूप दे दिया है और स्वयं हव्याद् बन गये हैं। हव्याद् देव को कहते हैं। यजमानों ने यज्ञ क्या किया है, अपने आपको देव बना लिया है। अन्न बल बन गया है, यजमान देव हो गये हैं।

देवताओं का बल ज्ञान है। इन्द्रियाँ जितनी बलवती होंगी, उनकी ज्ञानोपार्जन की शक्ति उतनी ही प्रबल होती जायगी। अन्न ज्ञान बन जायगा। इससे ज्ञानाग्नि प्रदीप्त

होगी। भौतिक याग आध्यात्मिक याग में परिवर्तित हो जायगा।

ज्ञान भी एक यज्ञ है—मन का, बुद्धि का, चित्त का, अहंकार का यज्ञ। इन सब से ऊपर आत्मा का यज्ञ है। वह है विशुद्ध आनन्द-मय यज्ञ।

आत्मा ज्ञान प्राप्त कर उसे प्रकाशित करता है। ज्ञानाग्नि चमके बिना रह ही नहीं सकती। इस अग्नि का प्रकाश कला के, कौशल के, कृषि के, मानव सृष्टि के निर्माण के, चिकित्सा के, पर-पीड़ा-हरण के, पर-स्वत्व-रक्षण के रूप में होता है। याग की पराकाष्ठा यहीं आकर होती है।

इस याग की संपादक जीवन-अग्नि है, ज्ञानाग्नि है, परोपकार-अग्नि है—एक शब्द में यज्ञाग्नि है। यह देवताओं की देवता मेरे शरीर में, मेरे मन में, मेरी आत्मा में विद्यमान हैं। इसका आधान स्वयं देवताओं-द्वारा हुआ है। देव यजमान बने हैं और इसे होता बना गये हैं। अब इस होता की पुकार मेरे अंग-अंग में है। इसका यज्ञ मेरी पोर-पोर में हो रहा है। इसका आधान निरन्तर हो रहा है। इस का आह्वान प्रति क्षण सुना जा रहा है। मेरी देह के देवताओ! इस आह्वान को सुनो, इस पर कान दो, इस अग्नि के आधान में हाथ बटाते जाओ, बटाते जाओ। अपने सम्पूर्ण बल की आहुति इस आग की वेदी पर डालते जाओ, डालते जाओ। यही तुम्हारा खाना हो और यही तुम्हारा खिलाना। तुम्हारा लेना-देना पर्याय हो। तुमने मानव जन में—अर्थात् अपने आप ही में यज्ञाग्नि का आधान किया है।

देव-दूत

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ३ ॥

ऋषि:—मेधातिथि:=मेधाद्वारा गमनशील ।

हम (दूतं) देव-दूत (अग्निं) अग्नि को (विश्ववेदसं) अपने सम्पूर्ण धन-धान्य का (होतारं) उपभोग तथा दान करने वाला (वृणीमहे) स्वीकार करते हैं। वह विश्व-व्यापक है, विश्व का रहस्य जानता है, हमारा सम्पूर्ण धन उसी का है। (अस्य यज्ञस्य) इस यज्ञ का (सुक्रतुम्) उत्तम संकल्प, उत्तम ज्ञान-लाभ तथा उत्तम संपादन वही कर सकता है।

जब से मेरे हृदय में यज्ञाग्नि जागृत हुई है, मुझे एक दिव्य सन्देश सुनाई देने लगा है। अग्नि-देव मुझे पुकार पुकार कर देवताओं का सन्देश दे रहा है। विश्व के मंच पर खेल रही दिव्य शक्तियाँ मुझे पुकार रही हैं, बुला रही हैं। मेरे शरीर की, मन की, आत्मा की अग्नि को दूत बना कर मुझे पुकार रही हैं। मेरे शरीर की और विश्व की आग एक ही है। मेरे अन्दर-बाहर आग ही आग है। विश्व-याग की आग दूत बन कर मेरे शरीर में, मेरे मन में, मेरी आत्मा में प्रादुर्भूत हुई है। विश्व-याग की आग विश्ववेदा: है—विश्व में विद्यमान, व्यापक। विश्व की सत्ता इसी आग के द्वारा ही है। इस सत्ता के रहस्य को इस आग से अधिक कौन जानता है? मैं विश्व का अंग हूँ। जो विश्व

की सत्ता का आधार है, वही मेरा। मेरी सत्ता विश्व के साथ है। अपनी सत्ता को विश्व की सत्ता में विलीन कर देने का सन्देश यज्ञाग्नि लाई है। स्वार्थ तथा यज्ञार्थ में अभेद का पाठ मुझे यज्ञाग्नि ही पढ़ा रही है। अहो! यह यज्ञाग्नि ही मेरी जीवनाग्नि है। मेरे जीवन की सकल विभूति इस जीवनाग्नि की देन है। तो क्या मैं यह संपूर्ण देन, देनेवाले के ही अर्पण न कर दूँ? इस देन का सच्चा उपयोग यज्ञाग्नि ही जानती है। हे विश्व-याग की आग! मेरे जीवन-यज्ञ की होता तू हो। मेरे जीवन-ऐश्वर्य का हवन—दान तथा अदन (उपभोग)—तू कर। तेरा अदन दान है और तेरा दान अदन (उपभोग)। तेरे द्वारा खाया गया अन्न झट दान बन जाता है। तुझे हव्य देकर यह चिन्ता ही नहीं रहती कि यह आहुति नष्ट ही जायगी। तेरी ज्वालाओं में पड़ कर सब शाकल्य सुरक्षित रहता है। हम अपनें जीवन-यज्ञ के लिये तुझे होता-रूप में वरण करते हैं। हमारे सम्पूर्ण जीवन-धन का लेन-देन तेरे ही हाथ में हो। इस यज्ञ का संकल्प आग्नेय हो; चिन्तन, मनन, निधिध्यासन आग्नेय हो; इस संकल्प का आचरण, अनुष्ठान आग्नेय हो। अग्नि से ही यज्ञ का श्रीगणेश हो और अग्नि में ही यज्ञ की पूर्णाहुति-इतिश्री। हमारा संपूर्ण जीवन अग्निमय हो जाए। यज्ञ का शुभ संकल्प अग्नि है, यज्ञ का शोभन ज्ञान अग्नि है, यज्ञ की कल्याण-मयी क्रिया अग्नि है।

हे विश्व-याग की आग! मेरे जीवन-यज्ञ की आग तू हो। मेरे मनन की, भाषण की, आचरण की आग तू हो।

आहुति-रूप अग्नि

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया ।
समिद्धः शुक्र आहुतः ॥ ४ ॥

ऋषि—भरद्वाजः=यज्ञशील ।

(समिद्धः) खूब प्रज्वलित हुई (शुक्रः) चमक रही (आहुतः) [विश्व-याग की आग में] आहुति बन कर पड़ी (अग्निः) [मेरी जीवन-] अग्नि (द्रविणस्युः) मेरा धन-धान्य धरा देने के लिये (विपन्यया) विशेष-विशेष, विविध-विविध स्तुतियों से (वृत्राणि) इस यज्ञ के आवरक—अवरोधक भावों को (जङ्घनत्) नष्ट भ्रष्ट कर दे ।

व्यक्तियों के जीवन यज्ञ का रूप तभी धारण करते हैं जब वे विश्व-याग की आग में आहुति बना कर डाल दिये जाएँ । व्यष्टि, समष्टि का अंग होती है । छोटे-छोटे यज्ञ विशाल यज्ञ के अवयव हैं । इसी अनुभूति से व्यक्तियों के जीवन में तेज आता है । वे चमकने लगते हैं । जीवन-अग्नि भड़कती तभी है जब उसका संबन्ध विश्व-याग की आग से हो । चिनगारी आग में पड़ी जलती रहती है । आग से अलग कर दी गई, शीघ्र बुझ जाती है । यही अवस्था हमारे वैयक्तिक जीवन की है । यह छोटी-सी आग ब्रह्माण्ड की महान् आग का शाकल्य बन कर ही जल सकती है । शाकल्य आग में पड़कर स्वयं ज्वाला बन जाता है ।

मेरी जीवाग्नि भूखी है। उसे अन्न चाहिये। (खाद्य) द्रव्य चाहिये। वह मेरे तन को, मन को, धन को धग लेना चाहती है। मेरा सर्वस्व इस जीवनाग्नि का ग्रास-रूप है। तो क्या मैं यह ग्रास इस भूखी आग के मुख में डाल दूँ? मेरे जीवन की सफलता तभी होगी जब मैं अपने शरीर की आहुति परिश्रम की वेदी पर दे दूँगा। मेरी ज्ञानाग्नि तभी चमक उठेगी जब मैं अपने मन को अध्ययन तथा ध्यान की तपस्या से बचाऊँगा नहीं—उसे भट्ठी में डाल दूँगा। धन को जोखिम में डालूँगा, तभी तो वह बढ़ेगा। ये सब कार्य साहस के हैं, उत्साह के। साहस आग है, उत्साह अग्नि है, यज्ञ है। इन यज्ञों पर वृत्रों ने घेरा डाल रखा है। यह बात आज की नहीं, यज्ञ के रास्ते में राक्षसों ने हमेशा विघ्न उपस्थित किये हैं। साहस तथा उत्साह के मार्ग में आलस्य विघ्न है। वह वृत्र-रूप है। हमें ज्ञानोपार्जन में संकोच होता है, अनुचित लज्जा की अनुभूति होती है। अपना अज्ञान कैसे प्रकट करें? गुरु-जनों के सम्मुख भी अपनी अल्पज्ञता का प्रकाश करते झिझक होती है। अपने सहपाठियों से ईर्ष्या का व्यवहार कर हम उनके साथ वास्तविक सह-पाठ नहीं करते। यह सब ज्ञान-यज्ञ के वृत्र हैं। क्षत्रिय का वृत्र युद्ध का तथा मृत्यु का डर है। वैश्य के लिए घाटे का भय वृत्र है। इन भावों के विपरीत निर्भयता, उत्साह आदि—ये सब भाव अग्नि के विविध रूप हैं। ये उन वृत्रों का समूल नाश कर देते हैं।

संकुचित दृष्टि हमें अपने जीवन को विश्व के यज्ञ का

अंग बनाने से रोकती है। हमारा घर-बार, हमारे वैयक्तिक स्वार्थ, धन-लोभ, जन-लोभ, यशो-लोभ हमारे आत्मोत्सर्ग के रास्ते में बाधक हैं। इन वृत्रों का उपाय है—यज्ञाग्नि का अधिक प्रज्वलित होना। उसकी ज्वालाओं में वह तेज हो कि उसे देखते ही सभी प्रलोभन, सभी भय तथा संकोच भस्म होकर रह जाएँ। यदि वृत्र अपनी मनोमोहक माया का प्रसार करता है तो अग्नि की भी एक सुन्दर मनोहारी दिव्य माया है। उसका रूप है—अन्तरात्मा की प्रेरणा। हमारे हृदय में बैठा कोई सत्कार्य की स्तुति-सी बखानता रहता है। चुपके-चुपके शाबाशी देता रहता है। परिश्रम का, तपस्या का, ज्ञानोपार्जन का, लोकोपकार का, अपनी जीवनाग्नि को विश्व-याग की आहुति बना डालने का अलौकिक श्रेय हमारी आँखों के सामने लाता रहता है, लाता रहता है। अपने आत्म-त्याग का फल हमने आज न भी पाया तो क्या हुआ? कभी तो इस सुकृत का फल मिलेगा ही। हमें न मिला, हमारे पड़ोसियों को, देश-भाइयों को, मानव सहोदरों को, आज की न सही कल की पीढ़ी को मिल कर रहेगा। हमें इसका दृष्ट नहीं तो अदृष्ट फल अवश्य प्राप्त होगा। इस लोक में नहीं तो पर-लोक में। किसी न किसी जन्म में हम सफल होकर रहेंगे। कोई भी सत्कार्य करते हुए यह धीमी-धीमी गुञ्जार हमारे हृदय की तन्त्री से हमेशा उठती है। इस गुञ्जार की उठानेवाली शक्ति प्रज्वलित—समिद्ध—यज्ञाग्नि ही है। यह अग्नि जितनी अधिक तेज़ होगी, उसकी प्रेरणा में—आत्मोत्सर्ग के इस महिमा-गान में—उतना ही

अधिक बल होगा। विश्व-याग की उसकी स्तुति विशेष प्रभाव रखती है। उसके यज्ञ-भाव के गौरव-गीत के अनेक प्रकार हैं। कभी घर की आन के नाम पर, कभी कुल की शान के नाम पर, कभी पूर्वजों की बान के नाम पर, कभी पुंस्त्व—मर्दानगी—की क़सम दे देकर, कभी वीरता का वास्ता डाल-डाल कर यज्ञ की आग हमारी संपूर्ण विभूति झट धरा ही तो लेती है। उसकी "वि-पन्या" में—अनेक प्रकार के स्तुति-स्तोत्रों में—एक जादू है। धन हर लेने का जादू है। आत्मोत्सर्ग के रास्ते को घेर कर खड़े हो जानेवाली वृत्र-भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देने का जादू है।

हे मेरे जीवन की आग! भड़क, भड़क! आत्मोत्सर्ग के तेज से जाज्वल्यमान हो-होकर, विश्व-याग की एक उज्ज्वल ज्वाला सी बनती जा, बनती जा! विश्व-याग के पवित्र स्तोत्र मेरे हृदय के कानों में डाल-डाल कर मेरा सर्वस्व इस आग के लिये धराती जा, धराती जा। इस अपने लपलपा रहे स्तोत्र की लपट में सम्पूर्ण हिचकिचाहटों, सम्पूर्ण संकोचों, भीरुताओं, लज्जाओं, राग-द्वेष, लोभ-मोह, मत्सरादि रिपु-सेनाओं को राख की मुट्ठी बना-बना कर गिराती जा, गिराती जा। हे मेरी जीवनाग्नि! तू विश्व-याग की आहुति बन।

* * *

फेरीवाला

प्रेष्ठं वो अतिथिॅं स्तुषे मित्रमिव प्रियम् ।
अग्ने रथं न वेद्यम् ॥ ५ ॥

ऋषि:—उशना:=कामनावाला ।

मैं (वः) तुझ (प्रेष्ठं) परम प्यारे, (मित्रं इव) मित्र की तरह (प्रियं) दुलारे (अतिथिं) निरन्तर फेरी करनेवाले की (स्तुषे) स्तुति करता हूँ। (अग्ने) हे [यज्ञ भावना की] आग ! (वेद्यम्) तेरी प्रतीति मुझे ऐसी होती है (रथं न) जैसे [योद्धा की] रथ की।

फेरी करनेवाले संन्यासी का अपना घर-घाट नहीं होता है। वह निरन्तर फेरी करता है। आज इस द्वार पर, कल उस द्वार पर अलख जगाता है। उसका कल्याण इसी में है कि संसार-भर का कल्याण करता फिरे। उसके दर्शन का कोई समय नियत नहीं। वह आता है और अपने तेजोमय रूप, तेजोमय वेष, तेजोमय उपदेश से सभी घर-वालों का कल्याण कर जाता है। वह परम-प्रिय है। स्नेह का पुतला है। अपने स्नेह की ज्योति से दूसरों के हृदय में स्नेह का दीप जलाता है। फेरी करनेवाला अतिथि अचानक आता है और आते ही अपने प्रेम के पात्रों का अत्यन्त प्यारा, अत्यन्त दुलारा बन जाता है। वह परम मित्र है—आत्मा का मित्र, सुधार करनेवाला—सच्चा मित्र।

आज मुझे अपने अन्दर से ही एक संन्यासी के दर्शन

हो रहे हैं—फेरी करनेवाले अतिथि के। मेरे हृदय-द्वार पर अलख जग गई है। किसी ने धूनी रमाई है। मेरा रमता-राम बोल उठा है। मेरी जीवन-याग की आग अपनी तेजोमय ज्वालाओं से मेरे हृदय को प्रकाशित कर रही है, आलोकित कर रही है। लो! मेरा संन्यासी फेरी लगाने लगा। यह विश्व-याग की आग में अपने आपको आहुत कर प्रातःकाल उदय होते सूर्य की, दसों दिशाओं में बिखर रही लालिमा के रंग रँगा जा रहा है। मुझे अपने रमते-राम का यह रूप अत्यन्त प्यारा लगता है। यह रूप स्नेह-स्वरूप है। यज्ञाग्नि का जाज्वल्यमान रूप है—स्निग्ध पर, प्रदीप्त रूप।

मैं लँगड़ा था। संसार के राज-पथ पर चलने का कोई साधन न था। विषयों की, वृत्तियों की, नैतिक उलझनों की, प्रलोभनों की भारी भीड़ में मुझे रास्ता ही न मिलता था। मुझ लँगड़े को कुचले जाने का डर था। एक नहीं, हज़ार समस्याएँ थीं। जीवन का उद्देश्य क्या है? मेरा सम्बन्ध मेरे घरवालों से, पड़ोसियों से, ग्राम से, देश से, सम्पूर्ण विश्व के निवासियों से—नहीं नहीं, इस विशाल, अनन्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान जड़-चेतन सभी वस्तुओं से क्या है? कर्म क्या है और उसका फल क्या? विषय-वासनाओं ने मुझे क्यों घेर रखा है? मैं इनसे तृप्ति चाहता हूँ और वह मिलती नहीं। आज मुझे इस फेरीवाले की अलख में इन सब समस्याओं का समाधान मिल गया है। विश्व की सम्पूर्ण सत्ता यज्ञ-रूप है। हम अंग हैं और विश्व

अंगी। जड़-चेतन—सभी इस यज्ञाग्नि के स्फुलिङ्ग हैं—चिनगारियाँ हैं। चिनगारी बन कर मेरे सम्पूर्ण देह में स्फूर्ति आ गई है। लँगड़े को रथ मिल गया है। मैं वीर हो उठा हूँ। मेरा जीवन युद्ध है—इन प्रलोभनों के, इन भयभीतियों के, इन नैतिक उलझनों के, कठिनाइयों के, कड़ाइयों के विरुद्ध युद्ध। मैं अग्नि-देव के रथ पर चढ़ा एक साथ इन सब वृत्रों के सम्मुख अकेला उठ खड़ा हुआ हूँ। आज मैं अनुभव करता हूँ कि संसार के समराङ्गण का मैं महारथी हूँ। अग्नि ही मेरा रथ है, अग्नि ही शस्त्रास्त्र हैं, अग्नि ही मेरा अमोघ कवच है। इस सुरासुर-संग्राम में अब मुझे कौन जीत सकता है? मेरा सम्पूर्ण जीवन अग्नि की स्तुति है। मेरे अंग-अंग में अग्नि की वेदना है—अनुभूति है। मेरे रोम-रोम में अग्नि का स्तोत्र है—क्रियात्मक स्तोत्र है।

* * *

मरणोन्मुख

त्वं नो अग्ने महोभिः पाहि विश्वस्या अरातेः।
उत द्विषो मर्त्यस्य ॥ ६ ॥

ऋषिः—सुदिति=दानी, पुरुमीढ=ऐश्वर्यशाली—या इनमें से एक।

(अग्ने) यज्ञ-भाव की आग! तू (नः) हमें (महोभिः) पूजात्मक महात्मता द्वारा (मर्त्यस्य) मरणोन्मुख [ता] के [चिह्न-स्वरूप] (विश्वस्याः) सब प्रकार की (अरातेः) कृपणता (उत) तथा (द्विषः) द्वेष से (पाहि) सुरक्षित रख।

संसार यज्ञ का घर है। विश्व अपनी सत्ता-मात्र के लिए भी तो यज्ञ पर निर्भर है। मनुष्य इस तत्त्व को समझता है और फिर यज्ञ से विमुख हो जाता है। वह जानता है कि मानव-शरीर के अन्दर-बाहर दोनों जगह यज्ञ ही यज्ञ हो रहा है। फिर भी वह यज्ञ से कतराता है। खुले दिल से यज्ञ में प्रवृत्त नहीं होता। उसे पता है कि यज्ञ जीवन है और कृपणता मृत्यु। किसी दीन की, दुःखी सहायता न करने से हम केवल उसे ही अपनी सहायता से वञ्चित नहीं रखते, अपनी आत्मा को महान् होने के एक अवसर से व्यर्थ ही वञ्चित कर देते हैं। उपकार, उपकार के भाव से नहीं, कर्त्तव्य-भावना से किया जाए। सहायता के पात्र को सहायता देते हुए बुद्धि सहायता देने की नहीं, किन्तु सहायता पाने की—आत्मोद्धार में सहायता पाने ही की—रहे, यही सच्चा यज्ञ-भाव है। अतिथि को भोजन कराते हुए भाव यही रहे कि वह हम पर अनुग्रह कर रहा है। किसी पीड़ित की पीड़ा यह समझ कर हरना कि उसने हमें अपने आध्यात्मिक विकास का अवसर दिया है—इसी को वेद "महः" कहता है। "महः" का अर्थ पूजा भी है, महत्ता भी। आत्मा की महत्ता पूजा में है। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव। प्राणी-मात्र में देव-बुद्धि यज्ञ-बुद्धि है। "महः" का अर्थ यज्ञ भी है, और यज्ञ का एक अर्थ है देव-पूजा।

जब मनुष्य के हृदय में यज्ञाग्नि प्रदीप्त होती है तो कृपणता रहती ही नहीं। मनुष्य सहज में ही उदार बन

जाता है। कृपणता वृत्र है, उदारता यज्ञ। देव-पूजा में झिझक आसुरी-भाव है। यज्ञाग्नि इसे एकदम नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। बड़ों का आदर, समानों से संगति-करण और छोटों को दान—ये तीनों एक ही भावना की भिन्न-भिन्न तसवीरें हैं। ये भावनाएँ यज्ञ का रूप तभी धारण करती हैं, जब इनके पीछे हृदय की विशालता काम कर रही हो। यज्ञ-मार्ग में संकोच ग्रन्थि है, रुकावट है। हृदय की ग्रन्थियों को खोलना ही आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है। और फिर द्वेष तो निरा मरण है। कृपणता उसकी पहली सीढ़ी है, वैर-विरोध दूसरी। देखने को तो कभी-कभी ईर्ष्या, शत्रुता, क्रूरता अपनी तथा कुल—और कहीं-कहीं देश तथा जाति तक—की आन की रक्षक मालूम होती हैं। परन्तु दृष्टि को जरा विशाल करलें तो ये सब वैर-वृत्तियाँ आत्मा को, कुल को, देश तथा जाति को मृत्यु ही का रास्ता दिखाती प्रतीत होती हैं। जीवन का रास्ता इन भावनाओं से विपरीत दिशा ही में है। उस दिशा का निर्देश यज्ञाग्नि करती है।

हे मेरे जीवन-याग की आग! मेरे हृदय में संकीर्णता की ग्रन्थि तू सिरे से पड़ने ही न दे। कहीं अनजाने में अप्रीति का विष इस अमृत के प्याले में आ ही गया हो तो उसे स्वयं चाट ले, अपनी प्रदीप्त ज्वालाओं की जीभ से स्वयं चाट ले। तेरा चाटा हालाहल विष भी सुधा का काम देगा। द्वेष मरणोन्मुखों की भावना है; विशालता, उदारता, निस्संकोच दान, निस्संकोच संगतिकरण, निस्संकोच पूजा अमर देवताओं की। हे हमारी यज्ञाग्नि! हमें अमर देव बना।

जी आया

एह्यू षु ब्रवाणि ते ऽग्न इत्थेतरा गिरः ।
एभिर्वर्धास इन्दुभिः ॥ ७ ॥

ऋषिः—भरद्वाजः=यज्ञशील, मधुरवाणीवाला ।

(अग्ने) हे मुझे आगे ले जाने वाली यज्ञाग्नि! मैं (ते) तेरे (सु) स्वागत में—"(एहि) आइये" (ऊ) और (इत्था) इसी प्रकार के (इतराः) अन्य (गिरः) वचन (ब्रवाणि) कहूँ। (एभिः) इन (इन्दुभिः) सोम-रस की बूँदों से (वर्धासः) तू अधिक प्रदीप्त हो—बढ़ ।

मेरा जी चाहता है—मुझे उस फेरीवाले के दर्शन फिर-फिर होते रहें । मैं अपने रमते राम को फिर-फिर बुलाऊँ, फिर-फिर बुलाऊँ । उसका जी भर कर स्वागत करूँ । उसे 'जी ! आया' कहूँ । उसे हृदय के आसन पर बैठा कर पाद्य दूँ, अर्घ दूँ, मधुपर्क दूँ । अपनी सारी वाणी की विभूति से उसे "जी आया" कहूँ, "जी आया" कहूँ । एक जीभ से नहीं, हज़ार जीभों से । अंग-अंग की बोली में, इन्द्रिय इन्द्रिय की भाषा में उस अलौकिक अतिथि का स्वागत करूँ । रोम-रोम का किवाड़ उसके प्रवेश के लिये खोल दूँ । मेरी नस-नस, नाड़ी-नाड़ी उस रमते राम का मूर्त्त स्वागत हो जाए। मेरे जीवन-यज्ञ की आग ज्वालामुखी बनकर उस विश्व-याग की आग का हज़ार जीभ से आमन्त्रण करे, अभिनन्दन करे।

मेरी वाणी में ओज हो, तेज हो, ज्वाला हो—आर्द्र ओज, आर्द्र तेज, आर्द्र ज्वाला। मेरा मन भावना का घर हो। भावुक हृदय ही से मैं अग्नि-देव का स्वागत करूँ। मैं अपनी आँखों की चाँदनी इस अग्नि-देव के मार्ग में बिछा दूँ। चाँद आर्द्र ज्योति है। इस में भावना की तरी-सी प्रतीत होती है। यज्ञाग्नि की प्रतीक्षा में मेरी आँखें 'इन्दु' बन जाएँ। मेरे अंग-अंग में सोम—यज्ञ-भावना का रस—हो। यही रस मैं अपने पूज्य अतिथि-देव के चरणों में पाद्य के, अर्घ के, मधुपर्क के रूप में पेश करूँ। मेरा अग्नि-देव मेरे इसी सोम का प्यासा है। यज्ञ की आग यज्ञ का रस पाकर और प्रज्वलित हो, और प्रज्वलित हो। क्षण-क्षण में उसकी शोभा बढ़ती जाए, आभा बढ़ती जाये। यज्ञ-याग की आग दिन दूनी, रात चौगुनी दीप्ति से देदीप्यमान होती जाए।

आओ! यज्ञ की आग! आओ! मेरा आतिथ्य स्वीकार करो। मैं एक जीभ से नहीं, हजार जीभ से तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। एक मुख ही की जीभ से नहीं, अंग-अंग की, नस-नस की, नाड़ी-नाड़ी की जीभ से तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। आज तुम्हारे स्वागत के लिये—तुम्हें पाद्य देने, अर्घ देने, मधुपर्क देने के लिये—मेरा संपूर्ण शरीर सोम-सरोवर-सा हो रहा है। इसके दिये पाद्य को, अर्घ्य को, मधुपर्क को स्वीकार करो, स्वीकार करो। तुम्हारी शोभा स्वीकार करने में है। तुम्हारी श्री हमारी पूजा की सफलता से और बढ़ेगी, और बढ़ेगी।

***

अग्गी ! मैं तुझे चाहता हूँ

आ ते वत्सो मनो यमत् परमाच्चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामये गिरा ॥ ८॥

ऋषिः—वत्सः=बालक, प्रेममय ।

मैं (वत्सः) बाल बुद्धि होकर (परमात् चित्) ऊँची से ऊँची (सधस्थात्) याग भूमि—अर्थात् समाधिस्थान से (ते) तुम्हारे (मनः) मन को (गिरा) इस उद्गार द्वारा (आयमत्) अपने वश में करता हूँ—हे मेरे आगे-आगे भाग रही आग—अग्गि ! (त्वां) मैं तुम्हें (कामये) चाहता हूँ ।

सन्तों का कहना है—तुम्हारा दर्शन समाधि में होता है। तुम्हें मिलने के लिये कठोर साधनाओं की आवश्यकता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इस अष्टांग-योग के सैकड़ों, हज़ारों अनुष्ठानों के अनन्तर ही तुम्हारी झाँकी मिलती है। तुम्हारा 'परम सधस्थ'—मिलन-स्थान समाधि है—ऊँचे से ऊँचा. योग का, मिलने का, "सध" सह-वास का "स्थ"—स्थान, भूमि समाधि है। क्या यह सच है कि तुम्हारा मिलना इतना कष्ट-साध्य है ? क्या तुम सच ऐसी ही दुर्गम घाटियों में रहते हो ?

इनमें से एक भी तो साधन मेरे बस का नहीं है। मुझे न यमों का पता है, न नियमों का। इनका ज्ञान ज्ञानी ही

को हो सकता है, और मैं ज्ञान से कोरा हूँ। यम-नियम के आचरण का तो क्या ? मुझे तो इनके उल्लंघन का भी ज्ञान नहीं है। मैं श्वास लेता हूँ पर यह नहीं जानता कि इसकी ठीक विधि क्या है ? मुझे तुमने श्वास लेने की शक्ति दी है और वह अपने आप मेरे प्रयत्न के विना काम कर रही है। यही मेरा नैसर्गिक प्राणायाम है। प्रत्याहार—विषयों से उपरति ? मुझे विषयों ही का ज्ञान नहीं, उनमें उलझ जाने अथवा उनसे बचे रहने की तो कथा ही क्या है ? धारणा-ध्यान बुद्धिमानों के काम हैं। और मैं बाल-बुद्धि हूँ—निरा बालक हूँ, निरा बच्चा हूँ।

ये सब त्रुटियाँ रहते हुए भी अचम्भा है तो यह कि मुझे समाधि होती है। मैं उस "परम सधस्थ" पर पहुँच जाता हूँ। तुम्हारा मधुर मिलन—सहवास—मुझे प्राप्त है। मैंने तो तुम्हारे मन ही को क़ाबू कर लिया है। भगवान् भक्त के वश में आ गया है। अब तुम मेरे हो, मेरे। तुम मेरे बस से बाहर जा ही नहीं सकते। जो काम लाख योगों से नहीं हुआ, करोड़ों अभ्यासों से नहीं हुआ, वह भक्ति की एक तरंग से हो गया है। भक्त के पास जादू है। वह जादू उसके बाल-सुलभ भोलेपन का है। भक्त भोला है। उसने ज्ञान-ध्यान को पीछे छोड़ा है। एक आग थी जो आगे-आगे भाग रही थी। वैज्ञानिक उससे काम ले लेता था, उसकी लीला देख-देखकर दंग रह जाता था, परन्तु उसके साथ स्वयं खेल नहीं सकता था। दार्शनिक आँखें मींचे उसे विचार का, विवेचना का विषय बना रहा था।

उसकी आँखों के आगे वास्तविक आग न थी, उसकी तसवीर थी, ख़्याल था। ख़्याल से भी हटकर उसने "आग" शब्द को पकड़ा था। कभी "आ" की, कभी "ग" की ग्रन्थियाँ उलझाता भी जाता था, सुलझाता भी। भक्त आया। उसने उपयोग की भावना का तिरस्कार किया। विज्ञान के सूत्रों की सूक्ष्म गणनाएँ उसके बाल-मस्तिष्क में घुसती ही न थीं। शब्द उसे कहाँ आते थे? वह तुतली वाणी बोला—अग्गी! मैं तुझे चाहता हूँ। मुझे तेरे उपयोग की नहीं, स्वयं तेरी कामना है। तेरी समस्याओं का समाधान कोई तार्किक कर लेगा। मुझ बालक को तर्क से क्या काम? मुझे तो अपनी प्यारी अग्गी ही से काम है—आगे-आगे भागनेवाली अग्गी से, आप भागनेवाली, मुझे भगानेवाली अग्गी से।

बालक की इस तुतली पुकार को अग्गी ने सुना। उसने कहा 'आ'। बालक उसके पीछे-पीछे हो लिया। अब अग्गी भी भाग रही है, बालक भी। वे लुक-छिप खेलते हैं। अग्गी बालक है, और बालक अग्गी। दोनों देव हो गये हैं—खिलाड़ी। बाकक का मन अग्गी के बस में है और अग्गी का बालक के बस में। भक्त के वश में भगवान् है। यही परम समाधि है—परम सधस्थ है। भोले बालक ने अपनी भोली कामना की बोली से भगौड़े प्रभु को रिझा लिया है।

***

कमल के ऊपर

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ ६ ॥

ऋषिः—भरद्वाजः=ज्ञान से भरपूर ।

(अग्ने) हे हमें आगे ही आगे ले जारही आग ! (त्वां) तुझे (अथर्वा) स्थितप्रज्ञ योगी ने (विश्वस्य) विश्व के (वाघतः) धारण करने वाले (मूर्ध्नः) मूर्धा-रूप (पुष्करात्) कमल से (अधि) ऊपर उठकर (निरमन्थत) संघर्ष द्वारा प्रकाशित किया है ।

प्रभु-प्राप्ति का स्थान मस्तिष्क नहीं, हृदय है । विश्व-याग की आग वैज्ञानिक को नहीं, भक्त को दीखती है । दार्शनिक इस आग के दर्शन करने में असमर्थ हैं । यह रास्ता ही बाल-बुद्धि श्रद्धालु जनों का है । तो क्या इस मार्ग में ज्ञान का कोई प्रयोजन नहीं है ? तर्कणा अकारथ है ? यज्ञ-मार्ग के लिए मस्तिष्क न मिलता तो क्या कोई हानि न थी ?

अग्नि अरणियों में विद्यमान थी । चुम्बक चकमाक में मौजूद थी परन्तु प्रसुप्त अवस्था में । उसे रगड़ने की आवश्यकता थी । यह रगड़ ज्ञान-ध्यान ही से पैदा हो सकती थी । तर्क नाम ही रगड़ का है । युक्ति-प्रयुक्ति का संघर्ष एक अपूर्व संग्राम है—एक अपूर्व संघर्ष है । अग्नि को प्रकाश में लाने के लिये इन अरणियों का मथना आवश्यक है।

तर्क में कमी थी तो यह कि इसका प्रतिष्ठान—ठहराव—नहीं था। कोरे तर्क से संशय-वाद ही की उत्पत्ति होती थी। तर्क ने जिस पक्ष को ले लिया, उसे सिद्ध भी कर दिया और असिद्ध भी। तर्क में चातुरी थी पर किसी अनाड़ी वकील की सी। जिधर से फ़ीस अधिक मिली, उधर की बात कहने लगे। सत्य क्या है—इसका निर्णय करना जैसे वकील का काम ही नहीं।

तर्क के अभ्यास से संशयों की भरमार हो रही थी। युक्ति जो पक्ष उठाती थी, प्रति-युक्ति झट उसका खण्डन कर देती थी। प्रतीत ऐसा होता था कि सत्य केवल मृग-तृष्णा है जिसकी वास्तविक सत्ता कुछ है ही नहीं।

इस भागती हुई ज्योति के पीछे मैं दौड़ा। मैंने तर्क-वितर्क छोड़ दिये। मेरे अन्दर आस्था का प्रकाश हुआ। मुझे विश्वास होगया कि यह ज्योति सत्य है—इसकी सत्ता वास्तविक है—पारमार्थिक है।

श्रद्धा होते ही मेरे मस्तिष्क का कमल खुल गया। कमल में से कमला का प्रादुर्भाव हुआ। कमलासना सरस्वती अब मेरे मस्तिष्क की पंखुड़ियों पर डेरा लगाये हुए है। मेरा मस्तक ज्योतिर्मय है। उस में विश्व-भर का विज्ञान है। कोई शास्त्र ऐसा नहीं, कोई विद्या ऐसी नहीं, जिसका स्थान मेरे मस्तिष्क में न हो। मेरी विश्व-वाहिनी मूर्धा संपूर्ण विश्व को, संपूर्ण सत्य-विद्या को आश्रय दे रही है।

जो विज्ञान आज से पूर्व मेरी आत्मा के लिये बवंडर का काम कर रहा था, आज वही मेरे आत्मिक सन्तोष का—

आन्तरिक शान्ति का, स्थित-प्रज्ञता का—कारण है। मैं अथर्वा हूँ—निश्चल। आज से पूर्व विद्या थी, पर सत्य-विद्या नहीं। ब्रह्माण्ड के किसी भाग का कोई उद्देश्य प्रतीत ही नहीं होता था। नियम थे पर अनियमित। सूत्र थे पर उलझे हुए। आज इस नई ज्योति के प्रकाश से मुझे पता लग गया है कि इन विद्याओं का मूल सत्य है—ऋत अर्थात् यज्ञ है। इन सूत्रों का महासूत्र देव-पूजा है, संगति-करण है, दान है। विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में एक 'महान्-आत्मा' की पूजा हो रही है। सब देवता मिलकर उस परम देव की उपासना ही में लग रहे हैं। देवों का काम ही है दान। देवता दे रहे हैं, दे रहे हैं। उनके हव्य-दान ही मे यह यज्ञ चल रहा है, चल रहा है।

अब यह यज्ञाग्नि मेरे मस्तिष्क के कमल की कमला है। मेरे तर्क-रूप हंस की हंस-वाहिनी है। कमला के प्रताप से आज मेरे कमल में श्री है, ज्योति है। मेरा ज्ञान श्रद्धा की आभा से आलोकित है। संशयों का अँधेरा दूर हो गया है, श्रद्धा की चाँदनी छिटकी जा रही है, छिटकी जा रही है। अरणियों का मथन आज कोरा मथन नहीं रहा। वह "निर्मथन" हो गया हैं। अथर्वा-द्वारा निर्मथन। काठ में से ज्योति निकल आई हे। निश्चल आस्था के निर्मथन से ही उसका निर्गमन हुआ है।

मेरी इस कमला के दर्शन कमल के ऊपर होते हैं। पुष्करात् अधि—कमल के ऊपर। मस्तिष्क के ऊपर।

***

देव-दृष्टि

अग्ने विवस्वदाभरास्मभ्यमूतये महे ।
देवो ह्यसि नो दृशे ॥१०॥

ऋषिः—वामदेवः=पूज्य ।

(अग्ने) हे हमारे अन्दर-बाहर की आग ! (अस्मभ्यम्) हम पर तेरी (महे) बड़ी (ऊतये) कृपा हो। हमारे लिये (विवस्वत्) भाँति-भाँति की जीवन-ज्योति (आभर) ला। तू (हि) ही तो (नः) हमारी (दृशे) दृष्टि की (देवः) देवता (असि) है।

जीवन का आधार विश्वास है। यदि मुझे अपने पर, अपने घर-बार पर, अपने अड़ोस-पड़ोस पर विश्वास न हो तो मेरे जीवन का कोई भी व्यापार न चल सके। मैं एक काम को करता हुआ उसे अधूरा छोड़ जाता हूँ। मुझे विश्वास है कि वह वैसे का वैसा पड़ा रहेगा। नष्ट नहीं हो जायगा। इसी विश्वास के सहारे मैं उसे फिर आकर पूरा कर सकता हूँ। मेरा घर धँस नहीं जायगा। पृथिवी, जल, आग, हवा—सब वैसे के वैसे बने रहेंगे। इनमें कोई परिवर्त्तन नहीं आ जायगा। यही आस्था मुझे सुख-पूर्वक जीने दे रही है। यदि मुझे यह आस्था न हो कि संसार नियम के अनुसार चल रहा है तो मैं एक पग भी न उठा सकूँ। उठना-बैठना दूभर हो जाए। कोई मेरे लिये भोजन बनाता है, कोई मेरी बैठक को साफ़ करता है, कोई

मुझे कपड़े-सी देता है। मुझे विश्वास है कि ये लोग मेरे साथ द्रोह नहीं करेंगे। ख्वाह-मख्वाह मेरे लिये विष का प्रयोग नहीं करेंगे। इसी से मैं इन लोगों के बीच में निश्चिन्त रह रहा हूँ। यदि मैं सन्देह करने लगूँ तो मेरे लिए एक क्षण-भर जीना भी असम्भव हो जाए।

जो अवस्था मेरे दिन-भर के जीवन की मूल-भूत है, वही मेरे वर्ष-भर के, आयु-भर के जीवन का भी आधार है। मेरा सम्बन्ध किसी संकुचित अड़ोस-पड़ोस से नहीं, सम्पूर्ण विश्व एक भौतिक व्यवस्था के अधीन है। इसी से हमारा भौतिक जीवन सुरक्षित है। हमें सर्व-व्यापक 'विश्व-वेदाः' अग्नि पर पूरा भरोसा है। वह एक अणु को भी अपने न्याय-नियम से इधर-उधर न होने देगी।

इससे अधिक महत्व-पूर्ण हमारा नैतिक जीवन है। इसकी सुरक्षा इसी में है कि हमें नैतिक नियमों के अटल होने का भरोसा हो। ये नियम भौतिक व्यवस्था के भी मूल-भूत हैं। भगवती श्रुति कहती है—सत्येनोत्तभिता भूमिः। भूमि की नींव सत्य पर है। जब मैं सत्य का आचरण करता हूँ, तो एक मेरा हृदय ही नहीं, दसों दिशाएँ मिलकर मुझे आशीर्वाद देती हैं। मेरा कोई भी सत्कर्म केवल मेरे ही लिए नहीं, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक—सबके लिए एक साथ मंगल का हेतु हो जाता है। सम्पूर्ण विश्व हमारे लिए सुकर्म का परिपाक है।

है कल्प कर्म का मूर्त्त सार।

यही आस्था वह जीवन-ज्योति है जो मेरे अन्दर तथा

बाहर दोनों ओर विद्यमान अग्नि-देव के द्वारा मुझे प्रतिक्षण प्राप्त हो रही है। यही अजस्र ज्योति मेरे जीवन-पथ का पाथेय है। इसी से मेरे भौतिक तथा नैतिक दोनों प्रकार के जीवन का निर्वाह हो रहा है। इस ज्योति का आविर्भाव भौतिक भी है, मानसिक तथा नैतिक भी। यह भाँति-भाँति की जीवन-ज्योति ही मेरे भाँति-भाँति के व्यवहारों को सिद्ध कर रही है, जीवन के सभी समारम्भों को सम्भव बना रही है।

जब से याग की आग मेरी आँखों का तारा बन गई है, मेरे जीवन को एक लक्ष्य-सा मिल गया है। अब मैं अँधेरे में तीर नहीं चलाता हूँ। व्यवस्था नैतिक हो, चाहे भौतिक, विश्व-याग का ही एक प्रकार है, यज्ञाग्नि का ही एक रूप है। नियम नाम ही मेल का है—व्यवस्थित मेल का, नियमित संगति-करण का। अग्नि संगति-करण का देवता है।

आज मेरी दृष्टि का देवता संगति-करण ही है। मैं इस देवता पर वारे-न्यारे जा रहा हूँ। देवता मुझ पर निहाल है, मैं उस पर। देव की दयालुता का कोई वार-पार नहीं। मेरी आन्तरिक दृष्टि देखती है कि वह चमक रहा है—अपनी अनन्त देनों के साथ चमक रहा है। इन देनों की द्युति ने मेरी आन्तरिक चक्षु को एक दिव्य द्युलोक-सा बना दिया है। देव के दर्शन कर मैं स्वयं देव बन रहा हूँ। मेरी दृष्टि आज देव-दृष्टि है।

प्रभु की सब से बड़ी कृपा आस्था है। यही "विवस्वत्" ज्योति है—विविध प्रकार के जीवन की, वास की हेतु।

यह ज्योति न हो तो संसार की बस्ती में बसना असम्भव हो जाए।

हे मेरी आराध्य, यज्ञ-याग की आग! यह ज्योति ला, यह ज्योति ला। मेरे हृदय में, मेरे मस्तिष्क में, मेरे ज्ञान-विज्ञान में, मेरे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप में आज इसी "विवस्वत्" ज्योति का आलोक हो। इस ज्योति के दर्शन कर मेरा हृदय-कमल खिल उठे। मेरी विश्व-वाहिनी मूर्धा-पद्मिनी की पंखुड़ियाँ आज साक्षात् सरस्वती का सिंहासन बन जाएँ। मेरे मस्तिष्क का ब्रह्म-रंध्र खुल जाए, खुल जाए।

ओजःस्वरूप

नमस्ते अग्न ओजसे गृणान्ति देव कृष्टयः ।
अमैरमित्रमर्दय ॥ १ ॥ ११

ऋषिः—आयुंक्ष्वाहिः=कुटिलता को दूर करनेवाला ।

(अग्ने देव) हे अग्नि-देव ! (ते ओजसे) तुझ ओजःस्वरूप को (कृष्टयः) [कर्म की] खेती कर रहे मनुष्य (नमः) नमस्कार (गृणान्ति) करते हैं । (अमैः) शक्तियों [के प्रदान] से (अमित्रम्) शत्रु [-भाव] को (अर्दय) नष्ट कर दे ।

हे हमें आगे ही आगे ले जाने वाली विश्व-याग की आग ! हमारे मानव जीवन में प्रकट हुई यज्ञ-भावकी प्रेरणा ! हमारे अंग-अंग में हो रहे जीवन-यज्ञ की संपादक अग्नि-देवता ! तेरा स्वरूप ओज है । तू अजेय शक्ति है, अदम्य साहस है, अटल उत्साह है, धर्म-कर्म की दिव्य स्फूर्त्ति है । तुझे हम नमस्कार करते हैं, बार-बार नमस्कार करते हैं । तेरे चरणों में प्रस्तुत किया गया यह नमस्कार हमारी वाणी का ओज हो जाए ।

हमें कर्म की खेती करनी है । मानव जन्म का यही ध्येय है । मनुष्य किसान बनकर ही पृथिवी-तल पर आया है । संपूर्ण प्रकृति पृथिवी है—अन्न-पूर्णा शस्य-श्यामला, रत्नगर्भा पृथिवी । इस में कर्म का हल चलाते जाओ । सद्भाव का बीज बोते जाओ और एक-एक के हजार-हजार बनाते जाओ, उठाते जाओ, कमाते जाओ । अच्छी भावना

जो भी इस पृथिवी के तल पर विखेरी जायगी, सच्ची कामना जो भी इस आकाश की कोख में फेंकी जायगी—वह स्वयं सफलताओं के द्युलोक में जायगी और असंख्य समृद्धियों को साथ लिये लौट आयगी। यज्ञ की आग में डाली गई आहुति नष्ट नहीं हो सकती। आग उसे अपनी शक्ति प्रदान करती है। उसे मानो अपनी शक्ति की ज्वाला-सी बना लेती है। आहुति और फिर ज्वाला-सी। अग्नि में शक्ति थी, उसे आहुति का साधन मिल गया है। आहुति कोरा साधन थी, इसे सिद्ध कर देनेवाला देवता मिल गया है। लँगड़े का हाथ अकस्मात् लठिया पर जा पड़ा है। टाँगोंवाले अन्धे और आँखोंवाले लँगड़े का मेल आश्चर्य-जनक हुआ है। देव को किसान के और किसान को देव के दर्शन हो गए हैं।

देवता के आशीर्वाद अकारथ जा रहे थे। किसान की कृषि-कामना सफलता को तरस रही थी। आज किसान का सिर देवता के चरणों में है और बीज धरती में। देवता निहाल है कि उसकी शक्ति का उपयोग हुआ। किसान गद्गद है कि उसका जन्म सुफल होने की संभावना निकल आई।

कर्म का शत्रु है आलस्य, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, अकर्मण्यता। सच तो यह है कि मनुष्य अपना मित्र भी आप ही है और अपना अमित्र भी आप ही। खेती एक यज्ञ है। इसकी सिद्धि कृषकों के सहयोग से ही होती है। कोई अकेला कृषक एक क्यारी को भी तो नहीं पनपा सकता। जैसे विश्व में असंख्य देवता एक साथ हल चला रहे हैं, ऐसे ही मानव-जीवन में। यज्ञ की मित्र मित्रता है और अमित्र

अमित्रता। इसी अमित्र को—अमित्र-भाव को ही—बीच से हटाना है। ज़रा ध्यान से देखा जाये तो अमित्रता वास्तव में निर्बलता ही का दूसरा नाम है। वैर, विरोध, ईर्ष्या, द्वेष—ये सब अशक्त मनुष्यों की विवशता के ही प्रकाश हैं। मैं प्रतियोगिता में सीधे रास्ते से आगे निकल नहीं सकता। प्रतियोगी से अनुचित स्पर्धा अर्थात् ईर्ष्या के रूप में द्वेष करने लगता हूँ। किसी को भलाई से अपना बना नहीं सकता, बुराई से अपना बनाना चाहता हूँ। यह सारी कमी ओज ही की है।

हे मेरे ओजःस्वरूप अग्नि-देव! तू शक्तियों का पुंज है। मुझे शक्ति प्रदान कर। मेरे हृदय में उत्साह की, साहस की, स्फूर्ति की प्रतिमा बन कर आ। मैंने तुझे नमस्कार किया है। अपनी इन्द्रिय-इन्द्रिय को सत्कर्म का हल बनाकर नमस्कार किया है। एक मुख की वाणी से नहीं, अंग-अंग को जीभ बनाकर नमस्कार किया है। हे मेरे ओजःस्वरूप देव! तू मेरे मन का, मेरी वाणी का, मेरी क्रिया का ओज बन जा। तेरी सहस्र-धार शक्ति मेरी नाड़ी-नाड़ी में से यज्ञिय ज्वाला बनकर बह निकले।

अकर्मण्यता, असहकारिता, ईर्ष्या, शत्रुता,—एक शब्द में अमित्रता—नीरसता निःस्नेहता—भस्मीभूत होकर नष्ट हो जाए। मेरी कर्म की खेती हरी-भरी हो। यज्ञ ज्वाला-मुखी बनकर लहलहाये। ऋद्धि-सिद्धि के इस वसन्त में देवता का आशीर्वाद पा-पा कर लहलहाये। उसका झूम-झूम कर लहलहाना एक लंबा नमस्कार हो जाए।

देवदूत

दूतं वो विश्ववेदसं हव्यवाहममर्त्यम् ।
यजिष्ठमृञ्जसे गिरा ॥ २॥ १२

ऋषिः—वामदेवः=पूज्य-देवकाम ।

मैं (हव्यवाहम् विश्ववेदसम्) हवि का संचार सब देशों, सब कालों में कर देनेवाले (अमर्त्यम्) मरण रहित, (यजिष्ठम्) देवों की सब से अधिक पूजा करनेवाले, उत्तम दानी, संगति-करण-स्वरूप (वः) तुझ (दूतम्) देव-दूत को (गिरा) स्तुति-द्वारा (ऋञ्जसे) रिझा कर अपने अनुकूल बनाता हूँ ।

शरीर मरण-धर्मा है । इसकी मृत्यु हर क्षण हो रही है । पुराने परमाणु नष्ट हो रहे हैं, नये उनका स्थान ले रहे हैं । वैद्य लोगों का कहना है कि इस प्रकार परमाणु-परिवर्त्तन होते-होते प्रत्येक सातवें वर्ष सम्पूर्ण शरीर का काया-कल्प हो जाता है । पुराना शरीर अपने आप छूट जाता है, नया शरीर अपने आप प्राप्त हो जाता है । मरण और जन्म की यह क्रिया हमारे एक ही जीवन में कई बार हो लेती है, परन्तु हमें इसकी अनुभूति तक नहीं होती । हमें यह विश्वास रहता है कि हम उसी पुराने शरीर के साथ जी रहे हैं । बात यह है कि पुराने परमाणु सब एक-साथ नष्ट नहीं हो जाते । कुछ परमाणु आज आए हैं, कुछ कल आए थे, कुछ परसों, कुछ अतरसों । भिन्न-भिन्न परमाणुओं की आयु हर समय भिन्न-भिन्न होती है । जाते हुए परमाणु अपने संस्कार पीछे रहनेवाले परमाणुओं के पास छोड़ जाते हैं । परमाणु अदलते-बदलते रहते हैं, परन्तु

उनके संस्कार संचारित हो-होकर स्थिर रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे प्रत्येक परमाणु के जीवन का इतिहास सुरक्षित रखा जा रहा है। मेरी स्मृति-शक्ति क्या है ? आते-जाते परमाणुओं के सुरक्षित संस्कार। शरीर एक ही जीवन में कई बार मर भी लिया है और फिर जी भी। परन्तु हमें अनुभव ऐसा होता है, जैसे उसमें कभी परिवर्त्तन आया ही नहीं। इसका कारण नष्ट हो गये परमाणुओं के संस्कारों की सुरक्षित स्मृति है। परमाणुओं के इस इतिहास की सुरक्षा ही, हमारे दस, बीस, पचास, सौ वर्ष तक लगातार मृत्यु से बचे रहने का कारण हो रही है।

संस्कारों की इस सुरक्षा का सेहरा अग्नि-देव के सिर है। जीवाग्नि ने ही शरीर के परमाणुओं में यह दिव्य सम्बन्ध स्थापित किया है कि वे एक दूसरे से सुसंस्कृत होते हैं, एक दूसरे का जीवन-वृत्तान्त अपनी क्षण-क्षण की चेष्टाओं में सुरक्षित रखते हैं, जा रहे बन्धुओं का परम्परा-गत सन्देश परमाणुओं की नई-नई पीढ़ी को पहुँचाते जाते हैं। अनेक वार काया-कल्प होते हुए भी प्राणियों का जीवन इसी से एक बन रहा है। जीवन में मृत्यु कई बार छिपी-छिपी दर्शन तो दे जाती है, परन्तु संस्कारों की इस सुरक्षा के आगे हार कर विलुप्त-सी रहती है।

संस्कारों की यह सुरक्षित परम्परा एक जीवन ही नहीं, असंख्य जीवनों तक चलती है। लिंग-शरीर इन संस्कारों का पुञ्ज ही तो है। कई मनुष्यों की पूर्व-जन्म की यह स्मृति उद्बुद्ध हो जाती है। वे अपने पुराने जीवनों की

घटनाओं तक का वृत्तान्त सुना सकते हैं। यों तो अन्य लोगों के सूक्ष्म शरीर में भी ये संस्कार विद्यमान हैं, परन्तु वे प्रसुप्त अवस्थाओं में हैं।

अग्नि-देव जहाँ समकालीन परमाणुओं को मिला रहा है, उनके संस्कारों को एक दूसरे में संचारित होने की शक्ति दे रहा है, वहाँ संस्कारों की इस परम्परा को स्थायी रखने का वर-सा उसी अग्नि-देव ही की देन है। अग्नि-देव ने एक क्षण को अनेक क्षणों से, एक दिन को अनेक दिनों से, एक वर्ष को अनेक वर्षों से, एक जीवन को अनेक जीवनों से सम्बद्ध कर रखा है। यह दूसरे शब्दों में एक नहीं, अनेक जीवनों, अनेक युगों—का संगतिकरण है—यज्ञ है।

अनेक जीवनों का यह यज्ञ व्यक्तियों तक ही परिमित नहीं है, समुदायों के जीवन भी इस अग्नि-देव की कृपा से यज्ञ-मय हो रहे हैं। सम्पूर्ण विश्व में देव-पूजा, संगति-करण तथा दान की यह क्रिया चल रही है, सतत चल रही है। एक वर्त्तमान (कन्टिन्युअस प्रेज़ेंट) बनाकर जीवन का यह विश्व-व्यापक यज्ञ सार्वकालिक बन गया है—मरण-रहित हो गया है।

इस यज्ञ में सम्पूर्ण क्षणों ने, सम्पूर्ण दिनों ने, सम्पूर्ण वर्षों ने अपनी-अपनी आहुति दी है। संस्कार हवि-रूप हैं, और अग्नि उनका वाहक—संचारयिता।

हे मेरे परम याज्ञिक अग्नि-देव! तुम्हारे इस हव्य-वाहन की, विश्ववेदस् हव्य-वाहन की स्तुति मेरे शरीर का अणु-अणु कर रहा है। तुम्हारे इस दिव्य सन्देश की

ध्वनि को मेरी सम्पूर्ण काया ने कान बन कर सुना है। तुम्हारे इस सन्देश की क्रियात्मक गुञ्जार मेरे जीवन के सभी क्षणों में, सभी पलों में, सभी घड़ियों में है। मेरा जीवन तुम्हारे इस यज्ञिय सन्देश की स्तुति है, मूर्त्त स्तोत्र है। हे इस पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के एक साथ यज्ञ-वाहक! तुम मेरी इस स्तुति से निहाल हो रहे हो। तुम्हारी कृपा की अनुभूति मेरे अमर जीवन की इन स्थायी घड़ियों में बनी हुई है। हे विश्व-याग की आग! अब तो तुम मेरी हो चुकी हो, मेरी हो चुकी हो। मैंने तुम्हें रिझा लिया है, अपना बना लिया है। जब से तुम मेरी हुई हो, मेरा जीवन अमर हो गया है। अब तो तुम्हारा सन्देश और मेरी स्तुति एक हैं। जो तुम्हारी ज्वालामयी जीभ से सुनता हूँ, उसी को मनसा वाचा कर्मणा दोहरा देता हूँ। स्वर एक है, ताल एक है। मैंने तुम्हारे सन्देश को सुना या तुमने मेरी स्तुति को? तुम मेरे अनुकूल हो, मैं तुम्हारे—यही यज्ञ है।

* * *

प्राणों की छावनी

उप त्वा जामयो गिरो देदिशतीर्हविष्कृतः।

वायोरनीके अस्थिरन् ॥ ३ ॥ १३

ऋषिः—प्रयोगः=उत्तम योगी।

हे अग्नि-देव! (हविष्कृतः) मुझ यजमान की (गिरः) स्तुतियां (जामयः) भोली-भाली बहिनों की तरह (त्वा उप)

तुम्हारी ओर (देदिशतोः) संकेत कर-कर (वायोः) प्राणों की (अनीके) छावनी में (अस्थिरन्) रुक गई हैं।

हे मेरे जीवन-यज्ञ के संचालक अग्नि-देव ! तुम देव-दूत हो। जब से तुम्हारा सन्देश मेरी इन्द्रियों ने सुना है, वे मानो स्तुति-रूप होगई हैं। मेरी भोली-भाली स्तुति तुम्हारे दिव्य सन्देश की सहोदर हैं। दोनों का जन्म एक साथ एक ही माता की कोख से हुआ है। बहिनें भाई को देखते ही मुग्ध हो गई हैं। उन्हें अपनी सुध-बुध भूल गई है। उन्होंने हवि ले ली है और भाई को तिलक लगाने के लिये—उसका अभिषेक करने के लिये—उठ खड़ी हुई हैं। आज मैं यजमान हूँ। मेरी इन्द्रिय-इन्द्रिय हवि-सी बन रही है। भाई के लिए बहिन मनसा वाचा कर्मणा समर्पित-सी रहती है। उसकी भुजा पर राखी बाँध देने के लिए, उसके माथे पर तिलक लगा देने के लिए, उसके संपूर्ण शरीर को युद्ध के लिए अभिषिक्त कर देने के लिए बहिन मूर्त्त उत्सुकता बन जाती है। हे देवों के दूत! द्युलोक की आवाज़ पृथिवी पर लाने वाले अग्नि-देव ! तुम्हारे इस दिव्य सन्देश की माँ-जाइयाँ तुम्हारी ओर अँगुली उठा-उठा कर देख रही हैं। इनकी निस्स्वार्थ प्रतीक्षा अत्यन्त भोली, अत्यन्त सरल, अत्यन्त सुन्दर, अत्यन्त मनोहारिणी है। इस में एक दिव्य रंग है। बहिन भाई से प्यार कर अपने भगिनीत्व ही को सफल करती है। यह प्यार यज्ञिय है, दिव्य है।

बहिनों का राग हवा के अर्पण हो रहा है। मेरा शरीर आख़िर क्या है ? हवाओं का खेल। प्राणों की बस्ती।

संघर्षण-शील मरुतों ने इसमें डेरा डाल रखा है। यह श्वासों की छावनी ही तो है। एक श्वास दूसरे श्वास के साथ खेल-खेल में लड़ रहा है। कहीं चाँद-मारी है, कहीं मुख्य सैनिक की कमान में सिपाहियों का व्यूह-रूप में प्रस्थान हो रहा है, कहीं सरपट घुड़दौड़-सी लग रही है। भेरियाँ, दुन्दुभियाँ, शहनाइयाँ, शंख, गोमुख बज रहे हैं।

तुम्हारे सन्देश की भोली-भाली बहिनें इस छावनी में पहुँचकर रुक गई हैं। उनकी आकांक्षा अपने माँ-जाये को एक वार देख लेने की, उसके माथे पर तिलक लगा देने की, उसे जीवन-युद्ध के लिए एक बार अभिषिक्त कर देने की है। भोली कन्याओं की इस मुग्ध आकांक्षा को कहीं हवा की हिलोरों पर ही न बिखेर देना।

हे जीवन-संग्राम की अग्रणी आग! तुम्हारा दिव्य सन्देश स्वयं सैनिक बन रहा है। इसे आज इस युद्ध-स्थली में जूझ जाना है। इसे अपनी बहिनों से मिला दो। मेरी स्तुतियों को अपने दिव्य सन्देश के गले लगा दो। मेरे प्राणों की छावनी में—लड़ते सिपाहियों के युद्ध-समारंभों में—बहिन-भाई का मेल एक अनुपम दृश्य होगा। तुम्हारी विजय का श्री-गणेश इन बहिनों के रक्षा-बन्धन से ही क्यों न हो? भाई चतुर है, इसने संसार देखा है, विश्व की समर-स्थली के सभी सेहरे इसी के सिर हैं। बहिनें अनजान हैं, अयानी हैं, भोली-भाली हैं। यही उनका भगिनीत्व है। चतुर सेनानी! इनकी इस भोलेपन की भेंट स्वीकार करो। इन भोलियों के भोलेपन से ही तो चतुर लड़ैतों की लड़ाई चम-

केगी, उनके हथियार मानो सान पर चढ़ कर पैने हो जायेंगे, उन की भुजाओं में बल का एक तूफ़ान-सा आ जायगा। क्षत्रिय जूझेंगे, लड़ेंगे और इन बहिनों की शुभ-कामनाओं के द्वारा विजय-श्री के दर्शन करेंगे।

* * *

भेंट

उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि ॥४॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः=मीठे संकल्प वाला।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (वयम्) हम (दिवे दिवे) प्रति दिन (दोषावस्तः) दिन-रात (धिया) ज्ञान, कर्म तथा ध्यान को साधन बनाकर (नमः) अपनी संपूर्ण [अन्न] सम्पत्ति, [नमस्कार] विनम्र भक्ति तथा [वज्र] शासन शक्ति की भेंट (भरन्तः) लिये हुए (त्वा उप) तुम्हारे समीप (एमसि) आ रहे हैं।

जब से हमारे हृदय में यज्ञ की आग की झाँकियाँ होने लगी हैं, हम में आत्म-समर्पण का भाव जागृत हो गया है। देखो अग्नि ने अपने आप को सर्वात्मना यज्ञ के अर्पण कर दिया है। सच तो यह है कि यज्ञ बिना आग के, और आग बिना यज्ञ के बेकार है। आग स्वयं यज्ञ है और यज्ञ स्वयं आग। आत्म-समर्पण की यह पराकाष्ठा है।

आत्म-समर्पण का एक और नाम नमस्कार है। संध्या का नमस्कार-मन्त्र ही तो समर्पण-मन्त्र कहाता है। नमः का

अर्थ नम्रता भी है, अन्न भी और वज्र भी। नम्रता भक्ति है। समृद्ध मनुष्य का यह भूषण है। पूजा, संगति-करण तथा दान—तीनों नम्रता के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। पूजा तो झुके बिना हो ही नहीं सकती। संगतिकरण में भी अपने साथियों के दृष्टि-कोण का अपने दृष्टि-कोण से समन्वय कर कोई ऐसा मध्य-मार्ग निकालना होता है जिस पर सभी सहकारी इकट्ठे हो सकें। फिर दान तो काम ही फल के भार से झुकी हुई शाखा ही का है। यज्ञ बिना विनय के नहीं हो सकता। वास्तव में समर्पण और नम्रता एक ही चीज़ है। नमः का दूसरा अर्थ है अन्न। हम अत्ता हैं और संसार के अन्य सभी पदार्थ अन्न। ब्रह्माण्ड की जो भी सम्पत्ति हमारे अधीन है, वह हमारा अन्न है। हमारी सभी शक्तियाँ, सभी विभूतियाँ, सभी समृद्धियाँ और सिद्धियाँ हमारा अन्न हैं। इन वैभवों का उत्तम उपयोग यही है कि इन्हें अग्नि-देव के अर्थात् याग की आग के अर्पण कर दिया जाय। नमः शब्द का तीसरा अर्थ है वज्र अर्थात् वर्जन की शक्ति। यह हथियार मुख्यतया क्षत्रिय का है। क्षत्रिय का क्षात्र-बल भी, ब्राह्मण की दया और वैश्य की सम्पत्ति की तरह, अग्नि-देव ही की भेंट होना चाहिये। तीनों द्विज-वर्णों का जितना जितना अँश हम में है, वह हमारे स्वार्थ के लिये नहीं, किन्तु यज्ञार्थ ही हमारे अधीन है। हमारा विनय, हमारा बल, हमारा धन-धान्य सब यज्ञाग्नि की आहुति है।

मनसा, वाचा, कर्मणा हम अग्नि-देव के हो रहे हैं। हमारी बुद्धि के सब व्यापार अग्नि-देव के लिए नमो-निवेदन

का एक सुन्दर प्रकार हैं। हमारे संपूर्ण कायिक कर्म हैं ही इसी लिए कि इनसे यज्ञ की आग प्रदीप्त हो। हमारी धारणा, ध्यान तथा समाधि का लक्ष्य अग्नि-देव की उपासना अर्थात् यज्ञिय जीवन का अनुष्ठान ही है।

अग्नि ने अपना सर्वस्व यज्ञ के समर्पण कर रखा है। मनुष्य यदि इतना महान्, इतना उदार न हो सके, इतना आत्म-समर्पण न कर सके, तो भी उसे इसी दिशा में पग बढ़ाते जाना चाहिये। उसके लिए जीवन-यात्रा का और मार्ग है ही नहीं। वह जितना अधिक स्वार्थ-रहित होगा, उतना ही अधिक वह अग्नि के समीप आता जायगा।

मैं अपना ज्ञान-बल, कर्म-बल, ध्यान-बल सब यज्ञाग्नि में आहुत कर रहा हूँ। मेरा धन-धान्य, मेरी सुख-संपत्ति, मेरी शासन तथा दमन की शक्ति, मेरा अनुनय-विनय सभी विश्व-याग की आहुति-सा बन रहा है।

आज-कल मुझे दिन-रात यज्ञाग्नि की झाँकियाँ मिल रही हैं। प्रत्येक झाँकी अपने साथ एक नया प्रभात लाती है। इस प्रभात के उदय होते ही मेरी संपूर्ण विभूति मानो हर ली जाती है। हर ली जाती है या उसमें और अधिक आभा—और अधिक श्री भर दी जाती है? अग्नि के निकट जो जाता है, वह स्वयं अग्नि हो जाता है, और अग्नि-देव की परिभाषा में तो लेना-देना पर्याय ही हैं। अग्नि ने वैभव हर लिया तो भी इस हरने हरने में ही कुछ और भर दिया—दे दिया। अग्नि-देव लेता है देने के लिये। अग्नि के समीप आकर मैं स्वयं अग्नि बन रहा हूँ। यह आत्म-

समर्पण कैसा सफल है ? यह आत्म-समर्पण क्या मैं कर रहा हूँ या स्वयं अग्नि-देव ? मैं अग्नि-देव का बन रहा हूँ, और अग्नि-देव मेरा बना जा रहा है। यह समीपता है या एकात्मता ?

***

मीठे आँसू

जराबोध तद्विविड्ढि विशे विशे यज्ञियाय।
स्तोमं रुद्राय दृशीकम् ॥ ५ ॥ १५

ऋषिः—शुनःशपः ईश्वर=समीपी।

(जराबोध) हे हम में स्तुति-वृत्ति को जगा कर हमारी स्तुतियों के द्वारा स्वयं और अधिक जग जानेवाले! तुम मेरे (तत्) उस (स्तोमम्) स्तोत्र में (विविड्ढि) प्रवेश कर जाओ जो तुम्हारे (यज्ञियाय) पूजनीय परन्तु (रुद्राय) रुलानेवाले (विशे विशे) प्रवेश-प्रवेश के लिये (दृशीकम्) प्रकट हो-होकर दर्शनीय हो रहा है।

आज-कल मेरे हृदय में स्तुति-वृत्ति जग रही है। मेरे मन ने एक सतत स्रोत का रूप धारण कर लिया है। मैं इस विश्व में तथा उसके इस छोटे से अंश—अपने शरीर—में अग्नि ही अग्नि का प्रताप देखता हूँ और मुग्ध हो जाता हूँ। मेरा यह स्वरूप अग्नि-देव को अधिक प्रिय है। मेरी स्तुति से अग्नि-देव प्रसन्न हो-होकर, और अधिक प्रदीप्त हो जाता है और मेरी स्तुति-वृत्ति को और तेज़ कर देता है। इस प्रकार अग्नि स्तुति को और स्तुति अग्नि को अधिकाधिक

उज्ज्वल बनाती जाती है। उपास्य-उपासक में एक सुन्दर होड़-सी चल रही है।

मेरा स्तोत्र स्वयं अग्नि की एक ज्वाला बन जाने को उत्सुक है। आखिर स्तुति-गान का उद्देश्य तो उस स्तुनि के अनुकूल क्रिया करना ही है। अग्नि की उपासना क्या हुई, यदि उपासक उपासना करते-करते स्वयं अग्नि का एक अंग न बन गया? हे विश्व-याग की आग! तुम मेरे स्तोत्र में प्रविष्ट हो जाओ। इसे अपना उज्ज्वल स्वरूप प्रदान करो। इसे अपने यज्ञ की एक आहुति—अपनी पवित्र ज्वाला की एक लपट—बना लो।

मैं तो अनुभव ही कर रहा हूँ कि तुम मुझ में प्रविष्ट हो रही हो, हो रही हो। तुम्हारे स्तोत्र को मैं जितना अधिक ऊँचा उठाता हूँ, मैं अपने में यज्ञ-भाव की उत्तेजना का उतना ही अधिक अनुभव करता हूँ। इस यज्ञ-भाव के एक-एक आवेश के साथ-साथ मेरा स्तोत्र और अधिक चमक उठता है—और अधिक दर्शनीय बन जाता है। स्तुति अग्नि को और अग्नि स्तुति को उत्तरोत्तर प्रदीप्त करती जा रही है।

तुम्हारा यज्ञिय प्रवेश परम पूजनीय है। याग की आग का यजमान के हृदय में प्रवेश—उसकी नस-नस में, नाड़ी-नाड़ी में, तन की, मन की, सम्पूर्ण आचरण की वाणी में प्रवेश अत्यन्त आदरणीय है। यज्ञ-भाव के ये आवेश मेरे जीवन को यज्ञ-मय बना रहे हैं—उत्तरोत्तर अग्निमय बना रहे हैं। अग्नि का मनन कर मैं स्वयं अग्नि बन रहा हूँ।

हे मेरे परम पूज्य! हे मेरे परम प्रिय! आखिर

बात क्या है कि जब कभी आपकी भक्ति का आवेश होता है; जब कभी मुझे ज्ञात होता है कि तुम मुझ में हो और मैं तुम में, तो अकस्मात् मेरी आँखों से आँसू निकल आते हैं ? जब जब मुझे अनुभव होने लगता है कि तुम मेरे मन को, मेरे तन को, मेरे प्रत्येक भाव को अपने प्रकाश का झरोखा-सा बना रहे हो तो मेरे सारे शरीर पर एक मीठा आतङ्क-सा छा जाता है। तुम्हारे संस्पर्श का आनन्द मुझे इतना व्यथित क्यों करता है ? मुझे एक मर्म-स्पर्शी पीड़ा-सी क्यों अनुभव होने लगती है ? मेरे नयन छलक पड़ते हैं। मैं अपने आपे से बाहर हो जाता हूँ और बिलख कर रोता हूँ।

मेरे प्रभो ! क्या तुम अपने भक्त को अपना सहचर बनाने से पूर्व नहला लेना चाहते हो ? धुला लेना चाहते हो ? उसके सभी मल प्रेमाश्रुओं के प्रवाह में बहा देना चाहते हो ? उसके जीवन-भर के भार को आँखों के रास्ते उसके हृदय से उतार देना चाहते हो ? प्रभो। फिर उसे पीड़ा क्यों देते हो ? दोष-प्रक्षालन की यह क्रिया क्या बिना वेदना के सिद्ध नहीं हो सकती ?

ग़जब तो यह है कि यह पीड़ा—तुम्हारे मधुर मिलन की पीड़ा—मुझे मीठी लग रही है। रोता भी हूँ और इस रोने की स्मृति में व्याकुल भी रहता हूँ। मेरे लिए यह रोदन यज्ञिय हो रहा है। तुम्हारा रुद्र-रूप यज्ञिय रूप है। मैं इसी रूप की उपासना करता हूँ। इसी के लिए "दर्शनीय स्तोत्र" की भेंट पेश करता हूँ। अग्नि-देव ! तुम इसी रुद्र-रूप में आओ और मेरी नस-नस में समा जाओ। मेरी

नस-नस को ये मीठे, यज्ञिय आँसू रुला जाओ। ये मीठे आँसू ही मेरे स्तोत्र हैं, तुम्हारी प्रज्वलित ज्वाला हैं। मेरे प्रत्येक आँसू में तुम्हारी छाया है, तुम्हारे आवेश की पवित्र झलक है।

***

धौंकनी

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्रहूयसे ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥ ६ ॥ १६

ऋषिः—मेधातिथिः=सगति करने योग्य अतिथि ।

(त्यम्) उस (चारुम्) सुन्दर-सर्वांगीण (अध्वरं प्रति) यज्ञ के लिये हम (प्रहूयसे) तुझे इस लिये बुलाते हैं कि (गोपीथाय) तू दुग्ध पान कर गायों को सुरक्षित करे, सफल करे। (अग्ने) हे यज्ञ के सम्पादन कर्त्ता-देव! तू (मरुद्भिः) मेरे प्राणों पर सवार होकर (आगहि) आ।

आज हमने यज्ञ की वेदि को सजाया है। याग के लिये शाकल्य तैयार किया है। घृत, चरु, समिधा—सभी सामान सुचारु रूप से जुटा देने का प्रबन्ध किया है। हमारे यज्ञ का प्रत्येक अंग अविकल रूप में सुसज्जित है। हम केवल यज्ञ की भावना पर ही परिमित नहीं रहे हैं, किन्तु उसके भौतिक क्रियात्मक रूप में भी कोई कोर-कसर रहने नहीं दी गई है।

इस यज्ञ के लिये हमने स्वयं गायों को ही वेदि के समीप ला खड़ा किया है। हम चाहते हैं कि हमारे इस सर्वाङ्ग-

सुन्दर यज्ञ में शुद्ध दूध ही की आहुति पड़े। किसी प्रकार की मिलावट—किसी प्रकार की अपवित्रता, इस में न आने पावे। पृथिवी गौ है, किरण गौ है, वाणी गौ है। सच तो यह है कि संसार की, पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों की—सभी शक्तियाँ गायें हैं। उन सबका दूध यज्ञार्थ उपस्थित है।

अब आवश्यकता तो यह है कि वेदि पर अग्नि-आधान कर दिया जाय, अग्नि-देव ही इस शुद्ध दूध का पान कर सकता है। पान पीना भी है और सुरक्षित करना भी। जो आहुति अग्नि के मुख में जा पड़ी, वह सर्वथा सुरक्षित हो गई। भौतिकी का पहिला हीं तो सूत्र है कि जब बत्ती जलाई जाती हैं तो उसका कोई भी अंश नष्ट नहीं होता। किसी भी वस्तु का सदुपयोग यही है कि उसे अग्नि के अर्पण कर दिया जाय। यही नहीं, किसी भी सार-युक्त पदार्थ का सार, उसे अग्नि के ऊपर रख कर ही निकाला जा सकता है। अग्नि के मुख में पड़ी चीज आहुति कहलाती है। आहुति देवताओं का भोजन है। गायें विद्यमान हैं परन्तु उनके दुग्ध का दोहन यज्ञ ही के द्वारा किया जा सकता है। यज्ञ विश्व-रूपी कामधेनु का स्तन है। दूध स्तन ही के रास्ते उतरेगा। दूध बन कर गाय का सभी खाया पिया सफल हो गया। यही "गोपीथ" है।

हे अग्नि-देव ! प्राणों की धौंकनी तुझी को धौंकती है। मेरे श्वास-प्रश्वास तुझी को प्रदीप्त कर रहे हैं। तू है तो बिश्व-रूपी गाय का दूध भी है, और उसका आस्वादन भी। तेरे विना यह दूध न तो दोहा ही जा सकता है और न पिया।

हे अग्नि-देव ! मेरे प्राणों में तू बस जा। प्राणों ही से तो जीवन है। और तू जीवन-याग का संपादयिता। जहाँ प्राण की पहुँच है तहाँ तेरी। यह हवा तुझे जगाये रहती है, चमकाये रहती है। जीवन-यज्ञ हो तो रहा ही है परंतु इस की अनुभूति नहीं होती। मैं यज्ञ-भाव से जियूँ—यह भावना मेरे श्वास-प्रश्वास में पैदा कर दे। यही तेरा, हवा के कन्धों पर चढ़कर आना है। आ ! वायु के झकोलों को रथ बना कर आ। मेरे साँस तेरी सवारी हों। आ ! मेरे साँसों को अपने यज्ञ की धौंकनी बनाता हुआ आ ! आ।

***

साम्राज्य-याग

अश्वं न त्वा वारवन्तं वन्दध्या अग्निं नमोभिः।
सम्राजं तमध्वराणाम् ॥ ७॥ १७

ऋषिः—शुनःशपः एश्वय्यस्पर्शी।

हम (नमोभिः) नमस्कारों, अन्नादि धन-धान्य तथा वज्रादिक शासन-शक्तियों द्वारा (त्वा) तुझ (तम्) प्रसिद्ध (अग्निं) अग्नि-देव की (वन्दध्यै) वन्दना में प्रवृत्त होते हैं जो (अध्वराणाम्) हिंसा के मिटानेवाले [राज-] यज्ञों का (वारवन्तम्) लम्बे-लम्बे बालोंवाले (अश्वं न) घोड़े की तरह (सम्राजम्) जाज्वल्यमान सम्राट् है।

अराजकता दो प्रकार की हो सकती है—एक धार्मिक लोगों की जो एक दूसरे के अधिकारों का अपने-आप ध्यान रखते हैं, जिनका लक्ष्य दीन-दुःखी की रक्षा करना है, जो

तन, मन, धन का उपयोग यज्ञार्थ ही करते है; दूसरी बलात्कारियों की जो जीवन-होड़ को ही अपना ध्येय मानते हैं, जिनके शरीर की, बुद्धि की, धन-धान्य की—सब प्रकार की शक्ति अत्याचार के अर्पण है, जो चोरी-जारी, लूट-खसूट में अपने जीवन की सफलता समझते हैं।

साधारण-जनों की प्रवृत्ति इस दूसरे प्रकार की अराजकता को ओर है। इस अराजकता में मत्स्य-न्याय ही काम करेगा। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाएगी। जिसकी लाठी उसकी भैंस—समाज की इस अवस्था का यही मूल सूत्र होगा। यह स्थिति हिंसा ही का दूसरा रूप है।

राष्ट्र की सृष्टि इस हिंसा-वृत्ति के निरोध के लिये की जाती है। मनुष्य आपस के सहयोग से, सहकारिता से कार्य कर सकें—इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर राष्ट्र की स्थापना की जाती है। राष्ट्र एक यज्ञ है जिसमें व्यक्तियों की, धन तथा जन की, शक्ति आहुति बना कर डाली जाती है। ब्राह्मण नमस्कार-स्वरूप है तो क्षत्रिय वज्र-स्वरूप और वैश्य अन्न-स्वरूप। राष्ट्र के अंग बन कर ये सभी वर्ण एक दूसरे की सेवा में लग जाते हैं। ये यज्ञ करते हैं। जिस शक्ति का प्रयोग अराजकता की अवस्था में अत्याचार के लिये—परस्पर हिंसा के लिये—हो रहा था, वही शक्ति अब राष्ट्र-याग की आहुति बन कर हिंसा की निरोधक-मूर्त "अध्वर" बन जाती है।

वैयक्तिक अत्याचार का उपाय राष्ट्र-यज्ञ की स्थापना है। परन्तु फिर राष्ट्र भी तो आपस में बलात्कार कर सकते हैं।

पहिले जो हिंसा-वृत्ति व्यक्तियों तक परिमित होकर कुछ अधिक बलवती न थी, वह अब राष्ट्र के रूप में संघटित होकर अत्यन्त भयंकर बन गई है। पहिले व्यक्तियों-व्यक्तियों में मुठभेड़ हो जाती थी, अब विश्व-व्यापी युद्ध होते हैं। हिंसा निरुद्ध होने के स्थान में सुसंघटित हो गई है। राज्य अध्वर नहीं बना, वह उलटा "ध्वरता" की—हिंसकता की पराकाष्ठा बन गया है।

इस अन्तर्राष्ट्रिय हिंसा-वृत्ति का उपाय है साम्राज्य—Commonwealth। जैसे व्यक्तियों ने आपस के समझौते से अपनी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी शक्तियाँ राष्ट्राग्नि का नमो-नैवेद्य बना दीं, वैसे ही भिन्न-भिन्न राष्ट्रों को अब अपना सम्पूर्ण जन-बल, धन-बल, मनो-बल, वेद के शब्दों में नमोबल-विश्वाग्नि की आहुति बना देना चाहिए। मानव-जाति का अविकल अबाधित विकास तभी हो सकता है; जब सभी राष्ट्रों का साम्राज्य-सूत्र-द्वारा परस्पर संघटन हो जाए। राष्ट वास्तविक अर्थों में तभी "अध्वर" हो सकते हैं जब ये स्वयं किसी अपने से विशालतर "अध्वर" की आहुति बन जाएँ।

इस साम्राज्य-यज्ञ का सम्राट् अग्नि है। वही विश्व-याग का देवता जिसका लेना और देना पर्याय है, जो खाता है इसलिये कि उसका खाया हुआ, पचाया हुआ अन्न विश्व-याग की आहुति बने। जिस व्यक्ति में, जिस जाति में, जिस भी मानव-समुदाय में यह भावना मूर्त हो जाए, वह भी अग्नि है। मानव-जाति का अग्रणी वास्तव में वही मनुष्य अथवा मानव-समुदाय हो सकता है।

आर्यों की दिग्विजय का घोड़ा इस साम्राज्य-याग की आग का प्रतिनिधि है। उसके लम्बे, लटक रहे बाल यज्ञाग्नि की ज्वालाएँ हैं, जो राष्ट्रों की पारस्परिक हिंसा-वृत्ति की वर्जक हैं, निरोधक हैं। राजसूय-यज्ञ में इस घोड़े की पूजा यज्ञाग्नि की पूजा है। घोड़ा यज्ञाग्नि का उपलक्षण-मात्र है।

हमारे सम्पूर्ण नमो-निवेदन इस यज्ञाग्नि के लिए होने चाहियें। हम वैश्य हैं तो अन्न से, क्षत्रिय हैं तो बल से और वज्र से, ब्राह्मण हैं तो अपनी दिव्य नम्रता से इस साम्राज्य-याग की आग को नमस्कार करें। पृथिवीतल का कोई व्यक्ति अग्नि-देव की इस वन्दना से वंचित न रहे।

हे विश्व-याग की आग! तू ही हमारे दिग्विजय का दिव्य अश्व बन जा। तुझे आगे लगा कर हम तेरे पीछे-पीछे चलते हुए विश्व-भर की यात्रा कर जाएँ। विश्व में यज्ञ-भाव का प्रसार कर जाएँ। एक ऐसी आग जला जाएँ जो वैर-विरोध को भस्म कर, संसार-भर के राष्ट्रों को सहयोग के, स्नेह के, सहकारिता के सूत्र में बाँध दे। मानव-समाज एक हो जाए। विश्व में अग्नि-देव ही का साम्राज्य हो जाए। सभी राष्ट्र अध्वर हो जाएँ। इनमें सिद्धि की, समृद्धि की, सर्वांगीण विकास की आग चमक उठे। सब ओर जीवन की—यौवन की बहारें हों, लपटें हों।

इस लपटोंवाली आग को हम नमस्कार करते हैं, सर्वात्मना नमस्कार करते हैं। यदि आज तक इस नमो-निवेदन में प्रमाद रहा है तो आज हम इसमें अपनी समग्र शक्ति को जुटा देते हैं। हमारी सम्पूर्ण भक्ति, सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण सम्पत्ति इस अग्नि के लिए नमस्कार-रूप है।

पवित्रता के पारावार

औ॑र्वभृगुवच्छुचिमप्नवानवदाहुवे ।
अग्निं॑ समुद्रवाससम् ॥ ८॥ १८

ऋषिः—प्रयोगः=श्रेष्ठ युक्तियोंवाला ।

मैं (समुद्रवाससम्) हृदय-समुद्र में बस रही (शुचिम्) पवित्र (अग्निम्) यज्ञाग्नि का (आहुवे) इस प्रकार आवाहन करता हूँ, (और्वभृगुवत्) जैसे पृथिवी की उपज को पका रहा किसान (समुद्रवाससम्) आकाश-समुद्र को आच्छादित कर रही (शुचिम्) चमकीली (अग्निम्) विद्युत् को या (अप्नवानवत्) जैसे उद्योग-धन्धों के ताने-बाने में लगा शिल्पी (समुद्रवाससम्) समुद्र में बस रही (शुचिम्) जलाने तपाने वाली (अग्निम्) बिजली को।

समुद्र सभी अग्नि के घर हैं। यों तो पानी और आग का वैर है परन्तु विद्युत्-रूपी आग को यदि कहीं बसने को—आराम से रहने को—स्थान मिला है तो वह पानी ही की उत्तुङ्ग तरङ्गों में। बिजली संघर्ष से पैदा होती है। जहाँ पानी के दो बिन्दु टकरा गए वहीं आग पैदा हो गई। आकाश—समुद्र में व्याप रही बिजली का यही रहस्य है। आकाश पानी का घर है। इस में वाष्प-रूप में पानी ही पानी भर रहा है। और जहाँ पानी है, वहीं आग है। यही अवस्था पृथिवी की है। एक-एक झरना आग बरसा

रहा है। समुद्र की लहरों को टकराने दीजिये, उन में झट आग पैदा हो जायगी।

अग्नि-देव निर्माता-सृष्टिकर्त्ता-देव है। इसमें निर्माण की—उपज की—अनन्त शक्ति निहित है। संसार में ताप और प्रकाश इसी की करामातें हैं। "शुचि" का अर्थ ही है—ताप तथा प्रकाश का देनेवाला। बिजली की एक विशेषता यह भी है कि इसका ताप तथा प्रकाश अत्यन्त पवित्र होता है। अग्नि किसी भी अन्य प्रकार से पैदा की जाए, वह धुआँ देगी। इसके विपरीत बिजली में धुआँ होता ही नहीं। "शुचि" शब्द का एक और अर्थ 'पवित्र' है।

इस पवित्र आग का प्रयोग कृषि तथा व्यवसाय दोनों में ही हो रहा है। किसान इसके द्वारा अपनी खेती पका रहा है तो शिल्पी अपने सम्पूर्ण व्यवसाय का ताना-बाना विद्युत् के प्रखर और कोमल करों द्वारा तन रहा है। संसार के समस्त द्रव्य-जात को अन्न बना लेनेवाला अग्नि-देव किस चमत्कार पूर्ण सौंदर्य से अपना खाया-पिया फिर से मानव-समाज को लौटा देता है। जहाँ खेती की उपज इसी अग्नि-देव की देन है, वहाँ सब उद्योग-धन्धे भी इसी अग्नि-देव ही की कृपा से चल रहे हैं।

आकाश की कोख में करवट ले रहा समुद्र तथा पृथिवी-तल पर लहरा रहा समुद्र—ये दो तो बिजली के क्रीडागार हैं ही। इन दोनों से विलक्षण एक और समुद्र है जो मेरे हृदय में हिलोरें ले रहा है। उसकी तरङ्गें संसार के किसी अन्य समुद्र से कम उत्तुङ्ग, कम उच्छृङ्खल नहीं हैं। ये तरङ्गें

भी विप्लव लाती हैं, उथल-पुथल मचाती हैं। संसार का इतिहास आदि से अन्त तक मानवीय हृदय-सागर की इन उत्तुङ्ग तरङ्ग का ही, एक अत्यन्त त्रुटित-सा वृत्तान्त है। मानव-सागर की इन विप्लव-कारिणी लहरों में अग्नि-देव सो रहा है। इस पानी में भी वाडवानल है। वह आध्यात्मिक नाप तथा अध्यात्मिक प्रकाश का एक अत्यन्त पवित्र पुञ्ज है। मेरे कर्म की कृषि, मेरे मानसिक, वाचिक, कायिक—सभी प्रकार के आचरण का व्यापार, जीवन का सम्पूर्ण धन्धा मेरे हृदय-समुद्र में सो रही इस चमकीली, लजीली, रसीली बिजली द्वारा ही चलता है।

किसान सूर्य्य के ताप का पुजारी है, व्यावसायिक समुद्र की कोख में सो रहे प्रकाश का व्यापारी है तो मैं अपने हृदयाकाश के पालने में हिलोरें ले रही आध्यात्मिक बिजली का भिखारी हूँ। मैंने अपनी पुकार अपने ही हृदय-मन्दिर के द्वार पर मचा रखी है। मैं इस यज्ञाग्नि का आह्वान करता हूँ। इसी की पवित्रता में अन्य दोनों समुद्रवासी अग्नियाँ पवित्र हो रही हैं। मेरा पवित्र संकल्प ही मेरी खेती तथा शिल्प को यज्ञ का रूप देता है। यज्ञाग्नि का प्रकाश मनुष्य के हृदय ही में होता है। मेरी भावना यज्ञ-मयी हो, तभी संसार-भर का मेरा बाह्य व्यापार यज्ञमय हो सकता है।

पृथिवी की कोख में सपूर्ण मानव-समाज का भोजन निकाल लानेवाले किसान ! तू आकाश-सागर की अग्नि को मथ। व्यवसाय के विस्तार से श्रमी जगत् का पेट भरने

वाले कलाकार! तू समुद्र की तरङ्गों में से बिजली का आह्वान कर। मैं अपने हृदय की अरणियों को घिसाऊँगा। उनसे आत्मबोध की विद्युत् को प्रकाशित करूँगा। इस आग में तुम दोनों की आग समा जायगी। तुम दोनों की आग का स्वरूप यज्ञ की आग का स्वरूप हो जायगा। वह स्वरूप परम पवित्र है, परम पुनीत है, परम "शुचि" है। मेरे हृदय की पवित्रता ऊपर नीचे—दोनों ओर पवित्रता के पारावार-से बहा देगी।

***

आग को आग समझो

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः।
अग्निमिन्धे विवस्वभिः ॥६॥ १६

ऋषिः—प्रयोग =उत्तम उपायोंवाला।

(अग्निम्) अग्नि को (इन्धानः) प्रदीप्त करते हुए (मर्त्यः) मनुष्य (मनसा) मन से (धियम्) [इस प्रकार का] ध्यान (सचेत) करे कि (विवस्वभिः) भाँति-भाँति की जीवन-ज्योतियों से मैं (अग्निम्) यज्ञाग्नि को ही (इन्धे) प्रकाशित कर रहा हूँ।

मनुष्य खेती करे, व्यवसाय करे—कोई भी व्यवसाय करे, उसे अग्नि को तो प्रज्वलित करना ही होगा। संसार के सभी कामों को सिद्ध करनेवाली, ताप ही की शक्ति है, जिसे वेद अग्नि कहता है। बिना ताप के किसी भी कार्य की पूर्त्ति नहीं हो सकती।

किसान खेती के परिपाक के लिए सूर्य की किरणों का सहारा लेता है। व्यावसायिक अपने शिल्प के लिए समुद्र में सो रही विद्युत्-शक्ति को जागृत करता है। कोई अपने तन को गति दे रहा है, कोई अपने मन को। ये सब खेत अग्नि-देव के हैं। कोई किसी भी प्रकार से अग्नि-देव से काम ले, उसके हृदय में एक ही भावना रहनी चाहिए। वह यह कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ। मेरे जीवन की सभी ज्योतियाँ यज्ञाग्नि की भेंट हैं।

जीवन के सम्पूर्ण व्यापारों का लक्ष्य यज्ञाग्नि ही को प्रदीप्त करना है। धन से हो, जन से हो, मन से हो—मनन-जीवन के किसी भी वैभव से हो, करने योग्य कार्य केवल यही है—यज्ञाग्नि का आधान।

कर्म तो मनुष्य यों भी कर लेता है। संसार की कोई क्रिया बिना अग्नि की उपासना के नहीं हो सकती। अग्नि जलाने का अर्थ है—क्रिया करना। सो अग्नि को जलाते हुए, अर्थात् कोई भी क्रिया करते हुए, हमारे मन में भावना यही रहनी चाहिए कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ। यज्ञिय-जीवन की प्रत्येक क्रिया यज्ञ के अर्पण होनी चाहिए। हमारी सभी शक्तियाँ, संसार की बस्ती में बसने के सभी सामान यज्ञिय हैं। ब्रह्माण्ड में एक व्यापक यज्ञ तो अपने आप ही हो रहा है। उस अग्नि की कोई-कोई चिनगारी ही हमारे जीवन के किसी-किसी पहलू को चमका जाती है। कृतज्ञता की नीति यही है कि—यज्ञ की इन चिनगारियों को—मानव ज्योति की इन ज्योतियों को फिर से यज्ञ ही के अर्पण कर

दिया जाए। यज्ञ का संकल्प जीवन को अपने आप पवित्र बना देता है। साँस तो यों भी चले जाते हैं, यों भी। यदि हमने इनसे यज्ञाग्नि प्रज्वलित कर दी तो ये अपने आप देवताओं के हव्य अर्थात् अन्न बन गए। क्रियात्मक संसार है ही भावना का—मन के संकल्पों का।

आग जलाई भी परन्तु उसमें यज्ञ की बुद्धि पैदा ही न की। यह दोष आग का नहीं, जलानेवाले का है। आग की प्रदीप्ति तो अपने आप भी हो ही रही है, उसे यज्ञ की आग समझ लेने से वह एक विशेष पवित्रता धारण कर लेगी जो हमारे क्रियात्मक ताप को यज्ञिय बना देगी।

तो हे—अग्नि-देव! हमें तो यह आग जलानी ही है। तुम हमारे उपास्य होकर जलो। तुम प्रदीप्त होने की अनुभूति भी हमारे हृदय में पैदा कर दो। हम आग को आग समझें, राख नहीं। याग की आग।

***

स्रष्टा का संकल्प

आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्।
परो यदिध्यते दिवि॥१०॥२०

ऋषिः—वत्सः=बालक।

(आत् इत्) इस ध्यान के आते ही ध्यानी जन (वासरम्) जीवन में आनन्द पैदा करनेवाले (प्रत्नस्य रेतसः) जगत् के सनातन कारण की (ज्योतिः) उस ज्योति का (पश्यन्ति) दर्शन करते हैं, (यत्) जो (परः) पीछे से (दिवि) द्युलोक में (इध्यते) प्रकाशित हो जाती है।

ब्रह्माण्ड का सनातन-कारण प्रभु का संकल्प है। वह सृष्टि का पहिला मानस वीज है—'मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' ऋ० (१०।१२९।४) उसी वीज से इस जगत् की समस्त रचना हुई है। परमाणु विद्यमान थे परन्तु उनमें संयोग की प्रवृत्ति सृष्टि-कर्त्ता के ईक्षण ही से हुई।

संसार में सृष्टि और प्रलय का चक्र तो चलता ही रहता है। आधुनिक वैज्ञानिकों का भी एक समूह इस बात को स्वीकार कर रहा है कि इस संसार पर एक ऐसा युग आने वाला है जब यह जल कर राख हो जायगा। इसकी जीवन-ज्योति बुझ कर रह जायगी। प्रलय के बाद संभवतः सृष्टि की फिर से प्रवृत्ति हो।

अचेतन प्रकृति के स्वभाव में तो एक ही प्रवृत्ति रह सकती है—या संयोग की अर्थात् सृष्टि-उन्मुख या वियोग की अर्थात् प्रलयोन्मुख। एक ही गुणी दो विरोधी गुणों का आधार नहीं हो सकता। जब किसी पदार्थ में दो विपरीत प्रवृत्तियाँ प्रतीत हों तो समझ लेना चाहिये कि इन प्रवृत्तियों का प्रेरक कोई चेतन है। जड़ पिण्ड तो एक दिशा में जाता-जाता अपने आप दूसरी दिशा में नहीं जा सकता। जाने से अपने आप रुक भी तो नहीं सकता। दिशाओं का परिवर्त्तन अथवा स्थिति तथा गति का निरोध स्वेच्छा से चेतन ही कर सकता है। सृष्टि और प्रलय का क्रमिक प्रवाह इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि इस प्रवाह का संचालक कोई बुद्धिमान् है। जगत् का निमित्त कारण चेतन है। बुझ गई जीवन-ज्योति को फिर से प्रज्वलित कर देनेवाली

चिनगारी सृष्टि-कर्त्ता ही का आदिम संकल्प है। वह संकल्प यज्ञमय है। ब्रह्माण्ड की आदि-मूल यज्ञाग्नि प्रभु के सृष्टि-संकल्प ही से पैदा हुई है।

आज भी जब ध्यानी अपने हृदय-समुद्र में ध्यान की डुबकी लगाता है, तो वह यज्ञ-भावना की ही सो रही बिजली को जगाता है। यह यज्ञ-भावना सारे संसार की वास सामग्री को—जीवन-ज्योति को आनन्दमय बना देती है। मानव-हृदय में यज्ञ के संकल्प का उदय, छोटे पैमाने पर प्रभु के आदिम सृष्टि-संकल्प का नया अभिनय ही तो है। प्रभु के संकल्प की झाँकी यजमान के अपने मन में हो रही है। कलाकार की कृति इस कारण रमणीय नहीं कि रुपयों-पैसों में उसका दाम अधिक है। उसकी समस्त रमणीयता कलाकार के कला-कौशल ही के कारण है। चित्रकार ने दामों के लिये नहीं, किन्तु अपने मन की सन्तुष्टि के लिये—स्वान्तः-सुख की प्राप्ति के लिये—पूरी तन्मयता से चित्र का निर्माण किया था। आज भी उस चित्र की रमणीयता चित्रकार की उस रमण-वृत्ति को प्रकाशित कर रही है। ऐसे ही, ब्रह्माण्ड में खेल रही सभी ज्योतियाँ उस प्रथम ज्योति की रमणीय लीला की मद्धम-सी प्रतिमाएँ हैं जिसने सृष्टि के प्रथम प्रभात में उदित हो विश्व को ज्योतियों का रमणागार बनाया था। द्युलोक में प्रकाशित हो रही दीप्तियों का प्रकाश पीछे हुआ। ये दीप्तियाँ तो उस सनातन प्रकाश की चिनगारियाँ ही हैं। परन्तु इन चिनगारियों में उनकी मूल-भूत प्रभु के हृदय की संकल्पाग्नि का दर्शन तभी हो सकता है जब

कि ध्यानी के अपने मन में यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करने की शुभ-कामना विद्यमान हो। मनुष्य स्रष्टा बने, निस्स्वार्थ निर्माण-कर्त्ता। उसकी बुद्धि विश्व-याग की आग की ही एक ज्वाला-सी बन जाए। फिर अग्नि और उसकी ज्वाला में तो भेद ही क्या है? जिसने ज्वाला के दर्शन कर लिये, उसने अग्नि के भी। सृष्टि-कर्ता के सृष्टि-संकल्प की संक्षिप्त प्रतिमा मेरे अपने हृदय में विद्यमान है।

जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली।

नाती

अग्निं वो वृधन्तमध्वराणां पुरूतमम् ।

अच्छा नप्त्रे सहस्वते ॥ १ ॥ २१

ऋषिः—प्रयोगः=उत्तम-युक्ति-युक्त ।

हम (वः) तुम्हें (पुरूतमम्) बड़े-से-बड़े जन-समुदाय को (अग्निम्) आगे ले जानेवाले अग्नि-देव की (अच्छ) ओर (आ) प्रवृत्त होते हैं। (अध्वराणाम्) जो अहिंसा आदि व्रतों की (वृधन्तम्) वृद्धि करनेवाला है। (सहस्वते नप्त्रे) जो बल की सन्तति को गिरने नहीं देता, स्थिर रखता है।

मनुष्य पशु भी है, देव भी। इसमें दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। यज्ञ का उद्देश्य पाशविक अंश का सुधार कर उसे दिव्य अंश में परिवर्तित कर देना है। काम क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—अपने निकृष्ट-रूप में ये सभी गुण पाशविक हैं। परन्तु यज्ञिय भावनाओं द्वारा इन्हीं का दिव्य संस्कार कर, स्वयं इन्हीं को दिव्य गुण बनाया जा सकता है। काम सन्तानोत्पत्ति का साधन है, क्रोध दुर्व्यवहार के दमन का। लोभ धनोपार्जन का, लोकोपकारार्थ धन इकट्ठा करने का—साधन बनाया जा सकता है। मोह प्रेम में परिवर्तित किया जा सकता है। अहंकार का परिष्कृत रूप आत्माभिमान है जो अनुचित अत्याचार को सहन नहीं कर सकता।

मनुष्यों को आपस में मिला दो। उन्हें सहयोग के

जीवन का पाठ पढ़ा दो। वे हिंसक के स्थान में रक्षक हो जाते हैं। इसी वृत्ति को वेद ने "अध्वर" नाम से पुकारा है। इसी वृत्ति का एक और नाम यज्ञ-वृत्ति है।

यज्ञ का अर्थ है संगतिकरण। केवल मेल ही नहीं, संगति-पूर्वक मेल। संगति अनुकूलता को कहते हैं। जब मनुष्य अकेले से दुकेला होता है, किसी को अपने जीवन का साथी बनाता है तो वह एक प्रकार से प्रतिज्ञा करता है कि वह साथी की इच्छाओं तथा आवश्यकताओं का ध्यान रखेगा। उसके लिए अपनी इच्छाओं तथा आवश्कताओं की बलि देगा। यही अध्वर-वृत्ति है। यह वृत्ति, एक से अनेक होने की भावना से, अपने आप पैदा होती है। मनुष्य की सामाजिकता इसी एक से अनेक होने में—अधिक से अधिक संख्या की बस्ती बसाने में है। यह अग्नि "पुरूतम" है। जो समझौता दो व्यक्ति एक दूसरे के साथ कर सुख-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, वही दो सौ, दो हज़ार, दो लाख, दो करोड़, दो अरब लोगों में हो जाने से ही इस 'अध्वर' की वृद्धि होगी। केवल परिवारों, नगरों, देशों, राष्ट्रों ही को संघटित करने की आवश्यकता नहीं, किन्तु इस यज्ञाग्नि की ज्वालाओं द्वारा सम्पूर्ण मानव-समाज को आच्छादित कर देने से ही मानवीयता की पूरी उन्नति हो सकती है। यज्ञाग्नि इस मार्ग में अग्रणी है। मानव-सभ्यता की पराकाष्ठा इसी में है कि वह 'पुरूतम' हो अर्थात् मानव-जाति पर व्यापक।

मानवीयता का बल यज्ञ में है। पाशविक शक्ति का

विकास मनुष्यों को बलवान् बनाता है सही, परन्तु बुद्धि-बल के सामने शारीरिक बल हार जाता है। बुद्धि-बल भी जब तक एक-एक व्यक्ति ही तक परिमित है, वह पारस्परिक प्रवञ्चना के कार्य में लग कर आत्मनाश करता है। एक व्यक्ति की बुद्धि अन्य व्यक्तियों की बुद्धि को मात कर कुछ समय के लिए क्षणिक विजय-सी तो मना सकती है परन्तु इससे कोई स्थायी शक्ति पैदा नहीं हो सकती। स्थायी शक्ति पैदा करने के लिए मानव-जनों के बलों तथा बुद्धियों को सुसंगत करने की आवश्यकता है। संघटन द्वारा ही इनमें स्थिरता पैदा की जा सकती है। शक्ति की शृङ्खला विच्छिन्न न हो, उसमें सन्तति-भाव पैदा हो जाए। इसके लिए उसे यज्ञ का रूप देना चाहिए।

मानव-समाज बलवान् हो। वह काल के हिचकोलों को सह सके और फिर भी जपनी मानवीयता को स्थिर रखे, उसका बल "नप्ता" हो, न गिरनेवाला, सन्तत—इसका साधन एक ही है, "पुरूतम" यज्ञ=मानवों की बड़ी-से-बड़ी संख्या को सहयोग के सूत्र में बाँध देना, उसमें प्रेम की, प्यार की, पारस्परिक उपकार की, मानव दया की आग प्रज्वलित कर देना।

हमारा ध्येय उसी विश्वाग्नि ही की ओर जाना है—उसी की ज्वाला बनना है उसी में आत्माहुति देना है। हमारे समाजों, समुदायों, राष्ट्रों, देशों, सम्प्रदायों, सम्मेलनों—इन सबकी स्थापना का उद्देश्य एक ही है—'पुरूतम' अग्नि। दूसरे शब्दों में विश्व-याग की आग—का प्रदीप्त करना।

यही "सहस्वान्" बलिष्ठ अग्नि है, यही "नप्ता"—न गिरने वाली अमर-अग्नि है। यही आग मनुष्य की वास्तविक बन्धु है; वास्तविक पुत्र-पौत्र, वेद के शब्दों में नाती है। यही उसकी सुकृत की, सुयश की, सुशक्ति की, वास्तविक सन्तान—न टूटनेवाला तार है। मनुष्य इसी आग को पाकर—इसी दिव्य विमान पर चढ़ कर—अमर हो जाता है।

***

भूख का उपभोग

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यंसद्विश्वं न्या३त्रिणम्।
अग्निर्नोवꣳसते रयिम् ॥२॥ २२

ऋषिः—भरद्वाजः=अन्न द्वारा पालनेवाला।

(अग्निः) यज्ञाग्नि (तिग्मेन) अपने उग्र (शोचिषा) तेज से (विश्वम्) सब (अत्रिणम्) पेटू स्वार्थियों को (नियंसत्) वश में रखे। (अग्निः) यज्ञाग्नि (नः) हमें (रयिम्) धन-धान्य का आनन्द (वंसते) देती है।

धन न तो रुपये पैसे का ही नाम है, न उस खाने-पीने की सामग्री का जिसका उपभोग धनी लोग करते प्रतीत होते हैं। "रयि" तो नाम उस आनन्द का है जो उपभोग के इन साधनों से मिलता है। साधन सभी विद्यमान हों परन्तु उपभोक्ता में उपभोग की शक्ति न हो तो वह साधन विद्यमान हुए न हुए एक-से हैं। भोजन का स्वाद लेने के लिये जहाँ भोजन की आवश्यकता है, वहाँ भूख की भी। अधिक खाने से अजीर्ण हो जाता है, और इस अवस्था में मीठा भोजन

भी कडुवा लगने लगता है। खाने का मज़ा लेने के लिए संयम चाहिये। जठराग्नि प्रदीप्त हो और वह उतना ही अन्न अंगीकार करे जितना वह पचा सकती है, तभी अन्न, अन्न रहता है। अन्यथा वह अत्ता बन जाना है—स्वयं खानेवाले को ही खा जाता हैं। संसार में भोग्य पदार्थों की कमी नहीं है। कमी अत्ताओं की है—ऐसे अत्ताओं की जो संयम-पूर्वक खाएँ, आनन्द ले-ले कर खाएँ। "रयि"—रमणीय धन-धान्य तो यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है परन्तु उसे कोई रहने भी दे।

उपभोग को आनन्द-दायक बनाने का एक और भी गुर है—बाँट कर खाना। अकेले खाने में वह मज़ा नहीं आता जो मिल कर खाने में। सहभोज भोजन को अधिक स्वादु बना देता है। जहाँ कष्ट मिल कर भोगने से आधा रह जाता है, वहाँ सुख बाँट कर भोगने से दूना हो जाता है।

इससे भी ऊँचा सुख, दूसरों को सुख देने में है। किसी भूखे की भूख मिटाने में जो आध्यात्मिक तृप्ति होती है, वह अपना पहिले से भरा हुआ पेट भरने में कहाँ है ? अपने मुख का ग्रास दूसरे के मुख में डाल कर प्रसन्न होना—यह एक अलौकिक आह्लाद है। माता के जीवन में यह घटना प्रतिदिन घट रही है। पिता का पितृत्व इस अलौकिक आह्लाद का आनन्द लेने में ही है। जिनका जीवन यज्ञिय है, वे दूसरों का दुःख दूर होने में ही अपने लिए सुख की सामग्री प्राप्त करते हैं। यज्ञाग्नि "अत्रित्व" का—पेटूपन का नाश कर देती है। स्वार्थी को अपने वश में कर उसके

स्वार्थ को यज्ञार्थ बना देती है। अब दूसरों का स्वार्थ उसका अपना स्वार्थ बन जाता है। उसका "स्व" विशाल हो जाता है। वह "अत्री" न रह कर "अत्ता" बन जाता है। अब वह धन का दास नहीं, प्रत्युत स्वामी बन जाता है। वह धन के विना भी रह सकता है, धन के साथ भी। और दोनों अवस्थाओं में वह इस अपनी स्थिति का उपभोग यज्ञार्थ करता है। यज्ञार्थ मरना भी यज्ञार्थ जीना है और यज्ञार्थ जीने के तो कहने ही क्या हैं? यज्ञाग्नि का महत्व इसी में है कि धनाभाव को भी एक विशेष प्रकार का धन बना दे। जिसका जीवन यज्ञमय है वह रंक भी राजा है। "रयि" आनन्द का नाम है और यदि किसी ऊँचे उद्देश्य के लिये रंक रहने में वही आनन्द मिल जाए जो अन्यथा राज-गद्दी पर बैठकर भी प्राप्त न होगा, तो रंक रहने में घाटे का सौदा ही क्या है?

"रयि" का "रयित्व" यज्ञाग्नि में है। याग की आग इतनी प्रदीप्त हो जाए कि "अत्रित्व" का—संकुचित स्वार्थ का नाम-निशान भी न रहे। उसके तीखे तेज से सभी सुकड़ाव, सभी हिचकिचाहटें, सभी संकोच नष्ट हो जाएँ। विशाल विश्व हमारा "स्व" हो। हम खायें विश्व के मुख से—जाज्वल्यमान अग्नि की विश्व-व्यापक ज्वालाओं से। अग्नि को देवताओं का मुख कहा गया है। यजमान होकर हमारा मुख ही देवताओं का मुख हो जाए। हम अग्नि हों अर्थात् दूसरों की क्षुधा की तृप्ति करनेवाले। तब वास्तव में हमारा उपभोग "रयि"—रत्न-सम रमणीय उपभोग—होगा। उसमें

आनन्द की पराकाष्ठा होगी। अग्नि-देव खाता है हव्यदान के लिए। उसका उपभोग और हव्यदान पर्याय हैं।

यही भाव राष्ट्राग्नि का है। राष्ट्र की स्थापना स्वार्थी "अत्रियों" के नियमन के लिये हुई है—उन्हें अग्नि-मुख प्रदान कर वास्तविक अत्ता बनाने के लिए। पृथिवी की कोख में "रयि" बहुत है परन्तु वह किसी के काम नहीं आ रही। "अत्रियों" को अजीर्ण है, न खानेवाले भूखे हैं। दोनों को यज्ञ का उपासक बनाओ। दोनों को "रयि" प्राप्त हो जाए। रत्नगर्भा वसुन्धरा दोनों को रमणीय रत्न प्रदान करेगी। रत्न "रत्न" हों, रयि "रयि" हो। कोई रमण-कर्त्ता देव भी हो तो। देवताओं के रमण में—लीला में—यज्ञाग्नि चमके तब। तो क्या ऐसे रमणीय खिलाड़ी हमी न हो जाएँ? यज्ञाग्नि को अपना मुख—उपभोग का उपकरण, इन्द्रिय—बना लें। बस! फिर तो हम देव हैं ही।

***

दो तिनके

अग्ने मृड महाँ असयय आ देवयुं जनम्।
इयेथ बर्हिरासदम्॥ ३॥ २३

ऋषिः—वामदेवः=देवकाम।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (मृड) कृपा करो। (महान् असि) तुम महान् हो। (देवयुम्) उपासक (जनम्) जन की ओर (आ अयः) तुम आते हो। अतः (बर्हिः आसदम् इयेथ) कुशा के इस आसन की ओर आओ।

यज्ञ की आग, कृपा की, करुणा की आग है। इस आग को वही लोग जला सकते हैं, जो वास्तव में महान् हैं, जिनके हृदय महान् है, जो संकोच से ऊपर, हिचकिचाहट से पार हो चुके हैं, जो उपकार करते हैं परन्तु केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से।

ऐसे ही मनुष्य देवताओं के उपासक हो सकते हैं। देवता खिलाड़ी होता है। खिलाड़ी चाहे जीत जाए, चाहे हार, उसकी हमेशा जीत ही होती है। उसका हृदय कभी नहीं हारता। लीला निष्काम-कर्म का कैसा सुन्दर रूप है ? लीला सदा निर्लेप बुद्धि से की जाती है। दो पहलवान अभी लड़ रहे हैं, एक दूसरे को गिराने का भरसक प्रयत्न करते हैं। परन्तु ज्यों ही एक ने दूसरे को चित गिरा लिया, लीला समाप्त हुई। जो अभी एक दूसरे के जान-लेवा थे, अब परस्पर आलिङ्गन की क्रीडा कर रहे हैं। कोई वैर नहीं, विरोध नहीं। यही देव-वृत्ति है।

ऐसे महान् मनुष्यों के हृदय में अग्नि-देव स्वयं जागता है। जो देवता की ओर एक पग उठाते हैं, देवता सौ कदम बढ़ कर उनको स्वयं लेने के लिए आता है। फिर अग्नि तो अग्रणी देव है। उसका काम ही है उपासक को बढ़ाना। वह स्वयं आगे बढ़ता है और उपासक को यज्ञ के मार्ग पर अग्रेसर कर देता है।

हे मेरे जीवन की ज्योति ! मेरे पास और कुछ नहीं। कभी-कभी तुम्हारी कृपा से तुम्हारे कमनीय रूप की झाँकी-सी मिल जाती है। मेरे मन में कामना उठती है कि

तुम्हारा आवाहन करूँ। थोड़े से तिनके लेता हूँ और अपने प्राणों की धौंकनी से उन्हें धौंकने लगता हूँ। यों तो सारा संसार ही कुशा के—घास के—सिवाय और कुछ नहीं है। पर मेरे शरीर की हैसियत तो दो तिनकों से अधिक कुछ है ही नहीं। कवि के कथनानुसार—

है चार दिन का मेरा तिनकों का आशियाना।

आज इन्हीं तिनकों को फूँकने की सोची है। प्रभो! क्या ये फुँक सकते हैं? हाँ! यदि इनमें तुम्हारे तेज की एक चिनगारी आ जाए। पर वह आए कहाँ से? जब तक तुम कृपा न करो, मेरे सर्वमेध की सफलता असम्भव है। तुम यज्ञ-स्वरूप हो। महनीय-महिमा हो। तुम्हीं मेरे इस यज्ञ के संकल्प को सिद्धि का रास्ता दिखा दो।

अग्नि-देव! क्या यह सच है कि तुम रेशम के, ऊन के, सूत के बहु-मूल्य आसनों पर विराजमान नहीं होते हो? तुम्हें सिंहासनों से, चौकियों से, कुर्सियों से प्रेम नहीं है? तुम्हें केवल कुशा प्यारी लगती है, जो विना मोल सर्वत्र प्राप्त हो जाती है? कुशा लक्षण है त्याग का, तपस्या का, धन-रहित अध्ययन का। क्या तुम त्याग में, तपस्या में, निर्धन अध्ययन ही में प्रकट होते हो?

तो आओ! तुम्हारे लिए मैंने दर्भ ही का आसन बिछाया है—कटीले दर्भ का। इस कटीली कुशा की कठोर तपस्या स्वीकार करो, स्वीकार करो। तुम्हारी जरा-सी झाँकी मिल जाने से इसका मुख उज्ज्वल हो जाएगा। तपो-

मूर्त्ति ब्राह्मण तुम्हारे तेज से तेजोमय हो जाएगा। इस तपस्वी के पास दो तिनकों के सिवाय और है भी क्या? फिर आज तो यह इन्हें भी स्वाहा कर देने को खड़ा है। यह पक्का "देवयु" बन गया है। तुम से इसे यही दो तिनके जुदा कर रहे प्रतीत होते हैं। सो आज यह इन्हें भी तुम्हारी भेंट करता है!

अग्नि-देव! क्या तुम अब भी प्रसन्न न होगे, सर्वस्व स्वाहा करने पर भी यदि तुम्हें दया नहीं आती तो तुम्हारी कृपालुता एक मृगमरीचिका-सी है। तुम महान् नहीं हो, "मर्डन-शील" नहीं हो। भक्त तुम से अधिक महान् हो!

महत्ता की इस होड़ में, हे अग्नि-देव! तुम आगे निकल जाओ। भक्त तिनके लाया है, तुम चिनगारी लाओ। प्राणों की धौंकनी से आग अपने-आप प्रदीप्त हो जाएगी। फिर तो ये तिनके ही आग बन जाएँगे। उपासक और उपास्य एक होंगे। उनमें होड़ ही न रहेगी।

तो क्या इस होड़ का तमाशा देखने के लिए ही तुम विलुप्त हो? तुम इस तमाशे को बनाए रखना चाहते हो? या यह तमाशा स्वयं यज्ञ है? देव-लीला है? देव-यु अनजाने में देव बन चुका है। तिनके आग की भेंट होने मात्र से आग बन चुके हैं। कुशा यज्ञ है। वेदी यज्ञ है। हवि यज्ञ है। यजमान स्वयं यज्ञ-स्वरूप है। कृपा की सच्ची आकांक्षा प्रच्छन्न रूप से स्वयं कृपा की उपलब्धि ही है।

अग्नि-देव! तुम सचमुच आगे बढ़ते हो। अपने भक्तों को निहाल करते हो। भक्त के अन्दर से ही प्रादुर्भूत

होकर उसे भूल-भुलय्यों में डाल देते हो। आते हो। पर आने का पता तक नहीं देते। साधक साधना में बैठता है। उसे क्या पता कि साधना स्वयं सिद्धि है! प्रतीक्षा भी तो प्रियतम की प्रच्छन्न झाँकी ही है।

* * *

जरा-रहित

अग्ने रक्षा णो अंहसः प्रति स्म देव रीषतः।
तपिष्ठैरजरो दह ॥४॥ २४

ऋषिः—वसिष्ठः=सब से अधिक बसानेवाले।

(अग्ने देव) हे अग्नि-देव! (अंहसः) पाप तथा रोग से (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कीजिये। (अजरः) तुम जरा-रहित हो—जीर्ण-शीर्ण नहीं होते। (तपिष्ठैः) अपने अत्यन्त ताप-जनक प्रभावों के द्वारा (रीषतः) विनाशक शक्तियों को (प्रति स्म दह) जला जला कर राख कर दो।

हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में प्रतिक्षण लाखों-करोड़ों कृमि जी रहे हैं—खेल रहे हैं। इनमें से असंख्य ऐसे कृमि हैं जो हमारे जीवन के विघातक हैं। इनके मुकाबले में असंख्य ऐसे कृमि भी हैं जो हमारे जीवन के सहायक हैं—रक्षक हैं। इन दो प्रकार के कृमियों में हर समय जीवन-होड़-सी चल रही है। शरीर में जीवन-शक्ति—जिसे दूसरे शब्दों में जीवनाग्नि कहा जाता है—जितनी अधिक प्रबल होगी, घातक-कृमियों का उतना अधिक नाश होता जायगा। बचपने में यह शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर होती है। उस

समय जीवनाग्नि की बाढ़-सी आई रहती है। शरीर खूब बढ़ता है। रोग अपने आप नष्ट होते जाते हैं। चोट ज्यों ही लगी, झट भर गई। यौवन में भी इस शक्ति का मानो यौवन होता है। तब भी मनुष्य किसी प्रकार की क्षीणता को अनुभव नहीं करता। यदि मनुष्य भोग-विलास तथा आलस्य द्वारा इस जीवन-शक्ति का नाश न कर दे तो बुढ़ापे को दूर ही दूर रखा जा सकता है। मनुष्य मरण-पर्य्यन्त स्वस्थ तथा सशक्त रह सकता है। पुराने वैद्य इसी को रसायन कहते रहे हैं। यह रसायन प्राकृतिक जीवन ही का दूसरा नाम है। जीवनाग्नि को अजर-अमर रखने से मनुष्य सर्वथा नीरोग रह सकता है। रुधिर में जो भी घातक-कृमि आए, जरा-रहित जीवनाग्नि उसको तत्क्षण भस्म करती जाए। यही रोग-रहित दीर्घ-जीवन का रहस्य है।

आत्मा के क्षेत्र में यज्ञाग्नि प्रदीप्त कर देने से पाप का नाश होता है। इस आग को जरा सताती ही नहीं। वेद के शब्दों में यह आग सदा "यविष्ठ" है—जवानों से भी अधिक जवान। वास्तविक यौवन इसी आग का परिणाम है। यज्ञिय जीवन अदम्य उत्साह का, अटूट-साहस का जीवन होता है। इसमें नित नया तेज, नित नई ज्वाला पैदा होती रहती है। आलस्य तथा संकोच स्वार्थ की संतान हैं। जहाँ स्वार्थ का नाश हुआ, वहीं मानो अथाह असीम स्फूर्ति का जन्म हो जाता है। मनुष्य एक अपनी ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व की शक्ति का सहारा लेकर आगे बढ़ता है। अब उसे रोकनेवाला कौन है? पाप आत्मा का रोग है।

आत्मिक-जीवन के क्षेत्र में भी सुरासुर संग्राम चल रहा है। यहाँ कृति भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। सदाचार की शक्तियाँ देव हैं, दुराचार की दैत्य। अग्नि इन देवों का अग्रणी है। यज्ञ-भावना अन्य सभी दिव्य भावनाओं को, जहाँ प्रसुप्त अवस्था से जागृति की दशा में लानेवाली है, वहाँ उन्हें उत्तरोत्तर उन्नति का मार्ग दिखलानेवाली भी। यज्ञ-भाव सदाचार का मूल भी है, मध्य भी। फिर सदाचार की पराकाष्ठा भी यज्ञ ही में जाकर हुई है। सत्कर्म यज्ञ ही से पैदा होता है, यज्ञ ही में स्थिर रहता है और यज्ञ में ही उसकी पूर्णता है।

सत्कर्म का शत्रु दुष्कृत है। जहाँ यज्ञ से निर्माणात्मक क्रिया का विकाश होता है, वहाँ स्वार्थ से वैर-विरोध की उत्पत्ति होती है जो विनाश के मूल हैं। स्वार्थ अन्ततोगत्वा अपना भी हनन ही करता है। स्वार्थ की वास्तविक सिद्धि इसी में है कि वह यज्ञार्थ क्रिया में परिणत हो जाए। यज्ञाग्नि को जितना अधिक प्रदीप्त किया जाएगा, उसके ताप के प्रभाव से विनाशक भावनाओं का उतना ही नाश होगा।

हे हमारे शारीरिक तथा अन्तिम जीवन-याग की आग ! प्रज्वलित हो, प्रज्वलित हो। अपने उग्र तेज की लपटों से हमारे शरीर तथा आत्मा दोनों के रोगों को भस्म कर दे। दोनों में निर्माण की, काया-कल्प की नित नई सृष्टि पैदा करने की दिव्य-शक्ति पैदा कर दे। हमारा हर क्षण नया जन्म हो। नए जीवन से हम हर समय अजर होते जाएँ, अमर होते जाएँ।

अग्नि-देव का रथ

अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवः ।
अरं वहन्त्याशवः ॥ ५ ॥ २५

ऋषिः—भरद्वाज=गति की पुष्टि करनेवाला ।

(अग्ने-देव) हे अग्नि-देव ! (ये) जो (तव) तेरे (साधवः) सुशील (अश्वासः) अश्व हैं, (युङ्क्ष्व हि) उन्हें जोड़ दे । (आशवः) ये शीघ्र-गामी हैं, व्यापक हैं । ये [तेरे रथ को] (अरम्) खूब (वहन्ति) ले चलते हैं ।

सम्पूर्ण विश्व अग्नि-देव का रथ है । विश्व रंहण-शील है । उसमें गति है और उस गति का कारण अग्नि-देव की शक्ति है । अग्नि न हो तो गति न हो । इसलिये रथ अग्नि ही का है । इसमें सब ओर घोड़े ही घोड़े जुत रहे हैं—खूब सिधाये हुए सुशील घोड़े, ब्रह्माण्ड-भर में कोई ऐसी शक्ति नहीं जो अपने नियमित मार्ग से विचलित हो । सभी भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ अपनी नियत मर्यादा में काम करती चली जा रही हैं । पृथिवी उड़ रही हैं, सभी ग्रह तथा उपग्रह उड़ रहे हैं । एक-एक क्षण में हज़ारों मील । इतने बड़े पिण्ड, इतनी बड़ी यात्रा एक ही क्षण में पूरी कर लेते हैं । यह सब करामात अग्नि-देव की है । अग्नि-देव के रथ में बैठे ब्रह्माण्डों के ब्रह्माण्ड सच-मुच उड़े जा रहे हैं । कैसा चमत्कारी उसके घोड़ों में जादू का सा वेग है । संसार-भर का कोई अणु नहीं जिस तक

इन घोड़ों की पहुँच न हो। ये यहाँ हैं, वहाँ हैं—सर्वत्र व्यापक हो रहे हैं। इस गति के घोड़े और कहाँ देखे गए हैं? इतने तेज़! इतने स्थानों पर एक साथ मार करनेवाले!! और फिर अपने मार्ग से परमाणु-भर न च्युत होनेवाले!!! अग्नि-देव के घोड़े अलौकिक हैं। इनके द्वारा विश्व-रथ का वाहन किस खूबी से—किस सुन्दरता से हो रहा है।

अग्नि-रथ हमारे द्वार पर है पर हम उस पर सवार नहीं होते। हमारे शरीर के अणु-अणु को अग्नि-देव गति दे रहा है। हमारा मन भी तो अग्नि-देव के रथ ही का एक घोड़ा है। हमारी इन्द्रियाँ भी उसी रथ के अश्व हैं। परन्तु इन्हें तो आंशिक स्वतन्त्रता-सी भी प्राप्त है। विश्व की अन्य सब शक्तियों की बाग-डोर अग्नि-देव ने अपने हाथ से कस रखी है। परन्तु मेरे शरीर के घोड़ों की लगाम कुछ ढीली छोड़ी गई है। इससे मानव-जीवन में कुछ शिथिलता है। प्रभु चाहता है—यज्ञ का यह भाग स्वेच्छा से सम्पादित हो। स्रष्टा के सङ्कल्प का एक भाग मनुष्य के हृदय में सङ्कल्पाग्नि ही के रूप में उदय होता है। वह कुछ मन्द-सा पड़ रहा है। हे मेरी जीवन-ज्योति! उठो! जागो!! विश्व-रथ उड़ा जा रहा है। तुम पीछे खड़ी क्या देख रही हो? तुम्हारा घोड़ा अन्य किसी घोड़े से कम तेज नहीं हैं। मन बिजली तक को पीछे छोड़ जाता है। इसे ज़रा सुसंस्कृत—सुशील करने की आवश्यकता हैं। जहाँ अश्व साधु हुआ—सुशील हुआ, संसार की अन्य शक्तियों को यह पीछे छोड़

जाएगा। यह निश्चित है। तो हे मेरे मानव हृदय की संङ्कल्पाग्नि! अपने इस घोड़े को ठीक करो ना। तुम्हारी आँख के एक इशारे से यह रथ में जुत जाएगा, दुलत्ती छोड़ देगा, और नियम-पूर्वक यज्ञ मार्ग पर चल देगा। तो इसे एक इशारा करो ना। मेरी जीवन-ज्योति! लजाती क्यों हो? एक क्षण दिल को पक्का—गम्भीर—कर लो। इसे यज्ञ-भावना का ज़रा-सा एक दृष्टि-भर संकेत दे दो। फिर देखो, मेरा अग्नि-रथ अमर जीवन का रथ है। इस पर अमर लोग सवार होते हैं। अग्नि-देव! मुझे अमर कर दो। मुझे इस अपने रथ पर ले लो। मेरे घोड़े को सुसंस्कृत कर इसमें जोत लो। तुम्हारी दृष्टि में—एक ज्वालामयी दृष्टि में—स्नान कर यह घोड़ा सुसंस्कृत होजाएगा, तुम्हारे रथ का पहिया-सा बन जाएगा। अग्नि-देव! मेरे इन घोड़ों को जोत ही लो। वास्तव में ये घोड़े हैं तो तुम्हारे ही। हाँ! ये घोड़े हैं सभी यज्ञिय। दिग्विजय के घोड़े हैं। तो फिर इनके द्वारा दिग्विजय करो ना!

***

आत्माहुति

नि त्वा नक्ष्य विश्पते द्युमन्तं धीमहे वयम्।

सुवीरमग्न आहुत ॥ ६ ॥ २६

ऋषि—वशिष्ठः=सबसे अधिक वशी।

(नक्ष्य) हे प्राप्त करने योग्य, (आहुत) विश्व याग की आहुति बन चुके, (अग्ने) अग्रणी (विश्पते) प्रजाओं के पालक!

(वयम्) हम (त्वा) तुझ (द्युमन्तम्) द्युलोकवाले (सुवीरम्) सच्चे वीर को (निधीमहे) [अपने यज्ञ का अगुआ] निश्चित करते हैं।

प्रजाओं का विकास तभी हो सकता है जब वे अपने आपको राष्ट्र के रूप में संघटित कर दें। वेद प्रजाओं को 'विशः' कहता है। "विशः" वे हैं जो एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाएँ—घुस जाएँ। कोई मनुष्य भी अपने आपमें पूर्ण नहीं है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों पर, एक समुदाय दूसरे समुदायों पर पूर्ण-रूपेण आश्रित है। किसी भी प्रकार की उन्नति बिना पारस्परिक सहयोग के नहीं हो सकती। मनुष्य श्रेणियाँ बनाते हैं। एक ही धन्धा करनेवाले, पूगों के रूप में संघटित हो जाते हैं। ऐसा करना उनके धंधे के हित में आवश्यक है। ये श्रेणियाँ अथवा पूग राष्ट्र के रूप में सम्मिलित हो जाते हैं। तमाशा यह है कि इन व्यक्तियों तथा पूगों के संघटन में अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले कुछेक पदार्थों का केवल यान्त्रिक मेल ही नहीं हो जाता। इस सहयोग से एक सामूहिक व्यक्तित्व का उद्भव होता है। राष्ट्र की अपनी आत्मा है जो व्यक्तियों की आत्माओं से अभिन्न भी है और भिन्न भी। यज्ञ में जो पदार्थ डाल दिया जाए वह हव्य बन जाता है। वह जहाँ अपने आप एक विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हो जाता है वहाँ अपने विशेष गुणों से यज्ञ की अग्नि को भी और अधिक समृद्ध कर देता है।

ऐसे ही जो व्यक्ति राष्ट्र की आग के साथ एकीभूत हो चुका है, जो सर्वात्मना इस यज्ञ की आहुति बन चुका है,

उसमें और यज्ञ की आग में कोई भेद नहीं रहा। वह स्वयं यज्ञ की अग्नि है। उसके वैयक्तिक गुणों से यज्ञ की आग समृद्ध हुई है। राष्ट्र का अग्रणी वही हो सकता है। वह मानो प्रजा में प्रविष्ट हो चुका है और प्रजा उसमें। प्रजा के हित के सिवाय उसका अपना हित कुछ नहीं रहा। वही प्रजाओं का सच्चा पालक हो सकता है। कोई प्रजाओं में घुस कर ही प्रजाओं का पति बन सकता है।

ऐसा वीर पुरुष, जिसकी वीरता का उपयोग प्रजा के कल्याण ही के लिये होगा, जहाँ भी मिले प्राप्त करने योग्य है। प्रजाओं को सदा उस प्रजापति की शरण में जाना चाहिये और अपने कर्म की, ज्ञान की, धनधान्य की—सब विभूतियों की आहुति उसकी प्रदीप्त की हुई आग में डाल देनी चाहिये। उसे अपनी आहुतियों से आच्छादित कर देना चाहिये।

ऐसा मनुष्य देव है। उसने एक नये द्युलोक की सृष्टि की है। उसकी भावनाएँ पृथिवी-तल पर बसनेवाले सामान्य पुरुषों की-सी भावनाएँ नहीं हैं। उसने सबसे पूर्व अपनी आहुति दी है और अब अपने क्रियात्मक उदाहरण से प्रजा-जनों को भी आत्माहुति की शिक्षा दे रहा है। वह आहुति-स्वरूप है। सर्वस्व देकर भी वह देने से तृप्त नहीं हुआ। वह "हुत" ही नहीं, "आहुत" हो चुका है—सब ओर से दे दिया गया। उसका आत्म-समर्पण पूर्णता को प्राप्त हो चुका है।

प्रजा-जन स्वयं उसे प्रजापति बनाते हैं, केवल राज-

सिंहासन पर ही नहीं, हृदय-सिंहासन पर बैठा कर, प्रेम की, भक्ति की, श्रद्धा की उमड़ रही धाराओं से उसका अभिषेक करते हैं। यह अभिषेक भी वास्तव में यज्ञाग्नि का प्रदीपन है। दिलों के राजा को लोग दिलों ही में बैठाते हैं। पूजा राजा की करो या राज्यादर्श की, बात एक ही है। कोई राजा राज्यादर्श के जितना अधिक निकट है, प्रजाओं की पूजा का वह उतना ही अधिक अधिकारी है। इस पूजा का तात्पर्य केवल-मात्र यही है कि यज्ञाग्नि जलती रहे। राष्ट्र के रूप में विश्व-याग की आग प्रदीप्त रहे।

***

पृथिवी-पति

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत् पतिः पृथिव्या अयम्।
अपाᳫं रेतांसि जिन्वति ॥ ७ ॥ २७

ऋषि—विरूपः=विशेष रूपवाला।

(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि-देव (पृथिव्याः) पृथिवी का (पतिः) पति, (दिवः) द्युलोक का (ककुत्) कुहान—उभरा हुआ शिखर है। (मूर्धा) यह मूर्धा-स्थानीय होकर (अपाम्) प्रजा-जनों की (रेतांसि) उत्पादक-शक्तियों को (जिन्वति) संजीवित करता है।

पृथिवी का पति—रक्षक—सम्राट् होता है और सम्राट् को वेद में अग्नि कहा गया है। यह इसलिए कि वह मूर्त यज्ञ है। उसने ब्रह्माण्ड के रहस्य को समझा है। वह जानता है कि विश्व यज्ञ के—परोपकार के—सहारे चल रहा है।

यज्ञ की भावना दिव्य है। द्युलोक के सभी गोलक—सभी ग्रह-उपग्रह यज्ञ कर रहे हैं। वे मानो यज्ञाग्नि की चिनगारियाँ हैं। सम्राट् आध्यात्मिक-द्युलोक का वासी है। यह वहाँ की शिरोमणि-ज्योति है। जो आध्यात्मिक-तत्व साधारण लोगों की आँखों से छिपे रहते हैं, वे सम्राट् के जीवन में साक्षात् प्रकट हो गये हैं। संसार में स्वार्थ काम कर रहा है। एक व्यावसायिक पुरुष यह समझ ही नहीं सकता कि आत्म-त्याग सबसे उत्तम नीति है। वैदिक सम्राट् इस नीति का मूर्त उदाहरण है। सदाचार के जो सूत्र साधारण जनों को अव्यवहार्य प्रतीत होते हैं, वैदिक सम्राट् के व्यवहार का आधार ही वही हैं। वह सत्य ही का आचरण करता है। हिंसा का उसे सपना तक नहीं आता। सबसे बड़ी बात यह है कि वह साधु-स्वभाव होता हुआ भी नीति-निपुण है—बुद्धि का धनी है।

वह प्रजा-जनों का सिर-मौर है। उसका हृदय तो विशाल है ही; उसका मस्तिष्क भी उत्तम है। वह खूब सोचता है और जो कुछ भी वह सोचता है, वह ध्रुव सत्य होता है। इसी से प्रजाओं ने उसे अपने सिर-माथे पर बैठा रखा है।

यज्ञिय जीवन निर्माणात्मक होता है। यज्ञ है ही सृष्टि की कला। जिस क्रिया से कोई वास्तविक लाभ न हो, जिससे कोई भौतिक अथवा मानसिक उन्नति न हो, वह यज्ञ नहीं। यज्ञ की सफलता—स-फलता—निश्चित है। वैदिक सम्राट् का मस्तिष्क इसी उधेड़-बुन में लगा रहता है कि उस

की प्रजाएँ नई-नई उत्पादक-कलाओं की सृष्टि करती रहें—इनका भौतिक तथा आध्यात्मिक विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाए। इनमें यज्ञ की भावना दिन-दिन उन्नत होती जाए।

उत्पादक कलाएँ ही जीती-जागती जातियों का वीर्य्य हैं। इन्हीं कलाओं के सहारे इन जातियों की कामनाएँ फलती-फूलती हैं। खेती, शिल्प, व्यापार, उद्योग, शिक्षा, साहित्य, संगीत, कविता, मूर्त्ति-निर्माण—ये सब कलाएँ अपने-अपने क्षेत्र में नई-नई सम्पत्ति की सृष्टि कर मानव-जाति के वैभव में उत्तरोत्तर वृद्धि कर रही हैं।

ये सब चमत्कार यज्ञाग्नि के हैं। सम्राट् इस यज्ञाग्नि का प्रतिनिधि है। वह कला-निर्माण की इन शक्तियों को खूब उत्तेजना देता है। व्यक्ति के शरीर में जीवनाग्नि जितनी अधिक हो, उसमें वीर्य्य का उतना अधिक प्राबल्य रहता है। यही अवस्था राष्ट्र के शरीर की है। राष्ट्राग्नि जितनी अधिक प्रज्वलित होगी, राष्ट्र की प्रजा में उत्पादक कलाओं का उतना विकास होगा।

जातियों के राष्ट्रिय-जीवन के युग हमेशा उत्पादक कलाओं की सर्वाङ्गीण वृद्धि के युग हुए हैं। वेद की अग्नि "विश्व-वेदाः"—सर्व व्यापक है। उसका उद्देश्य सम्पूर्ण मनुष्य-जाति की कला-बुद्धि को विकसित करना है।

वेद का सम्राट् विश्व का सम्राट् है। वह सम्पूर्ण पृथिवी का पति है, वह द्युलोक की उभरी हुई—उच्चतम—चोटी है, वह देश-देशान्तर की प्रजाओं का सिर-मौर है, वह सम्पूर्ण

मानव-जाति की उत्पादन-शक्ति को सफलता की ओर प्रेरित करता है। वैदिक यज्ञ सार्वदेशिक है।

सम्राट् की स्थिति सूर्य्य की है। सूर्य्य भौतिक द्युलोक का कुहान है तो सम्राट् आध्यात्मिक द्युलोक का। सूर्य्य जलों की उत्पादक-शक्ति को प्रेरित कर पृथिवी की रक्षा करता तो सम्राट् प्रजाओं की निर्माण-शक्ति को।

ऐसा सम्राट् कौन है? वेद के शब्दों में "अयम् अग्नि"—यह आग। क्या "यह" का अर्थ "मैं" नहीं? हाँ! हूँ तो मैं भी विश्व-याग ही का एक अंग। तो मैं ही क्यों न यत्न करूँ कि यह सम्राट्-पद मुझे ही प्राप्त हो जाए?

***

नित नया और फिर पुराना

इममूषु त्वमस्माकꣳ सनिं गायत्रं नव्याꣳसम्।
अग्ने देवेषु प्रवोचः ॥८॥ २८

ऋषिः—शुनःशेपः=ज्ञानी।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (त्वम्) तुम (अस्माकम्) हमारे (इमम्) इस (ऊ सु) प्रत्यक्ष (सनिम्) पुराने (नव्यांसम्) और फिर नित नये (गायत्रम्) भक्त की रक्षा करनेवाले, गीत का (अस्माकम्) हमारी (देवेषु) प्रत्येक इन्द्रिय में (प्रवोचः) प्रवचन करो।

आज हमारे शरीर में एक आग-सी लग रही है। रोम-रोम चिनगारी-सा बन रहा है। अंग-अंग से ज्वालाएँ-सी उठ रही हैं। हम विश्व-याग की आग के पतंगे-से बन रहे हैं। हम वास्तव में सम्राट् हैं। मानव-जाति का एक-एक

व्यक्ति सम्राट् होने के लिए पैदा हुआ है। हमारा साम्राज्य शासन का नहीं, सेवा का है। वैर-विरोध का नहीं, सह-योग का, सहकारिता का, पारस्परिक स्नेह का साम्राज्य है। सिंहासन पर चाहे एक ही व्यक्ति बैठाया जाए, परन्तु उसके शासन में हिस्सा तो उन सब सज्जनों का रहेगा जो उसके विश्व-याग की आग की दीक्षा ले चुके हैं। सहयोग का साम्राज्य किसी अकेले मनुष्य से थोड़ा चल सकता है? यह साम्राज्य तो है ही समूह का, समुदाय का—नहीं, समस्त मानव-सन्तति का।

जब से यह विश्व-याग का सन्देश हमने देव-दूत अग्नि-देव की जाज्वल्यमान भाषा में सुना है,हमारी इन्द्रियाँ सचमुच देव बन गई हैं। देव अमर होता है। वह अनादि काल से अनन्त काल तक जीता है। यही अवस्था आज हमारी सम्पूर्ण इन्द्रियों की हो रही है। विश्व-याग का संगीत पुराना है—अनादि। इसका किसी युग में भी तो आरम्भ नहीं हुआ। यह सृष्टि का संगीत है। जब-जब सृष्टि हुई है, तब-तब इस संगीत की गुंजार, संयुक्त हो रहे परमाणुओं के प्रत्येक पिण्ड से उठती रही है। संयोग का यह दिव्य-नाद, सृष्टि की प्रत्येक प्रभात-वेला में नए उदित हो रहे सूर्य्य के साथ-साथ उदित हुआ है और प्रलय की प्रत्येक साँझ में पुराने अस्त हो रहे सूर्य्य के साथ-साथ अस्त हो गया है। अनादि-काल से यह दिव्य-राग लय तथा उदय को प्राप्त होता चला आया है। इस प्रकार यह अलौकिक संगीत पुराना होता हुआ भी नित नया है। जिन देवताओं ने स्वयं अग्नि-

देव के मुख से इस भड़कीले, नशीले, सुरीले नाद को सुना है, वे स्वयं सनातन हो गये हैं—पुरातन हो गये हैं। पुरानों में सबसे पुराने और नयों में प्रतिक्षण नए से नए। यज्ञ की आग प्रतिक्षण यजमान का काया-कल्प कर रही है। इस आग का उपासक बूढ़ा नहीं होता। सदा अजर-अमर बना रहता है। इस अमरता का रहस्य इसी काया-कल्प में है—प्रतिक्षण के नए-नए काया-कल्प में। याग का राग गाने-वाला गायक सुरक्षित है। उसका त्राण उसके अमर राग द्वारा ही हो रहा है। विश्व में जीने का अधिकार उसी का है जो विश्व हो जाए। विश्व का याग नित्य है, उसकी आग भी नित्य है—और उस आग का राग भी।

हे मेरे जल रहे शरीर की नित नई-नई ज्वालाओ! गाओ। मेरी यह देह देवों की पुरी है। देवों को दिव्य नाद सुनाओ। इस नाद की रचना हुई ही इन्हीं देवों के नाद के लिये है। तुम आचार्य्य हो, ये शिष्य। तुम प्रव-चन करो, ये श्रवण। एक नित्य सनातन सन्देश, तुम्हारे और इनके बीच के अन्तराल को पाट दे। ये और तुम एक हो जाओ। मेरी सभी इन्द्रियाँ तुम्हारे संगीत की स्वर-लहरियाँ बन जाएँ। देव-दूत इन्हीं का दूत हो। सन्देश सुनता-सुनाता इन्हें सन्देश-मय करदे और फिर इन्हीं के मुख से अपने दिव्य सन्देश को सुने। सनातन सन्देश को अंगीकार कर सभी देव-दूत हो जाएँ। विश्व-याग के राज-सिंहासन पर पदार्पण कर सभी सम्राट् बन जाएँ—स्नेही सम्राट्, सेवा-व्रती सम्राट्। शासन सहयोग बन जाए। राज्य, सेवा ही का दूसरा नाम है।

पुकार

तं त्वा गोपवनो गिरा जनिष्ठदग्ने अङ्गिरः ।
स पावक श्रुधी हवम् ॥६॥ २६

ऋषि:—गोपवनः=इन्द्रियों को पवित्र करनेवाला, रक्षक का अभिलाषी।

(अङ्गिरः) हे अङ्गी अङ्गी में रमण कर रही विश्व-याग की (अग्ने) आग ! (गोपवनः) वाणी को पवित्र रखनेवाला (तं त्वा) तुम्हारे उस तिरोहित तेज को (गिरा) वाणी द्वारा (जनिष्ठत्) प्रकाशित करता है । (सः पावक) हे उसकी आँखों से छिपी हुई पवित्र करनेवाली अग्नि ! (हवम्) उसकी पुकार को (श्रुधी) सुनियो ।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक महान् अंगी—एक सजीव संस्थान है । इसमें विद्यमान छोटे-बड़े संस्थान इस अंगी के अंग हैं । अपने-अपने स्थान पर ये छोटे-छोटे संस्थान भी अंगी हैं—जिनकी रचना उनसे भी छोटे-छोटे अंगों के मिलने से हुई है । छोटे-छोटे अंग मिलकर एक महान् अंगी की सृष्टि कर रहे हैं—इसी का नाम यज्ञ है । जब तक कोई पदार्थ, अंग अथवा अंगी नहीं बन जायगा, वह न तो देव-पूजा ही कर सकता है, न संगतिकरण और न ही दान । विश्व-याग की आग ये तीनों कार्य्य कर रही है । इसका कारण यह है कि उसकी क्रीड़ा अंगियों में है । उसके द्वारा अंग अंगी बन रहे हैं और अंगी अंग । कोई अवयवी अपने में पूर्ण नहीं है । वह अपने से महान् अवयवी का अवयव बन

रहा है। यह करामात अग्नि-देव की है। अग्नि की विश्व-व्यापिनी गति द्वारा ही, पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले पदार्थ एक दूसरे में घुस जाते हैं—एक दूसरे के साथ एकीभूत हो जाते हैं। यह एकीभूत होना ही रमण है—क्रीड़ा है, देवताओं का देवता-पन है।

यह देवता-पन साधारण जनों की दृष्टि से तिरोहित रहता है। वे नहीं जानते कि अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले व्यक्ति मिल कर किस प्रकार एक सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण कर लेते हैं? भिन्न-भिन्न प्राणियों की अलग-अलग आत्माएँ हैं। इन आत्माओं के मेल से समाज की आत्मा का विकास कैसे हुआ? सजीव अंगों तथा अंगियों का मेल जड़ पदार्थों के मेल से सर्वथा भिन्न है। अंग तो फिर एक शरीर द्वारा मिल रहे हैं पर अंगियों का मेल बिना किसी शरीर के हो रहा है, आख़िर इसका क्या कारण है?

मानव-समाज के इस अभौतिक सम्बन्ध की सबसे बड़ी प्रकाशक हमारी वाणी है। वाणी के सूत्र द्वारा मनुष्य मनुष्य के साथ एक विशेष रूप से बँध रहा है। वाणी के द्वारा ही मैं अपने हृदय के भावों का प्रकाश करता हूँ। एक हृदय दूसरे हृदय की बात को भाँप जाता है। एक हृदय की गूँज दूसरे हृदय में झट उठ खड़ी होती है। आत्मा की पहुँच आत्मा तक प्रायः वाणी ही के द्वारा होती है।

वाणियाँ व्यक्तियों की भी हैं जातियों की भी। साहित्य, संगीत, कला, व्यवसाय, व्यापार—ये सब मानव-समाज की भिन्न-भिन्न वाणियाँ हैं। इन्हीं के द्वारा मानव-समाज का

यज्ञ अपने आप को एक सतत प्रदीप्त आग के रूप में प्रकट कर रहा है। यह आग आज एक जाति ने प्रज्वलित की है, तो कल दूसरी जाति ने। संस्कृति का संक्रमण एक जाति से दूसरी जाति में तथा एक देश से दूसरे देश में होता चला गया है।

मानव-संस्कृति का यह यज्ञिय-विकास तभी हो सकता है जब व्यक्ति तथा समाज अपनी वाणी को पवित्र रखें। साहित्य का, संगीत का, व्यवसाय का प्रवाह निर्मल बना रहे। प्रवाह का उद्देश्य संकुचित अथवा आचार-नाशक न हो। सभी मानव-जाति की आत्मा की आवाज़ यज्ञिय बन सकती है। तभी उस से आध्यात्मिक विकास की आग जलाई जा सकती है।

मानव-समाज अपनी इन उत्पादक कलाओं को जीभ बना कर अग्नि-देव को पुकार रहा है—विश्व-याग की पुनीत आग को निमन्त्रण दे रहा है। सम्पूर्ण पृथिवी की सांस्कृतिक उन्नति का उद्देश्य यज्ञ की भावना को प्रेरित करना है। अग्नि-देव ! हमारी इस पुकार को सुनो। हमारे सीनों में आग लगा दो—परोपकार की, पर-पीड़ा-हरण की, पर-स्वत्व-रक्षण की परम पुनीत आग। हमारे ज्ञान द्वारा कलाओं द्वारा, व्यवसाय द्वारा हमें आग-सी लगा दो।

हम "गो-पवन" हों—वाणी कापवि त्र-प्रवाह चलानेवाले। हमारी संस्कृति के इस प्रवाह से यज्ञ ही की तिरोहित आग प्रकाशित हो। अंगियों को—जीवित-समूहों को—सुख देने वाली आग प्रकाशित हो। हमारी पुकार में, सम्पूर्ण जीवन

व्यापार में यज्ञाग्नि का वास हो। हम स्वयं अग्नि-रूप हो जाएँ। पुकार का वास्तविक सुना जाना तो है ही यही कि वह स्वयं सिद्धि बन जाए। हमारी पुकार ही एक आग हो जाए।

***

रमणीय रत्न

परि॒वाज॑पतिः क॒विर॒ग्निर्ह॒व्यान्य॑क्रमीत् ।
दध॒द्रत्ना॑नि दा॒शुषे॑ ॥ १० ॥ ३०

ऋषि:—वामदेव:=देवकाम।

(वाजपतिः) अन्न, बल तथा ज्ञान के पालक (कविः) क्रान्तदर्शी (अग्निः) साम्राज्य यज्ञ के नेता ने (दाशुषे) हव्य-दान देनेवाले को (रत्नानि) रमणीय रत्न (दधत्) देते-देते (हव्यानि) आहुतियों को (परि-अक्रमीत्) चारों ओर से घेर लिया है।

जीवन का सम्पूर्ण व्यापार तीन ही पदार्थों से चल रहा है। प्राणी अत्ता हैं, संसार उनका अन्न है—भोज्य है। यह निर्जीव अन्न सजीव शरीर का अन्न बन रहा है। इस अन्न का इस प्रकार उद्धार करनेवाली, शरीर में विद्यमान जीवन-अग्नि ही है। अन्न शरीर का अंग बन-कर बल बन रहा है। बल इन्द्रियों में जाता है और ज्ञान का रूप धारण कर लेता है। इस बल तथा ज्ञान का उत्पादक तथा रक्षक अग्नि-देव ही है।

व्यक्तियों की शक्तियाँ ही संघटित होकर समाज की शक्तियाँ बन जाती हैं और इसी रूप में उनका पूर्ण विकास

होने की सम्भावना है। राष्ट्रों की तथा राष्ट्रों के संघटन रूप साम्राज्य की, स्थापना यज्ञाग्नि द्वारा ही होती है। इस यज्ञ का नेता अत्यन्त दूरदर्शी होता है। वह मानव-विकास के सार्वत्रिक तत्त्व को जानता है। भावना की शक्ति भौतिक शक्ति के साथ ओत-प्रोत हो रही है। स्वयं भावना अन्न बन रही है, बल बन रही है, ज्ञान बन रही है। इस तत्व का परिचय कल्पना-शक्ति के धनी कवि ही को है। यज्ञ का जगत् कल्पना का है, भावना का, कविता का। साम्राज्य-यज्ञ का ऋत्विक् कवि है।

इस यज्ञ में जिस भी पदार्थ की आहुति डाली जाय, वह रत्न—रमणीय धन—बन जाता है। यजमान अपने अन्न की, ज्ञान की, बल की हवि देकर यह नहीं समझता कि यह धन उससे छीन लिया गया है। यज्ञाग्नि में डाला हुआ कोई भी द्रव्य कई गुणा होकर लौटता है। बड़ी बात यह है कि वह द्रव्य हव्य बन जाता है। पहिले वह मनुष्य का अन्न था, अब देवताओं का है—दिव्य खिलाड़ियों का। पहिले उसका संचय किया जाता था, अब उसका उपयोग हो रहा है—दिव्य खिलाड़ी उससे खेल रहे हैं। पहिले धनी धन के अधीन था, अब धन उसके अधीन है। मनुष्य अन्न तथा बल का स्वामी तभी बनता है जब वह उसे यज्ञाग्नि के अर्पण कर दे। जैसे वैयक्तिक देह में, वैसे ही सामूहिक शरीर में भी जहाँ एक जगह रुक गया अन्न रोग का कारण बन जाता है, वहाँ चलता-फिरता रुधिर के रूप में परिस्रवित हो रहा वही स्वास्थ्य, अन्न तथा बल को उत्पन्न करता है।

समाज के शरीर में सब प्रकार की सम्पत्तियों की इस चलने-फिरने की क्रिया का नेता साम्राज्य का अगुआ है। वह कवि है,—स्वयं वाजपति है। उसने अपने वाज की—अन्न, बल तथा ज्ञान की—आहुति दे दी है, और इस आहुति द्वारा उसे पूर्णतया सुरक्षित कर लिया है—अपने लिए भी, साम्राज्य के लिए भी पूर्णतया सुरक्षित कर लिया है। अब वह औरों की बलि लेता है और उसे रत्न—रमणीय धन—बना कर उन्हीं को फिर लौटा देता है। कर देनेवाले स्वयं उस कर के अपूर्व लाभों का उपभोग कर रहे हैं। इस उपभोग में अन्य राष्ट्रवासी भी उनके साथ हैं। मिल कर उपभोग करना किसी भी उपभोग्य पदार्थ के आनन्द को सहस्र-गुणा बढ़ा देता है—उसे रत्न बना देता है। साम्राज्य की सम्पत्ति पर सम्राट् का इतना ही अधिकार है। वह द्रव्य लेता है और उसे हव्य बना देता है। यज्ञाग्नि का काम इतना ही है कि आहुति लेकर उसे आगे देदे। उसका लेना-देना पर्य्याय हैं। यज्ञ की इस प्रक्रिया का इतना लाभ अवश्य है कि आग में पड़ कर प्रत्येक पदार्थ अग्निमय हो जाता है। इस लेन-देन की क्रिया में ही अग्नि उसका परिक्रमण करती है। चारों ओर से उसे घेर लेती है। अपनी ज्वालाओं की भुजाओं में उठा लेती है, उसे चूम कर, चाट कर निर्मल बनाती है, और निर्मल बनाते-बनाते अपना दिव्य तेज प्रदान कर जाती है। हव्य स्वयं आग बन जाता है। उसका रूप एक चमकते हुए रत्न का-सा बन जाता है। वह दिया गया है। उसमें दान का आनन्द है। दिव्य

खिलाड़ी उससे खेले हैं। वह रमणीय है। रात—दिया गया, और रमणीय—खेलने लायक। वह देवताओं की दान-लीला का रमणीय पात्र है।

* * *

प्रतीक के दर्शन

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥ ११ ॥ ३१

ऋषिः—कण्व=मेधावी।

(त्यम्) उस (जातवेदसम्) सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वाधार (देवम्) अग्नि-देव को (केतवः) किरणें, ज्ञान, संसार भर के रत्न (उत्-उ-वहन्ति) उठाए-उठाए फिरते ही हैं। (विश्वाय दृशे) इसलिए कि विश्व उसे देख सके (केतवः) किरणें (सूर्य्यम) उसे सूर्य्य-रूप में (उद् वहन्ति) प्रकट कर रही हैं, उसकी ज्योति उठाए-उठाए फिर रही हैं।

विश्व के जीवन का आधार अग्नि-देव है। वह सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है। विश्व की उत्पत्ति होती ही अग्नि-देव की शक्ति से है। अग्नि-देव उत्पत्ति के तत्व को जानता है, इस तत्व का ज्ञान प्रदान करता है। उत्पन्न पदार्थों का आधार भी अग्नि ही है। अग्नि से ही संसार पैदा होता है और अग्नि द्वारा ही स्थिर रहता है।

संसार में जिस-जिस पदार्थ की अनुभूति इन्द्रियों द्वारा होती है, जो जो पदार्थ प्रत्यक्ष है, वह वह अग्नि-देव की मानों ध्वजा है। पृथिवी के तल पर, समुद्र की कोख में, हवा

की लहरों में, अग्नि-देव की ध्वजाएँ ही ध्वजाएँ फहरा रही हैं। रूप, अग्नि ही का गुण हैं। जो वस्तु रूप रखती है, वह अग्नि का अंश है। बिना अग्नि के संयोग नहीं हो सकता और सम्पूर्ण कार्य जगत् संयोग ही की लीला है। यह लीला दूसरे शब्दों में अग्नि ही की है। ब्रह्माण्ड में कौन-सी ऐसी वस्तु है जो हमारे ज्ञान का विषय तो बन रही हो पर वह अग्नि-देव की विभूति न हो।

यहाँ तो ज्ञान भी अग्नि ही का चमत्कार है। जीवनाग्नि अन्न को पचाती है, उसे बल का रूप देकर इन्द्रियों का वैभव बढ़ाती है। इन्द्रियों का यह वैभव अन्त को ज्ञान ही का रूप धारण करता है।

व्यक्तियों के ज्ञान के साधन भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु इस ज्ञान में समता है। हमारा पारस्परिक मानस व्यवहार इस बात का साक्षी है कि ज्ञान एक है। मेरा भी मन है, मेरे भाई का भी। मेरी भी इन्द्रियाँ हैं, मेरे भाई की भी। मेरा मन मेरे भाई के मन से अलग है, फिर इन दो मनों का ज्ञान-व्यापार एक-सा क्यों है? जो मुझे प्रत्यक्ष है, उसे भी। अनुमान के क्षेत्र में भेद रहते हुए भी हम एक दूसरे से विचार-विनिमय करते हैं। हम एक दूसरे को समझते हैं, समझाते हैं और फिर किसी समान ज्ञान-विन्दु पर पहुँचने का यत्न भी करते हैं।

यह बात आज संपूर्ण जातियाँ कर रही हैं। एक जाति ज्ञान की एक दिशा में उन्नति करती है, दूसरी किसी और दिशा में। और दोनों अपने ज्ञान-भाण्डार को सार्वजनिक

बना कर उसे संसार-भर की मानसिक सम्पत्ति का भाग बना रही हैं। दिनोंदिन इस ज्ञान-यज्ञ का विस्तार हो रहा है। क्या इससे यह ज्ञात नहीं होता कि व्यक्तियों तथा जातियों की पृथक्-पृथक् इकट्ठी की गई ज्ञान-राशि का आधार समान है। वही आधार-भूत ज्ञान "जातवेदाः" अग्नि है।

जगत् में रोग भी है, उनकी उपचार-रूप औषधियाँ भी। औषधियाँ हमेंशा से विद्यमान चली आती हैं। किसी-किसी अन्वेषण-कर्त्ता को अकस्मात् उनका ज्ञान हो जाता है। अब इस ज्ञान द्वारा ही उन में उपचार की शक्ति आ जाती हो—यह बात तो है नहीं। रोग और उसके उपचार का सम्बन्ध नित्य है। हमारा ज्ञान उस सम्बन्ध को हम पर केवल प्रकट कर देता है। यही अवस्था सारे ज्ञेय जगत् की है। तारे का तारे से, ग्रह का ग्रह से, उपग्रह का उपग्रह से एक स्थिर साहचर्य है। हवा का फेफड़ों से, शाक का आमाशय से, रुधिर का हृदय से एक स्थायी सम्बन्ध है। इन सम्बन्धों का ज्ञान वैज्ञानिकों को अब हो रहा है। तो क्या इन अनादि सम्बन्धों की स्थापना बिना ज्ञान के हुई है? कोई ज़रा-सी व्यवस्था भी तो बिना बुद्धि के नहीं हो सकती है। तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सुसंगत सुघटित प्रबन्ध, जो ग्रहों, उपग्रहों से लेकर छोटे-छोटे अणुओं, परमाणुओं तथा ज़रा-ज़रा से कोष्ठकों तक व्यापक है, बिना किसी बुद्धिमान् की बुद्धिमत्ता के अपने आप कैसे हो गया? हमारे अल्प-ज्ञान किसी सर्वज्ञ के महान् ज्ञान के अंश-मात्र हैं। हमारी स्वल्प बुद्धियाँ किसी सर्वज्ञ प्रज्ञा के विश्व-व्यापक ज्ञान-

भाण्डार में से कोई-कोई कण ही चुन लेती है। यही हमारे 'केतुओं' द्वारा 'जातवेदः' अग्नि का 'उद्वहन' है।

विश्व-वेदाः अग्नि का प्रकट अंश सूर्य है। उसके प्रकाश तथा ताप को संसार के सभी प्रतीयमान पदार्थ ग्रहण कर रहे हैं। ग्रह और उपग्रह सूर्य ही की सन्तान हैं। सम्पूर्ण भौतिक जगत् कभी सूर्य का अंश था। उससे पृथक् होकर भी सभी पिण्ड तथा गोलक उसी की गर्मी से गर्म हैं, उसी की ज्योति से प्रकाशित हैं। सच तो यह है कि संसार का अणु-अणु अपने में एक छोटा सूर्य है। सूर्य विश्वाग्नि का मानो शिरोमणि है। किरणें इस अग्नि-पुंज के हाथ बनकर विश्व-यज्ञ में निरन्तर प्रकाश तथा ताप की आहुति डाल रही है।

जो क्रिया अप्रकट रूप से सर्वत्र हो रही है, उसी का सबसे अधिक स्पष्ट, सबसे अधिक प्रतीयमान रूप सूर्य का ताप-वितरण है। सूर्य यज्ञाग्नि का केतु है। द्युलोक की द्युतियों में सबसे आगे उभरा हुआ—सबसे अधिक स्पष्ट सूर्य-मण्डल ही है। ताप तथा प्रकाश के सभी संकेत सूर्य की ओर होते हैं।

सूर्य भौतिक यज्ञ का अति स्पष्ट उदाहरण है। इसका यज्ञ इन चर्म-चक्षुओं के द्वारा ही देखा जा सकता है। अध्यात्म के क्षेत्र में भी "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।" जिसकी अंगुलि ने सूर्य को उठा रखा है, जिसकी ज्योति से समस्त तारा-मंडल जगमग-जगमग कर रहा है, उस आध्यात्मिक ज्ञान-भानु का दर्शन भी इसी सूर्य के झरोखे से सुगमता से किया जा सकता है।

जातवेद अग्नि चाहे विश्व-व्यापक ताप हो और चाहे सर्वज्ञ प्रभु का विश्व-दर्शी ज्ञान, सूर्य दोनों का अति सुन्दर उपलक्षण है। राजा तथा रंक दोनों इसकी प्रत्यक्ष ज्योति के दर्शन इन्हीं चर्म-चक्षुओं द्वारा कर सकते हैं।

***

पास जाकर स्तुति कर

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्म्माणमध्वरे ।
देवममीवचातनम् ॥ १२ ॥ ३२

ऋषिः—मेधातिथिः=निरंतर धारणावती बुद्धि से प्रेरित होनेवाला।

(सत्यधर्माणम्) सत्यधर्मा (कविम्) क्रान्तदर्शी (अग्निम् देवम्) अग्रणी देव की (अध्वरे) अहिंसादि व्रत-रूपी यज्ञ में (उपस्तुहि) पास जाकर स्तुति कर। (अमीवचातनम्) वह रोगों को नष्ट कर देता है।

मेरे मन ! तू स्तोता बन—स्तुति के गीत गा। किसी देव को अपना अगुआ बना। बिना अगुआ के जीवन उन्नत नहीं होगा। जीवन उन्नत होता है—धर्म का अनुष्ठान करने से। जिन सिद्धान्तों के सहारे संसार स्थिर है, वे धर्म हैं। शास्त्रों में शील को ब्रह्माण्ड की भित्ति कहा गया है। शीलवान् मनुष्यों का शील ही इस विश्व को अपने कन्धों पर उठाए हुए है। मेरे मन ! तू किसी शीलवान् देव का स्तोता बन। देव होता ही वही है जिसमें शील हो, सत्य हो,—वही शील, वही सत्य जो विश्व की सत्ता का आधार है।

देव दान करता है। उसे भरोसा रहता है कि उसका दिया हुआ धन नष्ट नहीं हो सकता। वह खिलाड़ी है। यज्ञ की वेदि पर अपना सर्वस्व स्वाहा करता जाता है। उसके लिए देना-लेना एक हैं। यज्ञ की इस भावना ने उसे कवि —तत्त्ववेत्ता—बना दिया है। उसकी दृष्टि संकुचित नहीं, व्यापक है। वह केवल भौतिक सत्ता ही का नहीं, आध्यात्मिक तत्त्वों का भी दर्शन करता है। वे तत्त्व ही तो सच्चे धर्म हैं। इन तत्त्वों का आलोक उसके सम्पूर्ण जीवन पर है। वह द्युतिमान् है—द्युतिमान् है—द्युलोक का वासी है यही उसका कवित्व है।

मेरे मन! किसी कवि को—क्रान्तदर्शी देव को अगुआ बनाया है तो प्रयत्न-पूर्वक उसका अनुसरण कर। वह स्तुति क्या जो दूर-दूर से गा दी जाए? देव को दूर से "नमस्ते" कह देना शिष्टाचार नहीं है। अग्नि की स्तुति पास जाकर ही होती है। प्रयत्न-पूर्वक अनुसरण द्वारा उसके पास पहुँचना चाहिए। वह सत्य-धर्मा है तो हम भी सत्य-धर्मा ही हों। सच तो यह है कि अग्रणी के अग्रणी होने का अनुभव होता ही तभी है कि हम उसे क्रियात्मिक रूप से अग्रणी बना लें। जो स्वयं यज्ञ का अनुष्ठान नहीं करता, उसे क्या पता, याग क्या है? याग की आग क्या है? यज्ञाग्नि की स्तुति—उपस्तुति—इसी में है कि हम यज्ञ—अहिंसादि व्रतों का आचरण—स्वयं करें। यही तो सत्य-धर्म है।

अग्नि रोग-नाशक देव है—आध्यात्मिक, आधिदैविक,

आधिभौतिक—सभी प्रकार के रोगों को नष्ट कर देता है। जैसे शरीर का स्वास्थ्य शारीरिक यज्ञ द्वारा ही स्थिर रखा जा सकता है, वैसे ही मानसिक तथा सामाजिक स्वास्थ्य भी मानसिक तथा सामाजिक यज्ञ द्वारा। शरीर का यज्ञ यह है कि शरीर के सम्पूर्ण अवयव मिल कर कार्य करें। कोई अंग स्वार्थी न बन जाए। सम्पूर्ण देह में जीवनाग्नि समान रूप से प्रज्वलित रहे। ऐसे ही, मन अपने मानसिक व्रतों पर दृढ़ रहे तो मन के ईर्ष्या-द्वेषादि रोग नष्ट हो जाते हैं। समाज में न्याय-व्यवस्था रहे—सभी व्यक्ति अपने आपको समाज के शरीर का अंग मानकर अपना सामाजिक कर्त्तव्य यज्ञ-बुद्धि से पालन करते जाएँ तो समाज में यज्ञाग्नि प्रदीप्त रहती है,—यही समाज का स्वास्थ्य है।

सच तो यह है कि शरीर चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म, और वह स्थूल व सूक्ष्म शरीर चाहे व्यक्ति का हो और चाहे समाज का, सत्यादि धर्मों पर ही आश्रित है। जो सत्य तथा अहिंसा व्रतों का पालन करता है, वह व्यक्ति तथा समाज—दोनों के शरीर में जीवनाग्नि का संचार करता है,—यही वास्तविक यज्ञ है।

हे मेरे मन! तू यज्ञ की अग्नि के स्तोत्र गाना चाहता है तो क्रियात्मिक स्तोत्र यही है कि तेरा जीवन यज्ञमय हो। तू अध्वर्यु होजा—अध्वर-स्वरूप होजा। अहिंसा तथा सत्य का पुतला बन जा। दूर की स्तुति निन्दा है। तू पास जाकर स्तुति कर। अपने उपास्य-देव के इतना समीप पहुँच जा कि तुझ में—उसमें भेद ही न रहे।

दिव्य आचमन

शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १३ ॥ ३३

सिन्धुद्वीपोऽम्बरीष = सिन्धु में द्वीप बना कर जलाशयों का प्रेरक।
त्रित आप्त्यः = प्राप्ति में निपुण अतएव तर जानेवाला।
त्रिशिराः त्वाष्ट्रः = त्वष्टा सम्बन्धी तीन सिरोंवाला।

(देवीः) दिव्य [लहरें] (नः) हमारी (अभिष्टये) कामना का विषय बन कर (शम्) कल्याणकारी हों। (नः) हमारी (पीतये) तृप्ति का विषय बन कर (शम्) कल्याणकारी हों। (शंयोः) आरोग्य और अभय की [देवीः] दिव्य लहरें (नः) हमारे (अभिस्रवन्तु) चारों ओर बहें, (शंयोः) कल्याण के इच्छुक के (अभिस्रवन्तु) चारों ओर बहें।

साधक अब कल्याण ही की कामना रखता है। उसका जीवन कल्याण की एक लम्बी साधना है। वह अब तक कामनाओं का—इच्छाओं का शिकार रहा है। भिन्न-भिन्न प्रकार की आकांक्षाएँ उसके मन को डावाँडोल करती रही हैं। उसका जी चाहा, मुझे धन मिले—सो कभी मिला, कभी न मिला; मिला भी तो उसकी तृप्ति न हुई। साथी को अधिक धनी देख कर व्याकुलता बनी रही। यश चाहा; सो प्राप्त भी हुआ पर सन्तुष्टि न हुई, न हुई। आकांक्षा का रास्ता था ही अथाह व्याकुलता का। एक आकांक्षा पूरी हुई ही थी कि दूसरी उठ खड़ी हुई। एक परिश्रम की सफलता ने

दूसरे परिश्रम की असफलता से दो-चार करा दिया। आकांक्षा के सेवन से जी नहीं भरा, नहीं भरा।

अब तो प्रभो! न धन की इच्छा है न यश की और न ही प्रतिष्ठा की। मुझे तो कल्याण की इच्छा है। कोई ऐसा वर दो जिससे मन को शान्ति प्राप्त हो जाए। धन को भी देख लिया है, निर्धनता का भी मज़ा ले लिया है। यश अच्छा लगा, पर क्षणिक निकला। अपयश बुरा लगा—पर था वह भी क्षणिक ही। क्षणिक अच्छाई से सन्तोष नहीं हुआ, क्षणिक बुराई अपने आप मिट गई। यही अवस्था प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा की है, एक भ्रान्ति-सी उठती है,—और अपने-आप मिट जाती है। कल्याण इनके द्वारा नहीं होता, नहीं होता।

धन हो या निर्धनता, यश हो या अपयश, प्रतिष्ठा हो या अप्रतिष्ठा,—एक विचार-धारा-सी हमारे हृदय-समुद्र में बहती रहती है। अपने से अधिक धनी को देख कर धन के रहते भी मन असन्तुष्ट-सा रहता है! किसी को हमीं से ईर्ष्या हो गई, किसी ने पूरा मान न किया। किसी वास्तविक या काल्पनिक दुष्ट पुरुष ने वस्तुतः या हमारे विचार ही में दुष्टता का व्यवहार कर दिया। हम घंटों, दिनों, महीनों व्याकुल रहे। और जो कभी उसके विपरीत, हमने दूसरों की इन भावनाओं की उपेक्षा ही कर दी। कोई राग करे, द्वेष करे, मान करे, अपमान करे, दुष्टता का व्यवहार करे, या साधुता का, हमने अपनी साधुता को न छोड़ा। उससे एक अपूर्व शान्ति प्राप्त हुई। उस समय की विचार-लहरियों

ने हमारा खूब कल्याण किया। उन लहरों की एक-एक हिलोर हमें निहाल कर गई। वह विचार-धारा ही दिव्य थी।

तो प्रभो! यही विचार-धारा हमारे हृदयों में स्थिर-रूप से प्रवाहित कर दो। जब कभी हमारे हृदय में कोई कामना उठे, "शुभ हो;—शुभ हो"—यह आशीर्वाद वह अपने साथ लाए। हमारी सम्पूर्ण इष्टियों का—इच्छाओं का—विषय कल्याण हो, शक्ति हो। हमारे साधुता के विचार अपनी तृप्ति अपने आप हैं। संसार के लिए सुख की, आरोग्य की, शान्ति की कामना स्वयं एक आनन्द की लहर हैं, जिसे पान कर हृदय अत्यन्त प्रसन्न होता है।

कल्याण-मार्ग के पथिक के चारों ओर आरोग्य तथा अभय की एक दिव्य धारा-सी बहा दो। वह इसी धारा की गोदी ही में उठे, इसी की गोदी ही में बैठे, इसी में सोए, इसी में जागे। उसका सम्पूर्ण जीवन इस विचार-धारा की डुबकी हो—स्नान हो। यहीं उसकी इष्टि हो, और यही उसकी पीति—तृप्ति। आरोग्य और अभय! वह स्वयं स्वस्थ हो और सारे संसार को स्वस्थ देखना चाहे। मानव-जाति के अधिकांश रोग मानसिक हैं। शारीरिक रोगों का भी एक बहुत बड़ा भाग दूषित विचारों ही का परिणाम होता है। मनुष्य स्वयं रोगी होने से ही रोग को फैलाता है। अपने मन तथा शरीर को नीरोग बना कर व्यक्ति, समष्टि के लिए नीरोगता का एक केन्द्र-सा बन जाता है। डरना और डराना ब्राह्मण्ड में डर की खेती करना है। डर दुष्टता का

मूल है। हम अपना वातावरण ही आरोग्य और अभय का बना लें। अपने तथा औरों—दोनों के लिए स्वास्थ्य और निर्भयता की साधना करते रहें तो फिर हमारा कल्याण होने में देर ही क्या है ? शुभ संकल्पों द्वारा इस दिव्य-धारा को आवाहन कर प्रतिक्षण उसकी लहरियों का जी भर-भर कर पान करें, उसे अपने अन्दर खींचें, बाहर बहायें, इन्हीं हिलोरों को पिएँ,—इन्हीं में ही स्नान करें। अंग-अंग को, नस-नस को, रोम-रोम को जीभ बना कर इस दिव्य धारा का सर्वात्मना आचमन करें, पान करें। यही पान कल्याण है। स्नान भी तो आचमन ही है—सम्पूर्ण शरीर द्वारा आचमन !

***

मेरा मौन तुम्हारी टेर

कस्य नूनं परीणसि धियो जिन्वसि सत्पते।
गोषाता यस्य ते गिरः ॥१४॥ ३४

ऋषिः—उशनाः काव्यः=कमनीय कविपुत्र।

(सत्पते) हे सत्यार्थों के रक्षक ! (नूनम्) तुम निश्चय से (कस्य) किसकी (धियः) ज्ञान, कर्म तथा ध्यान-धारणा से (परीणसि) अधिकाधिक (जिन्वसि) प्रसन्न होते हो—अधिकाधिक स्फूर्त्ति देते हो ? [वही साधक सिद्ध है] (यस्य) जिसके (गो साता) वाणि-लाभ के समय (ते) तुम्हारी (गिरः) जिह्वाएँ [बोल उठती हैं]।

मैं कैसे जानूँ कि मेरा जीवन सच्चा है—सफल है।

किसी ने कहा—यज्ञ करो। मैंने कर दिया। याग की आग से कोई चीज़ रोक नहीं रखी। शरीर-द्वारा जितनी साधना हो सकती थी, कर दी है। पर कहते हैं—शरीर की क्रिया का इतना मूल्य नहीं, जितना मन की भावना का है। प्रयत्न तो यह भी किया है कि जो काम करूँ, उसके पीछे भावना भी शुभ ही रहे। पर मन तो बे-पेंदी का लोटा है। इसका एक जगह टिकाव है ही कहाँ? शुभ संकल्प करते-करते बीच में एक अशुभ हिलोर-सी उठा दे। परिश्रम से उसे उस समय दबा भी दिया तो वह एक बार उठ तो गई ना। फिर मैं कैसे जानूँ कि मेरी साधना ठीक थी, उसमें शारीरिक अथवा मानसिक—किसी प्रकार की कोर-कसर न थी?

यज्ञ का देवता-अग्नि है। वही सब आहुतियों का होता—दानादन करनेवाला—है। सच्ची आहुति को ले-लेता है, झूठी का झूठ निथार फेंक देता है। हमारे कर्म की, ज्ञान की, ध्यान-धारणा की सभी आहुतियाँ इस यज्ञाग्नि के मुख में जाती हैं। यदि वे आहुतियाँ सद्भाव से दी गई हैं तो वह "सत्पति" उनसे बड़ा प्रसन्न होता है। उनका खूब स्वाद लेता है। जीभ चाट-चाट कर उन्हें खाता है स्वाद ले-लेकर उन्हें पचाता है और विश्व-याग की आग का अंग-सा बना देता है। यही उन आहुतियों की सच्ची सुरक्षा है। जो आहुति जितनी अधिक सुसंस्कृत होगी अग्नि-देव के हाथों वह उतनी ही अधिक सुरक्षित हो जाएगी।

तो क्या हमारी आहुति सुसंस्कृत थी? क्या वह स्वीकृत

हुई ? वह विश्व-याग की आग का अंग बनी ? उसको "सत्पति" ने "सत्" समझा ? वह स्वाहा हुई ? इस बात का निश्चय कैसे हो ?

इस समस्या का समाधान होना हमारे द्वारा कठिन है। शरीर की क्रिया का भौतिक माप तो हो सकता है, परन्तु मानसिक व्यापार अधिक गम्भीर है, अधिक जटिल है। मनुष्य की बुद्धि उसकी थाह नहीं पा सकती, उसकी ग्रन्थि नहीं सुलझा सकती। मनुष्य को चुप रहते ही बनती है। हम अपनी किसी क्रिया का विश्लेषण करने लगें; यह कहना कठिन ही होगा कि वह आद्योपान्त विशुद्ध सद्भाव ही से की गई थी। कोई गुप्त सद्भावना उसके साथ चिपकी रही हो—यह कोई असम्भव बात नहीं है। अपने सम्बन्ध में मनुष्य को स्वयं तो चुप ही रहना चाहिए।

अग्नि-देव की प्रसन्नता स्वयं अग्नि-देव द्वारा ही प्रकट हो जाती है और वह साधक की अपनी जुबान से। जब अपने गुण-दोष के विवेचन में असमर्थ साधक विवश होकर मौन धारण कर लेता है, यज्ञ करता है पर कहता नहीं कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ, क्योंकि यज्ञ के ठीक प्रकार करने न करने का उसे स्वयं निश्चय ही नहीं होता, तो उसकी आहुतियों में धीरे-धीरे अग्नि-देव स्वयं प्रवेश करने लगता है। अन्तिम आहुति वाणी की, यज्ञ को यज्ञमय कहने की, उसे यज्ञ समझने की है। यज्ञ करते हुए यह भावना ही छूट जाए कि मैं यज्ञ कर रहा हूँ—यज्ञ की पूर्त्ति इसी आहुति से होती है। एक दिन आता है, जब यजमान के अंग-अंग से

अग्नि-देव स्वयं बोल उठता है। उसमें एक विचित्र वाचालता-सी आ जाती है। वह कहता कुछ नहीं और सब-कुछ कह जाता है। तब उसकी वाणी अग्नि-देव की वाणी होती है।

प्रभु की प्रसन्नता का यही चिह्न है। इस अवस्था में पहुँच चुका साधक सिद्ध हो जाता है। उसके ज्ञान, कर्म तथा धारणा-शक्ति का सूत्रधार स्वयं प्रभु बन जाता है। वह परमप्रेरक, सिद्ध की सम्पूर्ण शक्तियों को प्रबल प्रेरणा देता है। सिद्ध की प्रत्येक क्रिया बोल रही—प्रभु की कृपा का सन्देश दे रही—होती है। प्रभु सहस्र-जिह्व होकर सिद्ध की न बोल-सकती बोली में बोलते हैं। साधना की सत्यता का यही प्रमाण है।

तो हे विश्व-याग के अग्रणी अग्नि-देव! क्या हम उस मंगल घड़ी की प्रतीक्षा करें? हमारी आहुतियाँ तुम्हारी आग में पड़ कर उत्तरोत्तर शुद्ध होती जाएँ। उनके मल हटते जाएँ। हमारे प्रति तुम्हारे मन का प्रसाद बढ़ता जाए। अन्त को वह शुभ घड़ी आए जब हमारा मौन तुम्हारी टेर हो जाए—हमारी मूक-वाणियों में तुम बोलो—तुम्हीं बोलो।

मैं चुप थी तुम बोल रहे थे।
ओठों पर मधु तोल रहे थे।
मन में मिश्री घोल रहे थे।
मेरा मौन तुम्हारा टेर।
स्वप्न-सुमेरु रहा दृग घेर।

—

भगवान् का भला

यज्ञा यज्ञा वो अग्नये गिरा गिरा च दक्षसे ।
प्र प्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न शंसिषम् ॥१॥ ३५

ऋषिः—शंयुर्बार्हस्पत्यः=वेदपति का पुत्र शान्त्याभिलाषी ।

(यज्ञा-यज्ञा) हमारा प्रत्येक यज्ञ (वः) तुझ (अग्नये) अग्नि-देव के लिये है। (च) और (गिरा-गिरा) हमारी बात-बात से [हे अग्नि-देव] (दक्षसे) तुम बढ़ते हो। (वयम्) हम (अमृतम्) मरण-रहित (जातवेदसम्) जीवन-अग्नि की (प्रियं) प्यारे (मित्रं न) मित्र की तरह (प्र प्रशंसिषम्) बार-बार प्रशंसा करते हैं।

जबसे हमने यज्ञ का रहस्य समझा है, हमारा सम्पूर्ण जीवन यज्ञमय हो गया है। यों तो हमारा प्रत्येक अंग अनजाने में भी यज्ञ ही कर रहा है। हमारे शरीर की प्रत्येक यान्त्रिक क्रिया अपने आपमें एक यज्ञ है। हमारा श्वास लेना, आँख झपकाना, हमारे रुधिर का नाड़ी-नाड़ी में प्रवाहित होना—ये सब छोटे-छोटे यज्ञ हैं। कितने अंग प्रत्यंग मिल कर इन क्रियाओं में भाग लेते हैं! प्रत्येक सजीव जन्तु का शरीर, यज्ञ द्वारा अभिलक्षित, संगतिकरण का मूर्त्त उदाहरण है।

हमारे शरीर के, मन के, इन्द्रियों के सभी यज्ञ-याग अग्नि के अर्पण हैं। इदमग्नये,—इदन्न मम। ये छोटे-छोटे यज्ञ एक महान् यज्ञ की आहुतियाँ ही हैं। सबसे बड़ा

याग विश्व-याग है। यदि हमारे अङ्गों-प्रत्यङ्गों द्वारा सम्पादित हो रहे सभी यज्ञ विश्व-याग की आग के अंग बन जाएँ, तो हमारा जीवन सफल है। हमारे जीवन की छोटी-बड़ी सभी क्रियाएँ सफल हैं।

क्या हमारी इन छोटी-छोटी अग्नियों के, इस महान् अग्नि की वेदी पर, आहुति बन प्रस्तुत होने का कुछ लाभ भी है? संसार चल रहा है। मनुष्य उसका कितना अल्प भाग है? इतने विस्तृत विश्व में मनुष्य की गिनती ही क्या है? जहाँ अनगिनत ग्रह-उपग्रह, असंख्य सूर्य, असंख्य तारे, असंख्य जीव-जन्तु अपनी-अपनी मर्यादा में, बिना अणु-मात्र विचलित हुए, जा रहे हैं, वहाँ मनुष्य-जैसे अत्यन्त अल्प प्राणी की हैसियत ही क्या है? इसने यज्ञ किया न किया। विश्व-याग की आग में इसकी इस नन्हीं-सी आहुति को पूछता ही कौन है?

नहीं, हम इतने तुच्छ नहीं हैं। हमारी बात-बात अग्नि-देव को प्रोत्साहित करती है, उसे आगे बढ़ाती है। भगवान् को भक्त की अत्यन्त आवश्यकता है। भक्त न हों, तो भगवान्, भगवान् नहीं रहता। प्रभु ने यज्ञ रचाया है। वह तो इस यज्ञ का यजमान ही है। विश्व-याग के देवता हम हैं। यज्ञ रचाया ही इसी लिए गया है कि हम उसमें अपनी आहुति दें। हम इस यज्ञ के विषय में क्या कहते हैं, क्या करते हैं, क्या सुनते हैं—हमारी इस बात-बात का यज्ञ के लिए महान् मूल्य है। भक्त की भक्ति से भगवान् का भला होता है। प्रभु का यज्ञ हमारी आहुतियों द्वारा ही

सफल होगा। जब यह बात है तो हमें अपनी एक-एक भावना को, एक-एक चेष्टा को, एक-एक वाक्य को कैसी सावधानी से व्यवहार में लाना चाहिए! यदि हमारी मनोवृत्ति ही यज्ञ की हो जाए, तो शेष सावधानी तो अपने आप ही हो जाएगी। अग्नि-देव हमारी मानसिक, वाचिक, कायिक आहुतियों को अपने आप सँभाल लेगा। उन्हें सुसंस्कृत कर अपने आप उज्ज्वल, विमल, ज्योतिर्मय बना लेगा।

हमारे हृदयों में एक बार इस अमर जीवनाग्नि की प्रशंसा जग जाए सही। हमें अपना जीवन यज्ञमय प्रतीत होने लगे सही। उसकी दिव्यता पर—एक-एक अंग की प्रक्रियाओं की अलौकिकता पर—हमारी आश्चर्य-चकित दृष्टि मुग्ध हो एक बार टिक जाए सही। फिर हमारे मुख से, हमारे अपने शरीर की; अड़ोस-पड़ोस के प्राणी-जगत् के शरीरों की; समाज के, समुदायों के सामष्टिक शरीरों की; सम्पूर्ण विश्व के व्यापक शरीर की; प्रशसा निकलनी बन्द न होगी। व्यक्ति मर रहे हैं, पर समष्टि अमर है। एक बार प्रलय में विलीन हुआ अग्नि-देव फिर जग जाता है। "जातवेदाः" अग्नि का ताँता कभी विच्छिन्न नहीं होता, कभी मृत्यु का ग्रास नहीं बनता।

जातवेदस् अग्नि हमारा सबसे बड़ा मित्र है। हमारे जीवन का आधार, उत्पन्न जगत् का आधार-भूत यह विश्व-व्यापक अग्नि ही है। हमारा इससे अधिक हित क्या हो सकता है कि हम इस अग्नि की ज्वाला बन जाएँ। इसे चमकाएँ और अपने आप चमकें। वाणी से, विचार से,

आचरण से इस अग्नि के गुण गाते जाएँ—इसकी प्रशंसा करते जाएँ। प्रत्येक क्षण हमारे इस प्रशंसा के भाव को उन्नत करता जाय। हम इस आग के अधिक-अधिक निकट होते जाएँ,—यहाँ तक कि हमारा सम्पूर्ण जीवन, जीवन-अग्नि की—विश्व-याग की आग की—मूर्त्त मित्रता, प्रगल्भ प्रशंसा हो जाए।



रस की बस्ती

पाहि नो अग्न एकया पाह्यु३त द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जां पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥२॥ ३६

ऋषि:—भर्ग: प्रागाथ:=उत्तम कीर्त्तिमान् का तेजस्वी पुत्र।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (एकया) एक वाणी द्वारा (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कीजिए। (उत) और (द्वितीयया) दूसरी वाणी द्वारा (पाहि) हमारी रक्षा कीजिए। (ऊर्जांपते) हे अन्नों, रसों तथा बलों के स्वामी! (तिसृभिर्गीर्भिः) तीन वाणियों द्वारा (पाहि) हमारी रक्षा कीजिए। (वसो) हे [रसों की] बस्ती बसानेवाले! (चतसृभिः) चार वाणियों द्वारा (पाहि) हमारी रक्षा कीजिए।

मनुष्य अन्य पशुओं से उत्कृष्ट है—इतना उत्कृष्ट कि इसे पशुओं से एक सर्वथा भिन्न प्राणी समझा जाता है। इसका यह उत्कर्ष इसकी विशेष विचार-शक्ति के कारण है। विचार-शक्ति पशुओं में भी है। किसी-किसी अंश में कोई-कोई पशु मनुष्य से अधिक विचारवान् भी प्रतीत होता है। जैसे शहद की मक्खी जैसा छत्ता सामान्य मनुष्य नहीं बना सकता।

चिउँटियों में संघटन की अपूर्व योग्यता है। यह योग्यता साधारण मनुष्यों में नहीं है। यह सब-कुछ होते हुए भी मनुष्य-जाति के विचार में एक सातत्य है—एक अमरता है, उत्तरोत्तर विकसित होने का स्वभाव है—जो किसी भी पशु-जाति के विचार में इतना स्पष्ट, इतना उन्नत नहीं है। इस सातत्य का, इस अमरता का, इस संघटित विचार-शीलता का सहारा मनुष्य की भाषा के सिर है। मनुष्य के सारे उत्कर्ष का कारण उसकी भाषा है। बोलने की शक्ति, संभव है, पशुओं में भी हो, परन्तु उसके पास लेखन-कला नहीं है, अपने विचार को इस विस्तृत रूप से सुरक्षित रख कर उसकी इतनी व्यापक उन्नति करने की सामग्री उनके पास नहीं है। मनुष्य के पास जहाँ भाषण-कला है, वहाँ लेखन-कला भी है। और अब तो मुद्रण-कला और प्रकाशन-कला भी अपनी पराकाष्ठा पर हैं। फिर टेलीफ़ोन, टेलीग्राफ़, फ़ोनोग्राफ़, रेडियो, ब्रॉडकास्टिंग—ये सब भी तो वाणी ही के विकास के साधन हैं। मनुष्य की वाणी अब अनेकानेक प्रकार से संसार के एक छोर से दूसरे छोर तक दौड़ रही हैं, भाग रही हैं;—एक जाति का सन्देश क्षण-भर में अन्य जातियों तक ले जा रही है। आज तो युग ही राष्ट्रियता का नहीं, अन्तर्राष्ट्रियता का है।

यह सब मनुष्य के यज्ञिय जीवन का परिणाम है। यज्ञाग्नि मनुष्य को आगे ही आगे लिए जा रही है। भाषण-कला, लेखन-कला, मुद्रण-कला तथा शब्द-वाहन-कला—इन सब रूपों में उसकी भाषा विकास कर रही है।

ये चारों प्रकार एक ही भाषा के हैं। और वह है जागृत भाषा। इस भाषा का सम्बन्ध मनुष्य की इन्द्रियों से है। मनुष्य जागता हुआ निरन्तर अपनी इन्द्रियों से काम लेता रहता है। ये ऋत्विक् उसके ज्ञान-यज्ञ का संचालन करते जाते हैं। चतुष्पाद ओम् की उपासना की यह पहिली सीढ़ी है। यह मानव-जाति द्वारा 'अ' का उच्चारण है।

दूसरी सीढ़ी 'उ' का उच्चारण है। यह स्वप्नावस्था का वाणी-विलास है। स्वप्न में हमारा मन काम तो करता ही है; और कभी-कभी इन्द्रियाँ भी उसका साथ दे जाती हैं। स्वप्न में लोग एक स्थान से दूसरे स्थान तक चले भी जाते हैं। हिप्नाटिज्म द्वारा यही बात कृत्रिम रूप से कर दी जाती है। स्वप्न का संसार जागृति के संसार से अलग है। उसमें परोक्ष चिति काम करती है।

इन दोनों अवस्थाओं से भिन्न सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद की अवस्था है। इस अवस्था में हम अचेत हो जाते हैं। स्वप्न का मनोव्यापार एक पृथक् जीवन की रचना कर देता है। कई लोग जागृति का जीवन अलग रखते हैं, स्वप्न का अलग। उनका जीवन दोहरा होता है। जागे थे तो स्वप्न की श्रृङ्खला बीच में टूट गई थी। जब फिर सो गये तो वह टूटी हुई श्रृङ्खला फिर जुड़ गई। स्वप्न का जीवन नये सिरे से आरम्भ हो गया। सुषुप्ति में इस प्रकार का मनोव्यापार भी बन्द हो जाता है। वहाँ इन्द्रियाँ मौन साध लेती हैं। मन भी जागृति तथा स्वप्न की थकान उतारता है। जागृति तथा स्वप्न में उपार्जित ज्ञान का स्वांगीकरण (Assimilation)

आत्मा सुषुप्ति की अवस्था में करता है। जब प्रत्यक्ष व्यापार बन्द होते हैं, तभी परोक्ष व्यापार चल सकता है। इस अवस्था में भी आत्मा को सुख की अनुभूति तो होती ही है। यही मनुष्य की तीसरी वाणी है। आत्मा की वाणी सुख है।

इन तीनों वाणियों-द्वारा मनुष्य मानसिक भोजन उपलब्ध करता है। संसार अन्न है, मनुष्य अत्ता। जागृति में इन्द्रियों द्वारा, स्वप्न में मनोव्यापार द्वारा, सुषुप्ति में परोक्ष चित द्वारा मनुष्य ज्ञाता बनकर ज्ञेय जगत् का उपभोग करता है। ये तीन प्रकार के अन्न अपने-अपने समय पर अत्ता को अपने आप प्राप्त हो रहे हैं। परन्तु जीवन संसार के इस प्रकार के अतृत्व से आगे जाता है। संसार में स्वाद है परन्तु इससे कहीं बढ़ कर स्वाद संसार से ऊपर है। रसो वै सः। रस रूप तो वही है, यह नहीं। वक्ता पुरुष की तीन वाणियों का विलास हम देख चुके। चौथी वाणी तुरीय अवस्था की है। वह चतुष्पाद का अपाद पाद है, अमात्र मात्रा है। वह तुलसी का—

गिरा अनयन नयन बिनु वाणी

है। वहाँ की भाषा मौन है। उस बस्ती में बसते तो हैं, पर बोलते नहीं। वहाँ बसना ही बोलना है। बोलना होता ही दो में है। तुरीय अवस्था अभेद की है। जब प्रेमी और प्रिय में प्रेम की पराकाष्ठा हो जाए, तब वाणी साथ छोड़ देती है। किसी ने कहा है—

हिज्र का नक़्शा इन आखों जमा लूँ तो कहूँ।
सामने से तुझे इक बार हटा लूँ तो कहूँ॥

मिलन में विरह का रंग कैसे लाऊँ ? वसु-रूप अग्नि-देव की यह चौथी वाणी है ।

हे अग्नि-देव ! हमें पहिली, दूसरी, तीसरी, चौथी—सभी वाणियाँ दो । तीसरी में पहिली दोनों मिली हों । चौथी वाणी को पाकर भी हम पहिली तीन वाणियों से वंचित न हो जाएँ । हमारी जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तथा समाधि—चारों अवस्थाएँ आपका अविरत वाग्विलास हो जाएँ । सोते जागने, सपने लेते, समाहित रहते हम तुम्हारे ही मधुर शब्द का श्रवण करें । यही श्रवण ही हमारा भोजन हो, यही हमारा वास—वस्ती । अन्नपते ! हमें अन्न दो । वासक-देव ! हमें वास दो । अपने ज्ञान का अन्न, अपने ज्ञान का वास । तुम्हारी यज्ञिय वस्ती में हम यज्ञिय अन्न का उप-भोग करें । "ऊर्जांपते"—रसों के स्वामी ! हमें रस दो । हमारी जागृति रसमय हो, हमारा स्वप्न रसमय हो, हमारी सुषुप्ति रसमय हो और फिर समाधि तो रस की वस्ती ही है । हे रसों की वस्ती बसा रहे विश्व-याग के रसिक ! हमें भी रसों की इस वस्ती में कोई रसीला स्थान दे दो । हमारी अणु-भर आत्मा को अणु-भर स्थान, अणु-भर रस चाहिये ।

***

पवित्र ज्योति

बृहद्भिरग्न अर्चिभिः शुक्रेण देव शोचिषा ।
भरद्वाजे समिधानो यविष्ठ रेवत्पावक दीदिहि ॥३॥ ३७

ऋषिः—शयुः—कल्याण चाहनेवाला—तृणपाणिः=हाथ में तिनके लिए हुए ।

(अग्ने) हे अग्रणी ! (यविष्ठ) हे अत्यन्त युवा ! संयोग-वियोग के सबसे बड़े साधक ! (पावक) हे पवित्रता लाने-वाले देव ! आप (भरद्वाजे) अन्न, बल तथा ज्ञान की आहुति लानेवाले यजमान में (समिधानः) आग जलाते हुए (बृहद्भिः) बड़ी-बड़ी (अर्चिभिः) ज्वालाओं के साथ (शुक्रेण) विमल (शोचिषा) प्रकाश से युक्त होकर (रेवत्) रमण करते-करते (दीदिहि) प्रदीप्त हूजिए ।

अग्नि-देव हमेशा जवान है । उसकी शक्ति कभी क्षीण नहीं होती । प्राणि-मात्र की जवानी का रहस्य अग्नि-देव की उष्णता ही है । जिसके शरीर में जितनी अधिक जीवनाग्नि है, वह उतना ही अधिक जवान है, बलवान् है । फिर विश्व-याग के संचालन के लिए तो कितनी अधिक शक्ति चाहिए ? विश्व-याग की अग्नि तो सम्पूर्ण शक्तियों का स्रोत है । संसार एक सिरे से दूसरे सिरे तक संयोग-वियोग का घर है । परमाणु मिल रहे हैं और मिल-मिल कर अलग हो रहे हैं । बनने और बिगड़ने की इतनी विशाल क्रिया के लिए कितना ताप चाहिए ?—यह मानव-बुद्धि की कल्पना से बाहर है । एक व्यक्ति तो क्या, समूची मानव-जाति मिलकर भी कल्पना करने लगे तो भी इस ताप की मात्रा का अनुमान करना असम्भव है । विचार करने-मात्र से बुद्धि पर एक अकथनीय आतंक-सा छा जाता है ।

फिर तमाशा यह है कि इस ताप को पवित्रता चाहिए । मलिनता किसी भी प्रकार की हो, आग में पड़ कर भस्म हो जाती है । आग मल हटाने का सबसे उत्तम साधन है ।

किसी पदार्थ को आग में डाल दो सही, वह झट स्वच्छ, निर्मल, उज्ज्वल होकर चमकने लगता है। आग, जैसी उज्ज्वल स्वयं है, वैसी ही उज्ज्वल वह अन्य सब चीजों को भी बना देती है।

यजमान शुद्ध होने की भावना से यज्ञाग्नि के निकट जाता है। वह चाहता है कि विश्व-याग की बड़ी-बड़ी सुनहरी लपटें उसकी हृदय-वेदी पर भी प्रज्वलित हों। वह अपना अन्न, बल, ज्ञान—सम्पूर्ण सर्वस्व अपने हाथों में उठाए जा रहा है। उसकी इच्छा अपनी जड़ तथा चेतन—सभी प्रकार की विभूतियों को अग्निमय बना देने की है। वह अपने सर्वस्व को विश्व-याग की आग की भेंट होते देखकर प्रसन्न होता है। इसमें उसे "रयि" मिलता है—आनन्द की अनुभूति होती है। अग्नि हव्य के साथ खेलती है—रमण करती है। यजमान का रमण इस अग्नि-देव के रमण ही में है। आग को खेलता देखकर यह भी खेलने लगता है। यही खेलना देव-पना है। धन की, मन की, जन की—सम्पूर्ण जीवन की बाज़ी लगा देना ही सर्व-मेध यज्ञ है। भरद्वाज इसी सर्व-मेध यज्ञ करनेवाले का नाम है। जिसके मन में अभी यह भावना स्फुरित हुई है, वह जन भी भरद्वाज ही है। उसने अभी आहुति दी नहीं, पर उठा तो ली ही है।

तो, हे अग्नि-देव! इस अपने भरद्वाज की करुण पुकार को सुनो। एक लपट में इसका सर्वस्व स्वाहा करते जाओ। इतने में यह सन्तुष्ट नहीं होगा। इसकी इच्छा

अपने आपको स्वाहा कर देने की है। यह स्वयं यज्ञाग्नि की ज्वाला बनने का उत्सुक है। छोटी-सी ज्वाला नहीं, बड़ी। हलकी नहीं, प्रबल। धूमिल नहीं, उज्ज्वल। तो, हे अग्नि-देव ! तुम इसके हृदय को ही अपने यज्ञ की वेदी बना लो। तुम इसके अंग-अंग में प्रदीप्त हो जाओ। इसकी जवानी को अपनी जवानी की झाँकी बना लो, इसकी पवित्रता में अपनी पवित्रता को प्रतिबिम्बित कर लो। तुम इसी के रमण में रम जाओ। रमते राम ! रम जाओ, हमारे रमण में रम जाओ।

* * *

गल्ले के गल्ले

त्वे अग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वं दयन्त गोनाम् ॥४॥३८

ऋषिः—वशिष्ठ=वाक्पतिः।

(स्वाहुत अग्ने !) हे पूरी तरह यज्ञ की अग्नि के भेंट हो चुके अग्रणी ! (सूरयः) बुद्धिमान् यजमान (त्वे) आपके (प्रियासः) प्यारे (सन्तु) हों, (ये) जो (जनानाम्) प्रजाजनों के (मघवानः) ऐश्वर्य-सम्पन्न (यन्तारः) शासक होकर (गोनाम्) गायों के (ऊर्वम्) गल्ले के गल्ले (दयन्त) दान करते हैं।

किसी यज्ञ का संचालक वही हो सकता है जो पहिले अपने आपको उस यज्ञ की वेदी पर स्वाहा कर दे। यज्ञ के चलाने में उसका स्वार्थ न हो। प्रभु पूर्ण निष्काम है।

इसलिए विश्व-याग का सबसे ऊँचा अग्रणी परमेश्वर ही है। मनुष्यों में से भी जो जो इस भाव को जितना-जितना अपने में मूर्त करता है, वह भी उतना-उतना अग्रणी बनता जाता है। छोटी-छोटी अग्नियाँ किसी बड़ी अग्नि की आहुति ही बन जाएँ—इसी में उनकी सफलता है।

प्रेम और सखि-भाव हमेशा समान-गुणवालों में होता है। भक्त का प्यारा भक्त होगा, ज्ञानी का ज्ञानी, यजमान का यजमान। यज्ञार्थ समर्पण हो चुके देवों अथवा मनुष्यों का प्रेम प्राप्त करना हो तो इसका रास्ता यही है कि हम स्वयं यज्ञ करें। स्वार्थी और यज्ञार्थी में परस्पर मित्रता नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चे स्वार्थ की सिद्धि होती ही यज्ञार्थ जीवन व्यतीत करने से है। परोपकार अन्त को अपना ही उपकार है। व्यक्ति का हित समष्टि ही के हित में है। जब इस सूत्र का ज्ञान हो जाए तो कोई संकुचित स्वार्थी रह ही नहीं सकता। दीर्घ-दर्शी ख्वाह-मख्वाह अपना जीवन लोकहित के अर्पण कर देगा। और ऐसा पुरुष अवश्य समुदाय के, राष्ट्र के, सम्पूर्ण विश्व के अग्रणी का प्यारा होगा ही। छोटे-मोटे अग्रणी अल्प ज्ञान के कारण इसके महत्व को न भी जानें, सर्वज्ञ प्रभु से किसी की गुप्त से गुप्त अवस्था भी छिपी नहीं है! प्रभु जो विश्व-याग का अपने आप यजमान है, हम अणु-परिणाम के यजमानों से उसे प्रेम का—सखित्व का व्यवहार करना ही ठहरा। हमारी आहुति को वह अपने कृपा-पूर्ण हाथों से स्वीकार करता है, उसे विश्व-याग का अंग बनाता है। इससे और बड़ा

सखित्व क्या हो सकता है कि हमारी भेंट स्वयं प्रभु की भेंट का भाग बन जाए ?

मनुष्य-मनुष्य में भेद है। किसी के पास एक गुण विशेष है तो किसी और के पास अन्य गुण की विशेषता है। कोई धन से, कोई विद्या से, कोई कला-कौशल से—सार यह कि किसी-न-किसी वैभव से प्रत्येक उद्यमी मनुष्य जगत में विशेष विभूतिमान् हो रहा है। यों तो सब ऐश्वर्य परमेश्वर ही के हैं, परन्तु इनका कोई-कोई अंश प्राप्त कर हम भी छोटे-मोटे ईश्वर बन ही जाते हैं। अपने गुणों के कारण प्रत्येक गुणवान् गुणहीन जनों पर अधिकार पा ही लेता है। राष्ट्र में राज्याधिकार हमेशा गुणियों ही के हाथ में होना चाहिए। प्रजा के प्रतिनिधि वही होने चाहिएँ जो किसी-न-किसी गुण के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके हों। ऐसे लोगों का शासन स्वाभाविक है। वे ख्वाह-मख्वाह समाज के अगुआ होंगे ही।

परन्तु शासन अधिकार नहीं, कर्त्तव्य है। अधिकार सेवा का साधन है। राष्ट्र की स्थापना तो की ही इसलिए जाती है कि व्यक्तियों की शक्तियाँ संघटित हों और इससे धन-धान्य के, सुख-सम्पत्ति के, शिष्टाचार के साधनों की बहुतायत हो। जिस राष्ट्र की प्रजा सुखी न हो, जिसमें रह कर प्रजा-जनों का सर्वांगीण विकास न हो, वह राष्ट्र का अभिनय हो तो हो, वह सचमुच का राष्ट्र नहीं। राष्ट्र तो एक विशाल गो-शाला है जिसमें सब प्रकार की समृद्धियाँ गौ बनकर बस रही हैं। जनता में अन्न के, बल के,

विद्या के दूध की नदियाँ बह रही हैं। राजवर्ग का काम इन गायों की बहुतायत कर देना है। ऐसा होना तभी सम्भव है जब सभी राज-पुरुष यज्ञ करनेवाले—अपने-अपने ऐश्वर्यों की आहुति राष्ट्र की अग्नि में दे देनेवाले हों। अग्नि-देव के प्रेम के पात्र ऐसे ही लोग हो सकते हैं।

प्रभो! हम प्रजावर्ग स्वयं राजवर्ग हैं। हमारी शक्तियों को अपनी-अपनी दिशा में विकसित होने का पूर्ण अवसर है। हम आपके अग्नित्व को—यज्ञाग्नि होने के गुण को—अपने अन्दर धारण कर इन शक्तियों को समुन्नत करें और फिर इन्हें राष्ट्राग्नि के अर्पण कर आपके प्यारे हो जाएँ। हमें अधिकार दो सेवा का, हमें शासक बनाओ यजमान बना कर। हमारे राष्ट्र में सुख-सम्पत्ति की समृद्धि हो। चारों ओर दूध की नहरें ही नहरें बह निकलें। इस क्षीर-सागर में लक्ष्मी-पति विष्णु का निवास हो। हमारी राज्यश्रीः तुम्हारी लक्ष्मी हो। यज्ञाग्नि की लक्ष्मी हो। हमारे घरों में सुख-समृद्धि-रूपी गायों के गल्लों के गल्ले हों।

* * *

मोक्ष के द्वार

अग्ने जरितर्विश्पतिस्तपानो देव रक्षसः।

अप्रोषिवान् गृहपते महाँ असि दिवस्पायुर्दुरोणयुः॥५॥ ३६

ऋषिः—भर्गः प्रागाथः=उत्तम कीर्त्तिशाली पाप-नाशक।

भरद्वाजः=ज्ञान से भरपूर।

(जरितः) हे आत्मसमर्पण करनेवाले (अग्ने) अग्रणी! तुम (विश्पतिः) प्रजाओं के पालक हो। (देव) हे देव! (रक्षसः तपानः) तुम राक्षसों के तपानेवाले हो। (गृहपते) हे घर के मालिक! (अप्रोषिवान्) तुम घर से बाहर न जाते हुए, घर-गिरस्ती में रहते हुए भी (महान्) पूज्य (असि) हो। (दुरोणयुः) तुमने घर-बार की इच्छा कर (दिवः पायुः) द्युलोक को सुरक्षित कर लिया है।

संसार में संन्यासी का बहुत ऊँचा स्थान है। वह निःस्पृह निर्मम पुरुष केवल परोपकार के लिए ही निरन्तर घूमता है। उसका धर्म ही है—घर से बाहर रह कर फेरी लगाना। वह परिव्राजक है। उसका अपना तो कोई घर-घाट है ही नहीं। फिर दूसरों के घरों में भी अधिक न ठहरने की उसने क़सम खा ली है। घर तो घर, संन्यासी का तो कोई राष्ट्र भी नहीं। वह विशुद्ध अन्तर्राष्ट्रिय पुरुष है। उसका सम्बन्ध सारे विश्व से है। वह न "विश्पति" बन सकता है न "गृहपति"।

ऐसे युग संसार में बीत चुके हैं जब मानव-समाज का आदर्श संन्यास-धर्म का प्रचार करना था। घर-घाट बसाना तथा राज-काज का संचालन करना निन्दनीय समझा जाता था। परन्तु वेद की सम्मति इसमें कुछ और ही है। ऊपर (१. ५ में) अतिथि के गुण गाये जा चुके हैं। अब राष्ट्र-पति तथा गृहस्थ की महिमा कही जा रही है।

वेद यज्ञिय जीवन पर मस्त है—वह जीवन गृहस्थ का हो, राजा का हो या संन्यासी का। वेद का लक्ष्य है—

यज्ञाग्नि का प्रदीप्त करना। कोई मनुष्य-समाज का अगुआ होकर प्रजा का पालक बन जाए और इससे राजा कहलाए तो वह वेद को उतना ही प्यारा है जितना निरन्तर फेरी लगा रहा संन्यासी। आवश्यकता अर्चना की है—आत्म-समर्पण की। जिसने किसी भी रूप से अपने-आपको विश्व की सेवा में लगा दिया, जो संपूर्ण समाज के अर्पण हो गया, वह जरिता—नैवेद्य देनेवाला—अग्नि-देव है। वह पहिले स्वयं अर्चना की आहुति देता है, फिर प्रजाओं की आहुतियाँ ले-लेकर उनका पालन करता है।

वह स्वयं देव है, परन्तु संसार में राक्षस भी विद्यमान हैं। लातों के भूत बातों से थोड़ा मानने लगे हैं। राक्षसों—आततायिओं—को दण्ड देना, कुकर्मियों को वश में रखना—यह देव-पूजा ही का एक प्रकार है। देवताओं की सबसे बड़ी सेवा राक्षसों को क़ाबू करना है सो राष्ट्रपति ही कर सकता है। राष्ट्र एक आवश्यक यज्ञ है। यह यज्ञ देवताओं द्वारा संपादित होता है।

यही अवस्था गृहस्थ की है। गृहपति मधूकरी माँगने नहीं जाता। धूनी रमाना उसका धर्म नहीं। वह द्वार-द्वार पर अलख नहीं जगाता। वह घर पर रह कर ही महान् है—पूज्य है। शास्त्र में गृहस्थ को ज्येष्ठ आश्रम कहा है। गृहस्थ ने घर-बार में रहना पसंद किया है। वह सन्तानोत्पत्ति कर जाति को उत्तम नागरिक दे रहा है। अपने गाढ़े पसीने की कमाई से शेष तीनों आश्रमों का पालन करता है। वास्तव में समाज का सारा दारो-मदार ही गृहस्थों पर है।

सभी धंधे, सभी शिल्प, सभी व्यवसाय गृहस्थ लोग ही चलाते हैं।

गृहस्थ आध्यात्मिकता से वंचित तो क्या रहेगा, इस आश्रम का एक विशेष द्युलोक है। माता का पुत्र से, भाई का बहिन से, पिता का पुत्री से एक दिव्य प्रकार का प्यार होता है। इन सम्बन्धों में निर्ममता की पराकाष्ठा रहती है। यही यज्ञ है। संसार के अन्दर द्युलोक गृहस्थी ही के दम-क़दम से जीवित है। विशुद्ध आध्यात्मिकता की झाँकी मिलती ही माता अथवा भगिनी के पुण्य आत्मोत्सर्ग के दृश्यों में है।

वेद की अग्नि राज-काज में भी जग रही है, घर-बार में भी। वैदिक यज्ञ की यह दोनों वेदियाँ हैं, देवताओं के दोनों रमणस्थल हैं। स्वर्ग के खुले द्वार हैं। मोक्ष की सीधी सड़कें हैं।

गृहस्थ "दिवस्पायु"—द्युलोक का रक्षक हो, राजा देव हो, राक्षसों को दण्ड दे और यज्ञाग्नि का क्रियात्मक स्तोता हो तो ये दोनों महान् हैं—पूज्य हैं। दोनों अग्रणी हैं।

***

प्रभात-वेला

अग्ने विवस्वदुषसश्चित्रꣳ राधो अमर्त्य।
आ दाशुषे जातवेदो वहा त्वमद्या देवाꣳ उषर्बुधः ॥६॥ ४०

ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः=बुद्धिमान् का पुत्र बुद्धिमत्तर।

(अमर्त्य) हे मरण-रहित (अग्ने) अग्नि-देव! (जातवेदः) प्राणि-मात्र में विद्यमान विश्वात्मन्! (त्वम्) तुम (अद्य)

आज (दाशुषे) आत्म-समर्पण करनेवाले यजमान के लिए (विवस्वद्) भाँति-भाँति की जीवन-ज्योतियों से सम्पन्न सूर्य के समान (उषसः) उषा-काल की-सी (चित्रं) चित्र-विचित्र (राधः) ऋद्धि-सिद्धि (आ-वह) लाओ। तुम (उषर्बुधः) उषःकाल में प्रबुद्ध होनेवाले (देवान्) देवों का (आवह) आवाहन करो।

यज्ञ की भावना अमर भावना है। जहाँ स्वार्थ आत्मा को मृत्यु की ओर ले जाता है, वहाँ परोपकार अमरता की ओर। वास्तव में जीवन नाम ही यज्ञ का है। यों तो हमारा भौतिक जीवन भी यज्ञ ही के सहारे चल रहा है। भिन्न-भिन्न अंगों के निःस्वार्थ सहयोग से ही समूचे शरीर का कार्य चलता है। यही नहीं, पौधे, पशु, मनुष्य—सभी किसी गुप्त सूत्र द्वारा, एक दूसरे से बँधे हुए हैं। संसार-भर के प्राणियों का अन्योन्याश्रय है। और तो और, कोई भौतिक शक्ति ही ऐसी नहीं जो मेरी शरीर-यात्रा की वेदी पर अपनी बलि न दे रही हो। तो भी आध्यात्मिक जीवन कुछ और चीज़ है, वह भौतिक से कहीं ऊँचा है। शारीरिक यज्ञ को देखकर हमारे मन में आश्चर्य तथा आह्लाद पैदा होता है। हमें तर्कणा भी यही कहती है कि हमारे भौतिक स्वार्थ तक की सच्ची सिद्धि इसी में है कि हम यज्ञार्थ जीवन व्यतीत करें। परन्तु यज्ञार्थ जीवन तर्क की चीज़ नहीं। प्राणि-मात्र को अवयवी और अपने आपको उस अवयवी का अवयव समझने की बुद्धि किसी भी प्रकार पैदा हो जाए सही, वह मन में एक आग-सी लगा देती है, तब, मज़ा स्वार्थ की सिद्धि में नहीं, उलटा उसके बलिदान में आने लगता है।

यज्ञिय पुरुष को भोग का आनन्द त्याग ही में अनुभव होने लगता है। मनुष्य अल्पात्मा न होकर विश्वात्मा हो जाता है। वेद ने साधना की इसी भूमिका को "जातवेदः अग्नि" कहा है। इस आग के लिए मौत कहाँ है? यज्ञ-भावना सौ अमृतों का एक अमृत है।

जहाँ मनुष्य के हृदय में यह आग प्रज्वलित हुई, उसके जीवन में एक नए उषःकाल का उदय हो गया। कहाँ स्वार्थ का—संकोच का—लोक-लाज का संकीर्ण-सा जीवन? कहाँ प्राणि-मात्र में मित्र-दृष्टि का पुण्य व्यवहार? वह असत् अवस्था थी, यह सत् अवस्था है। वह मर्त्य लोक था, यह अमर्त्य लोक है। वहाँ ईर्ष्या के, मत्सर के, राग के, द्वेष के हाथों एक मनष्य, देखने में दूसरे मनुष्यों की, परन्तु वास्तव में अपनी आप चिता चुन रहा था; यहाँ विश्व-प्रेम, आत्म-बलिदान, लोकोपकार, प्राणियों के स्वभाव में ही है, मनुष्य दूसरे का हित करता-करता सबसे अधिक अपना ही हित कर जाता है। जो अमृत की प्याली दूसरे के मुँह से लगाई जाती है, वह दूसरे के मुँह से लगती-लगती हमारी अपनी आत्मा को एक अलौकिक अमरता-सी दे जाती है। हम अपने किसी गिर गए बन्धु का उद्धार कर रहे हैं—इसी विचार से हमारा उद्धार हो जाता है। किसी के पैर से काँटा निकाल कर हमारी अपनी व्यथा शान्त हो—यह आनन्द अपने स्वार्थ-पूर्ण जीवन को निष्कण्टक कर देने से भी कहाँ था? यज्ञिय-जीवन का स्वाद यज्ञिय-जीवन ही में है।

यह जीवन उषःकाल की लालिमा-सा है। इसमें वही रमणीयता, वही सौन्दर्य, वही जादू, वही अलौकिक ऋद्धि-सिद्धि है। वह सिद्धि स्वार्थ के त्याग की है। छोड़ दिए स्वार्थ के सम्मुख कुबेर का कोष कंकरी-सा प्रतीत होता है। मनुष्य धन का स्वामी तभी बनता है जब उसे देकर भी सुखी हो सके। इससे पूर्व वह धन का दास था, यही "विवस्वत्" सिद्धि है। सूर्य प्रकाश का दान कर रहा है और इसी दान में वह मस्त है। उषा की गोद में प्रकाश-वितरण करने के उत्सुक बाल-सूर्य को कोई देखे! वह उल्लास की, प्रेम की अनुपम मूर्ति, निबिड अन्धकार में पड़ी आत्माओं को भी अकथनीय ज्योति प्रदान कर जाती है। यही अवस्था किसी जातवेद अग्नि के उपासक किसी "दाश्वान्" की है—आत्म-समर्पक यजमान की है।

आध्यात्मिक जीवन की इस उषा में उसे सब ओर देवता-ही-देवता ही दीख रहे हैं। उसके अन्दर के देव जग गए हैं और बाहर के देवों का उन्होंने झट-पट आवाहन कर लिया है। उसकी यज्ञाग्नि प्रबुद्ध है। यज्ञाग्नि ने उसके जीवन में शुद्ध परोपकार की प्रभात-वेला-सी लादी है। यह पुण्य प्रभात दिव्य भावनाओं का अलौकिक आवाहन है। अग्नि के जागते ही सभी देव जग गए हैं। यजमान के अन्दर-बाहर देव-ही-देव हैं, द्युलोक ही द्युलोक है। अमर उषा है, विवस्वान् की-सी ऋद्धि-सिद्धि है।

हे जातवेद अग्नि! इसी सिद्धि का साधक हमें बनाओ। आज, अभी, इसी क्षण। अग्नि-देव! यह पुण्य-वेला फिर कब आएगी? साधक को साधना का मार्ग दीख रहा है।

दान-धन

त्वं नश्चित्र ऊत्या वसो राधांसि चोदय ।
अस्य रायस्त्वमग्ने रथीरसि विदा गाधं तुचे तु नः ॥७॥४१

ऋषिः—तृण-पाणिः=तृणस्ताता ।

(वसो) हे लाख धनों के एक धन ! (त्वम्) आप (नः) हमारे लिए (चित्रः) चमत्कारक होकर (ऊत्या) अपनी कृपा-कोरों से (राधांसि चोदय) हमें फिर समृद्ध कीजिए—निहाल कीजिए। (अग्ने) हे यज्ञ-स्वरूप अग्नि-देव ! (अस्य) इस [दया-रूप] (रायः) धन के (त्वम्) तुम्हीं (रथीः) वास्तविक धनी (असि) हो। तुम्हारी कृपा से (नः) हमारे [यज्ञ की] (तुचे) सन्तति के लिए (गाधम्) कुछ आधार (तु) सा (विदाः) हो।

धनी कौन है ? क्या वह, जिसने लाखों, करोड़ों रुपये इकट्ठे कर सन्दूकों में रख छोड़े हैं ? क्या वह जिसकी अनगिनत सम्पत्ति व्यवसाय में लग कर दिन दूनी, रात चौगुनी होती जा रही है ? या वह;—जो उसे दया में, धर्म के कामों में, दान के रास्ते लगा रहा है। वेद ने अग्नि को सबसे बड़ा धनी कहा है। धनी ही नहीं, धन-स्वरूप। यह इस लिए कि वह धन का "रथी" है। उसका सारा धन छकड़ों में है। छकड़ा बहुत्व की निशानी है। फिर वह धन को एक स्थान पर न रख कर उसे घुमाता फिराता रहता है। जैसे शरीर का रुधिर शरीर में चलता ही रहे तो शरीर को स्वस्थ तथा बलिष्ठ बना देता है। कहीं रुक जाए तो वही

रुधिर रोग-रूप हो जाता है। ऐसे ही जो धन समाज के देह में चलता रहे, वह "वसु" है—वास का, जीवन का हेतु है। इस धन का चमत्कार यह है कि यह दिया जाता हुआ ही लिया जाता है। कोई सचमुच का दयालु सज्जन किसी पर दया-दृष्टि करे तो सही, कोई सच्चा नाथ होकर किसी अनाथ के सिर पर करुणा का हाथ फेरे तो सही, इस देखने-देखने में, इस हाथ फेरने-फेरने में ही कितने लोगों के हृदय समृद्ध हो जाते हैं। दया का सच्चा व्यवहार और तो और, दर्शकों तक को निहाल कर जाता है। धन दिया जाए पर उस देने में दया का भाव न हो तो वह धन, धन नहीं, वह दान, दान नहीं। जो भी रुपया, पैसा, धेला, कौड़ी हम रखते हैं, वह हमारे लिए समृद्धि का साधन तभी है जब उसके साथ कृपा की भावना सम्बद्ध हो। उसके कमाने में, संचय करने में तथा दान दे देने में कृपा-कोरों का साहचर्य्य हो, तभी वह धन हमें वस्तुतः समृद्ध बनाता है। आत्मा की समृद्धि दान द्वारा—यज्ञ द्वारा—होती है।

अग्नि-देव ही वास्तविक धनी है, क्योंकि वह धन का रथी है। वह हव्य का चौकीदार नहीं, संचारक है, प्रचारक है। यज्ञ द्वारा ही हव्य का संचार होता है—प्रचार होता है। इसी से धन रयि-रमण अर्थात् क्रीड़ा का साधन बनता है। मनुष्य धन कमाए और उसके साथ खेले। रा दाने, रमुक्रीडायाम्। रयि वह धन है जो दान-रूपी क्रीड़ा के काम आए। हम इसी रयि के संचारक होना चाहते हैं, प्रचारक होना चाहते हैं। हम चाहते हैं—हमारा यज्ञ इन्हीं

तक परिमित न रहे, किन्तु फैले, सन्तत हो, विस्तार का पात्र बने। हमारी इस यज्ञ-भावना के आधार, हे अग्नि-देव! तुम्हीं हो। हम त्याग करते हैं और समझते हैं कि इस त्याग द्वारा हमने अपने धन को करोड़-गुना बढ़ा लिया है। क्या हमारी यह धारणा निराधार है? किसान ने बीज पृथिवी की कोख में फेंक दिया। उसे ज़मीन के तल पर छिड़क ही तो दिया। भौतिक अग्नि ने उस बीज को अपने हाथों में ले लिया और एक-एक दाने के सैकड़ों दाने बना कर किसान के हाथों मानव-प्रजा की झोली भर दी। यज्ञाग्नि हमारी दया-धर्म की भावनाओं के विषय में यही चमत्कार कर रही है। हम दान की भावना ही से धनी हुए जाते हैं। हम जितना अधिक धन छोड़ते हैं, उतने अधिक समृद्ध हुए जाते हैं। इस समृद्धि का आधार क्या है? फिर हमारे यज्ञ की सन्तति है—अविरल धारा है। हम एक बार दया-धर्म का पालन कर निहाल हुए और इस दया-दृष्टि की परम्परा-सी चल पड़ी। दया अपनी सन्तति स्वयं पैदा करती है। यज्ञ की इस परम्परा का—दया की इस सन्तति का आधार क्या है? यज्ञ का आधार अग्नि-देव है। यज्ञ में दिया हुआ हव्य विस्तृत होता है—यह चमत्कार अग्नि-देव का है।

अग्नि-देव दया की मूर्ति है। वह धन-स्वरूप भी है, दया-स्वरूप भी। प्रभु की कृपा सबसे बड़ा धन है और सबसे बड़ी दया। हमारे यज्ञ की सतत-सन्तति का आधार प्रभु की कृपा-कोर है। इसी कृपा-कोर के सहारे हव्य आग

में फेंका जाता है। नेकी कर दरिया में डाल,—किस दरिया में। प्रभु की कृपा-कोर ही के दरिया में। तेरे दान-धन की इससे बड़ी रक्षा और कहाँ हो सकती है ?

***

ऋत-स्वरूप

त्वमित्सप्रथा अस्यग्ने त्रातर्ऋतः कविः।
त्वां विप्रास समिधान दीदिव आविवासन्ति वेधसः ॥८॥४२

ऋषिः—विरूपः=विविध रूपों का संपादक। भर्गः प्रागाथः=कीर्त्तिशाली पाप-नाशक।

(त्रातः अग्ने) हे त्राण-कर्ता अग्नि-देव ! (त्वमित्) तुम ही (सप्रथाः) व्यापक (कविः) क्रान्तदर्शी (ऋतः असि) ऋत-स्वरूप हो। (समिधान) हे आग प्रज्वलित कर (दीदिवः) प्रदीप्त होनेवाले ! (वेधसः) नये नये यज्ञों का विधान करनेवाले (विप्रासः) मेधावी जन (त्वाम्) तुम्हारी (आविवासन्ति) निरन्तर परिचर्या करते हैं।

हे अग्नि-देव ! भूत-जात का त्राण तुम्हारे ही द्वारा हो रहा है। यदि तुम न हो तो विश्व-याग रुक जाए—नष्ट-भ्रष्ट हो जाए। तुम्हारी दृष्टि दीर्घ है। हम आज की भलाई को सोचते हैं, तुम हमेशा की। हम अपने अथवा अपने आस-पास ही के हित का ध्यान रखते हैं, तुम एक नहीं, अनेक ब्रह्माण्डों के। तुम व्यापक ऋत हो—वह तत्व हो जिसके आधार पर सम्पूर्ण सत्ता निर्भर है। हम अपनी इंन्द्रियों के तथा मन के द्वारा भौतिक तथामान सिक सचाइयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। विज्ञान हमें भौतिक सचाइयाँ

बताता है, दर्शन मानसिक। हम सचाइयों का वह आध्यात्मिक तथ्य जानना चाहते हैं जिसे वेद ऋत कहता है। ऋत का ज्ञान न मन से होता है न इन्द्रियों से। इसका ज्ञान ऋतंभरा बुद्धि के द्वारा ही होता है। ऋतंभरा बुद्धि सत्ता के मूल के दर्शन कर लेती है। सो मूल ऋत है, यज्ञ, है, अग्नि है। हाँ ! हाँ !! अग्नि-देव ! व्यापक ऋत तुम्हीं हो, व्यापक यज्ञ तुम्हीं हो। तुम जगह-जगह आग जला रहे हो, यज्ञ की वेदियाँ-सी प्रज्वलित कर रहे हो। योगी ने अलग धूनी जमाई है, ज्ञानी ने अलग दीपक जला रखा है। किसी के मन में, किसी के हृदय में, किसी के प्राण में, किसी की दृष्टि में सर्वत्र तुम्हारी ही ज्योति जल रही है। इन छोटी-छोटी ज्योतियों ने तुम्हें देदीप्यमान कर रखा है। छोटी-छोटी किरणें महान् सूर्य्य की रचना कर रही हैं। तुम जला रहे हो, और जला-जला कर स्वयं प्रज्वलित हुए जाते हो। हे जला-जला कर जलनेवाले ! औरों को प्रकाश दे-दे कर स्वयं प्रकाशित होनेवाले ! हमें प्रकाश दो। स्वयं प्रकाशित हो उठने के लिए हमें प्रकाश दो। हमारे सामने बीसियों योजनाएँ उपस्थित हैं। वे योजनाएँ सब यज्ञ-स्वरूप हों। प्रत्येक वास्तविक योजना यज्ञ-स्वरूप ही होती है। बुद्धिमान् आयोजक वही है जो मेधावी हो, सत्ता का व्यापक दर्शन कर चुका हो। ऐसे क्रान्त-दर्शी जन यज्ञ-स्वरूप होंगे। वे अग्नि-देव ही के उपासक होंगे। यज्ञाग्नि की उपासना किए बिना कोई विधान सफलता को प्राप्त नहीं होता। ब्राह्मण यज्ञ करता है, क्षत्रिय यज्ञ करता है; वैश्य यज्ञ करता है। जिस

मनुष्य में दीर्घ-दर्शता है, वह याग की आग का परवाना बन ही कर रहता है। याग की आग का चक्कर काटे विना कोई साधना सिद्धि का मुँह नहीं देखती।

सो हे अग्नि-देव। हमें अपनी परिचर्या करने दो। हमें अपने प्रदीप का पतङ्गा बनने दो। हम मेधावी हों, विधाता हों। किसी के मन में आग लगाएँ और स्वयं प्रदीप्त हो उठें। हमें आग लगा दो ऋत की—अपने त्राण कर्त्ता कवि-रूप की। तुम्हारा दिव्य सत्य स्वयं कवि—क्रान्त-दर्शी—है। इस दिव्य सत्य का दर्शन भी कवियों—क्रान्त-दर्शियों द्वारा ही होता है। तो प्रभो! हमें वह दीर्घ-दर्शता दो ना। वह दिव्य-दृष्टि दो ना जो सब ओर अग्नि-ही-अग्नि के दर्शन करे, और इससे स्वयं अग्नि-रूप हो जाए। हमारा निस्तारा यज्ञ द्वारा होगा—तुम्हारी परिचर्या द्वारा ही होगा।

***

सच्चे यश की नाव

आनो अग्ने वयोवृधꣳ रयिं पावक शꣳस्यम्।
रास्वा चन उपमाते पुरुस्पृहꣳ सुनीती सुयशस्तरम् ॥६॥४३

ऋषिः—शुनःशेपः आजिगर्तिः=अजीगर्त का पुत्र ज्ञान-सेवी। कीर्त्ति-शाली पापदाहक।

(पावक) हे पवित्रता-कारक (अग्ने) अग्नि-देव! (नः) हमें (वयोवृधम्) आयु तथा बल को बढ़ानेवाला (शंस्यम्) प्रशंसनीय (रयिम्) सम्पत्ति-रत्न (आरास्व) दो। (च) और (नः) हमें (उपमाते) हे आदर्श-स्वरूप (सुनीति) शोभन

नीति द्वारा (पुरुस्पृहम्) लोक-प्रिय (सुयशस्तरम्) उत्तम यश की नौका (आ रास्व) प्रदान करो।

रयि वह धन है जिससे खेला जाए। जो धनी धन से खेल नहीं सकता, वह धन का स्वामी नहीं, दास है। धन बल को बढ़ाने के लिए है। जिस धन की चोर-चकार से रक्षा करनी पड़े, वह बल को बढ़ाएगा क्या ? वह तो चिन्ताओं की पोटली है जो प्रतिक्षण हृदय पर बोझ-सा डाले रहती है, बल और आयु दोनों को घटा रही है। प्रथम तो शरीर ही आत्मा का एक साधन है, फिर धन उस सम्पत्ति का नाम है जो स्वयं शरीर के कार्यों की सिद्धि में साधन बने। दूसरे शब्दों में धन उस साधन का भी साधन है। एक शरीर साधन, फिर धन उसका भी साधन। साधन साधक के ऊपर शासन करने लगे—यह व्यवहार धर्म नीति के अत्यन्त विपरीत है।

प्रशस्त धन वही है जो यज्ञाग्नि द्वारा प्राप्त हो। जो धन यज्ञ करके प्राप्त किया जायगा वह पवित्र होगा। उसमें किसी प्रकार की मलिनता न होगी। उदाहरणतया किसी कारखाने के मालिक समझ लें कि उनका व्यवसाय एक यज्ञ है। उस यज्ञ में मजदूरों, पूँजीपतियों, कलाविदों इत्यादि सब कार्य-कर्त्ताओं की आहुति पड़नी आवश्यक है। और उस आहुति का फल सबको न्याय-नियम के अनुसार मिलना ही चाहिए। किसी ने शरीर से काम लिया, किसी ने बुद्धि से। बुद्धि का काम शरीर को ठगना नहीं, रास्ता दिखाना है। मजदूर पूँजीपति का और पूँजीपति मजदूर का स्वयं

एक प्रकार का आवश्यक धन है। आँखों को पैरों की और पैरों को आँखों की बराबर आवश्यकता है। यह बुद्धि जगते ही काम और सम्पत्ति के झगड़े झटपट बन्द हो सकते हैं। यज्ञ-शेष के रूप में प्राप्त किया धन सबकी आयु तथा बल का बढ़ानेवाला हो सकता है। सच यह है कि मन की पवित्रता—धोखे तथा ठगी की वृत्ति से दूर रहना—शरीर की पुष्टि का इतना बड़ा साधन है कि भौतिक अन्न इत्यादि उसके सामने कुछ मूल्य ही नहीं रखते। अन्न पवित्र हो, तभी बल की वृद्धि करता है, और पवित्र अन्न पवित्रता-कारक अग्नि के द्वारा ही प्राप्त होता है।

यज्ञाग्नि शुद्ध धन की प्राप्ति तथा वितरण दोनों में उपमान है। किस प्रकार आहुति ली जाए और फिर किस प्रकार उसे सब देवों के पास पहुँचा दिया जाए—इसमें यदि किसी की उपमा दी जा सकती है तो अग्नि की। अग्नि इस विषय में 'उपमाति' है—आदर्श-स्वरूप है। इसमें आहुति डालते ही मिलकर हैं और फिर उस आहुति का उपभोग भी मिल ही कर किया जाता है। यही यज्ञ का रहस्य है। देव-पूजा द्वारा देवताओं का ही उपकार हो—यह बात नहीं है। यजमान यज्ञ कर अपना उपकार सबसे अधिक करता है। यज्ञ द्वारा उपभोग करने से स्वयं उपभोग को त्याग का रूप मिल जाता है जो अत्यन्त सुन्दर है। नहीं तो, है तो त्याग भी एक प्रकार का उपभोग ही। बत्ती आग में जला दी तो वह नष्ट तो हुई नहीं, वह किसी न किसी रूप में इस ब्रह्माण्ड के शरीर ही में विद्यमान है। अन्न शरीर का अंश बन कर

बल बन गया है, और जिस अंग ने उसे दूसरे अंगों के प्रति प्रदान किया है, उसे भी वह उतना ही पुष्ट कर रहा है जितना अन्य अंगों को। अग्नि-देव अपनी आहुति दूसरे देवताओं को देकर भी तो अपने आपको अधिक पुष्ट बनाता है। विश्व-याग की वेदी पर जो भी हव्य डाला जाता है, उससे विश्वाग्नि की ज्वाला तेज ही होती है। सो यज्ञ द्वारा उपभोग करने की नीति स्वार्थ की दृष्टि से भी उत्तम नीति है।

यज्ञ यश का कारण है। झूठे यश का नहीं, सच्चे यश का। यज्ञ करनेवाले के लिए जनता में द्वेष के भाव कभी पैदा नहीं हो सकते। वह जनता के प्रेम का पात्र बन जाता है। सब उसे 'धन्य! धन्य!!' कहते हैं। स्त्री-पुरुष आशीर्वादों का ताँता बाँध देते हैं। जनता की शुभ-कामनाओं की नौका पर चढ़ कर मनुष्य सचमुच देव—द्युलोक का यात्री—बन जाता है। वह एक विमान पर बैठ गया है जो उसे अधर-लोक की ओर ले जा रहा है। उसकी आयु केवल बढ़ी ही नहीं, अनन्त हो गई है।

इस विमान की कामना किसको नहीं होती? एक यज्ञ को देखकर दूसरा, दूसरे को देख कर तीसरा—इस प्रकार एक अनन्त परम्परा द्वारा यज्ञों की प्रवृत्ति का सार्वभौम प्रचार-सा होने लगता है। यज्ञ करना स्वयं अपना ही उपकार करना नहीं, सम्पूर्ण संसार का उद्धार करना है। चारों ओर यज्ञों की बाढ़ आ जाए—इससे बड़ा पुण्य और क्या हो सकता है?

सो हे यज्ञाग्ने! अपनी उज्ज्वल ज्वालाओं से यह बाढ़

हमारे चारों ओर ला ही देना। मनुष्य-मात्र की आयु बढ़ जाय, हम एक दूसरे की प्रशंसा करनेवाले, एक दूसरे के यज्ञ को कंधा देकर ऊपर उठानेवाले हों, यह सुनीति, यह सुयश, यह विश्वव्यापी वाह-वाह हमारे लिए अमरता का विमान हो जाए। इस विमान के निर्माण में हे अग्नि-देव! तुम्हीं तो अगुवा होगे। सबसे पहिला हाथ तुम्हीं लगाओगे। यज्ञिय-जीवन के आदर्श, हे प्रभो! तुम्हीं हो।

***

मधु के पात्र

यो विश्वा दयते वसु होता मन्द्रो जनानाम्।
मधोर्न पात्रा प्रथमान्यस्मै प्र स्तोमा यन्त्वग्नये ॥१०॥ ४४

ऋषिः—सोमरिः काण्वः=महाबुद्धिमान् का पुत्र शोभायुक्त।

(यः) जो (विश्वा) सम्पूर्ण (वसु) सम्पत्ति (दयते) दान करता है, और (जनानाम्) जनता को (मन्द्रः) मस्त कर-कर (होता) यज्ञ के लिए पुकारता है, (अस्मै) उस (अग्नये) गति-स्वरूप अग्रणी के लिए (प्रथमानि) व्यापक (स्तोमा) स्तुतियाँ (प्रयन्तु) इस प्रकार बढ़ें (न) जैसे (मधोः) मधु के (प्रथमानि पात्रा) व्यापक पात्र।

जनता को यज्ञ का निमन्त्रण वही दे सकता है जो स्वयं यज्ञ-स्वरूप हो। नेता का सबसे पहिला काम स्वयं सर्वमेध कर देना है। धन-धान्य की, सुख-सम्पत्ति की, मानसिक तथा शारीरिक सभी शक्तियों की—यहाँ तक कि जीवन तथा मरण दोनों की आहुति देकर ही कोई जीवन-याग का होता

बन सकता है। अग्नि सबसे पूर्व आहुत का रूप धारण करता है।

ऐसे सर्वस्व-त्यागी के वचनों में, विचारों में, चेष्टाओं में एक मस्ती होती है जो देखनेवालों को भी मस्त कर देती है। कोई इस त्याग के प्याले से स्वयं मस्त हो सही, जनता के सिर अपने आप उसके संकेत-संकेत पर झूमने लगते हैं। अन्तिम त्याग इस अपने त्याग की अनुभूति का है। सर्व-मेध-कर्त्ता को यह पता भी नहीं कि वह कोई मेध कर रहा है। मेध उसके स्वभाव में आ जाता है। फिर उसे दूसरों को पुकारने की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका मस्त जीवन ही एक उसकी मस्ती-भरी पुकार हो जाता है। अन्तिम धन त्याग-धन। जब मनुष्य त्याग की खुशी को भी त्याग देता है, तब वह वास्तव में त्याग-स्वरूप बन जाता है। उसके त्याग और उपभोग में भेद ही नहीं रहता। इस अभेद की मस्ती सच्ची मस्ती है। यज्ञ का आह्वान कोई ऐसी ही मस्ती दे सकती है।

जनता के इस अगुआ को चारों ओर से मधुपर्क की प्यालियाँ पेश हो रही हैं। वह जिधर जाए, दिशाएँ-प्रदिशाएँ उसका ही हार्दिक स्वागत करती हैं। जनता के हृदयों से, मित्रों तथा शत्रुओं दोनों के मुख से पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों—सबकी ज़ुबान से उसके कानों में स्तुति के गीत पड़ रहे हैं। उसने सचमुच दिग्विजय प्राप्त कर ली है।

हो सकता है—इस तात्कालिक यश से कोई सन्त-जन वञ्चित रहे। वह सर्वस्व त्याग करे तो सही परन्तु दिखा न

सके कि उसने कुछ छोड़ा है। लोकैषणा से वह इतना ऊँचा उठ गया हो कि उसका त्याग अपने सम्बन्ध में मूक हो। त्याग उपभोग का अभिनय भी तो कर सकता है। कोई बाल-बच्चों में रहता है, खाता है, पीता है, किसी लोक-प्रिय आन्दोलन में स्पष्ट भाग नहीं लेता, परन्तु अपने जीवन का क्षण-क्षण वास्तविक लोक-सेवा के अर्पण किए रहता है। कितने कलाविद्, चितेरे, कवि, भक्त अपनी-अपनी मनोवृत्ति के अनुसार अपना जीवन-धन संसार की स्थिर मानसिक सम्पत्ति के निर्माण में लगा रहे हैं। उन्हें पता भी नहीं कि उन्होंने कोई त्याग किया है। जनता को उनकी आत्मबलि का ज्ञान तब होगा जब उनकी कृति प्रौढ़ होकर अपने-पराये के सम्मुख घूँघट उतार देगी, उसके लजीले बाल-काल की अवधि सम्भव है, युगों हो। कलाकार ने अपनी कृति की रचना अपने हृदय के ख़ून से की है—उसका तन, मन, धन तो क्या? एक-एक अंग, नस-नस, नाड़ी-नाड़ी, प्रत्येक भाव तथा भावना उस कृति की एक-एक रेखा के अर्पित हुई है। फिर भी सम्भव है, उसका बाज़ार आज न हो, वह कला ही किसी आनेवाले युग की हो। वह सन्देश ही किसी आगामी सदी का हो। तब तक उसे मुँह ढाँप कर रहना होगा।

ऐसे अग्नि-देव के लिए जनता का साधुवाद कोई चीज़ नहीं है। लोक में उसकी वाह-वाह नहीं हो सकती। इस वाह-वाह की उसे भूख भी नहीं है। मधु—केवल मधु—के प्रथम पात्र उसीके लिए हैं। पहिली वाह-वाह अपनी आत्मा की होती है। यह उसे प्राप्त है। यही वाह-वाह बाहर की

वाह-वाह से मिल कर उसको मधु का पुट देती है। लोग तो प्रशंसा करें, परन्तु आत्मा सन्तुष्ट न हो, तो इससे उस प्रशंसा में मिठास नहीं आता। प्रथम स्तोम अपने हृदय का है। जनता इस स्तोम को उठा ले, न उठा ले, प्राकृतिक शक्तियाँ इसमें अपनी तान मिला देती है। वास्तविक लोक-हित करनेवाले को हवा के झोंकों में, उषा की लालिमा में, चाँद-सूरज की किरण-क्रीड़ा में, तारों भरी रात में, हँस रहे प्रभात में अपनी कृति की कीर्त्ति का गीत सुनाई देता है। वह गीत अपने-आप उसकी ओर दौड़ता है। मधु के व्यापक पात्र अपने हाथों में लिए हुए उसकी आत्मा के ओठों की ओर दौड़ता है। वेद के अनादि, मधु से अधिक मधुर स्तोम अपनी मीठी-मीठी स्वर-लहरियों से उसे 'शाबाश' कहते हैं। उसकी कृति को अपनाते, उकसाते, बढ़ाते हैं। मधु का यह पात्र अनुपम है। सुयश का सच्चा विमान यही है। अग्नि-स्वरूप प्रभु अपने अग्नि-स्वरूप यजमान को अपना अग्नि-मय आशीर्वाद दे रहा है।

अजर अमर सन्तान

एना वो अग्निं नमसोर्जो नपातमाहुवे ।
प्रियं चेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतम् ॥१॥ ४५

ऋषिः—वसिष्ठः=विस्तारवाला । वामदेवः=कमनीय कान्तिवाला ।

(एना) इस (नमसा) नमस्कार द्वारा मैं (ऊर्जः) बल तथा रस के (नपातम्) स्थिर रखनेवाले (वः) तुम (अग्निम्) अग्नि-देव को (आहुवे) पुकार रहा हूँ—(प्रियम्) प्यारे (चेतिष्ठम्) चेतना देनेवाले (अरतिम्) प्रेरक (स्वध्वरम्) उत्तम व्रती (विश्वस्य) विश्व के (अमृतम्) अमर (दूतम्) दूत को ।

आज मुझे अपने में विशष बल की प्रतीति हो रही है । मुझे अनुभव होता है कि मुझमें शक्ति का संचार हो रहा है । कैसी प्यारी, कैसी रसीली शक्ति है ! कल तक मैं अशक्त था, असमर्थ था । आज मुझ में एकाएक किसी अपूर्व शक्ति का दरिया-सा उमड़ आया है । यह शक्ति कहाँ से आई ? अपने आपको शक्तिशाली पाकर मुझे आनन्द आ रहा है । आज यदि मैं चाहूँ तो संसार-भर को हिला सकता हूँ । अरे ! इतना बल ? इतना ओज ? एक अथाह स्रोत-सा उमड़ आया है । मुझ अचेत को किसी ने सचेत किया है । सोए से जगा दिया है । प्यारे ! क्या यह तुम्हारे प्यार की करामात है ? तुम जाग गए हो और मुझ सोए को जगा रहे हो ? क्या यह मीठी-मीठी, परन्तु

मेरे अंग-अंग में उथल-पुथल मचा देनेवाली, प्रेरणा तुम्हारी है? अहा! क्या यह तुम्हारी शक्ति है जो मुझ निर्बल को सबल बना रही है? आज मेरी साधना सफल हुई। मैंने शक्तिशाली का दरवाज़ा खटखटाया था। मेरी पुकार सुनी गई है। दरवाज़ा खुल गया है। मुझे बल की भीख दी गई है।

शक्ति की यह भीख कितनी महान् है? अध्वर अर्थात् यज्ञ करने की शक्ति! संसार की इमारत मिट जाए, यदि उसमें यज्ञ न किया जाए। प्यारा अपने प्यार का पुतला यज्ञ कर रहा है। वह आदर्श व्रती है। उसके नियम टलते नहीं। इसी से संसार का ताना-बाना स्थिर है। उस आदर्श यजमान की आदर्श शक्ति आज मुझ में भी तो संचारित हो रही है। विश्व-याग की आग मुझ में जाग उठी है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व मुझे अपना दिव्य सन्देश भेज रहा है। यह आग उस सन्देश को सुनाने के लिए दूत नियत हुई है। विश्व का अमर दूत मुझ मरण-शील मनुष्य के रोम-रोम से बोल उठा है। मेरे जीवन की यह अमर घड़ी है। अब मेरे लिए मृत्यु कहाँ है? अमर दूत का अमर सन्देश पाकर मैं अमर हो गया हूँ। यज्ञ है ही अमर वस्तु। यह वह अमृत है जो न स्वयं मरता है और न यजमान को मरने देता है। विश्व-याग की आग इसी याग के कारण अमर है।

पर यह याग है कितना विशाल? कितना महान्? इस याग की आग है कितनी तेज़? उसका सन्देश कितना

प्रभावशाली है। उसमें प्रेरणा की कितनी अद्‌भुत शक्ति है ? मैं आज उसी शक्ति से प्रेरित हो रहा हूँ ?

प्रभो ! तुम्हारी इस प्रेरणा के नशे में मैं आज मस्त हूँ। कुछ भी कर गुज़रने को तैयार हूँ, पर क्या यह मेरी शक्ति बनी रहेगी ? क्या इसका रस स्थायी है ? कहीं यह ख़ुमार टूटेगा तो नहीं ?

इस शक्ति-प्रदान के लिए, इस पुण्य प्रेरणा के लिए मेरा तुम्हें नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। सर्वात्मना नमस्कार है। मेरा ब्राह्मणोचित विनय, मेरा क्षत्रियोचित वज्र, मेरा वैश्योचित अन्न—धन-धान्य—मेरे सभी नमो-नमस्कार तुम्हें झुक-झुक कर नमस्कार करते हैं।

मुझे अब डर है तो यह कि अपनी शक्ति की यह झाँकी देकर तुम कहीं चले न जाओ। प्रभो ! अपनी प्रेरणा बनाये रखो। लँगड़े की लाठी बने हो तो फिर बने ही रहो। निपूती के पूत बने हो तो फिर बने ही रहो। इस शक्ति का पात न होने दो, न होने दो।

मुझे क्या पता था कि इससे पूर्व की साधारण चेतना भी तुम्हारी चेतना थी। मेरे अंग-अंग की स्फूर्त्ति तुम्हारी स्फूर्त्ति थी। मैं विश्व का अंग था और मेरे शरीर की आग विश्व ही की आग थी। मेरी आत्माग्नि विश्वात्मा की अग्नि की एक चिनगारी मात्र थी। यह आग वह आग एक है, वस्तुतः एक ही है। मैं सोया हुआ था, पर तुमने, हे चेतिष्ठ ! अब मुझे सचेत कर दिया है। मेरे प्यारे ! आँखों के तारे ! अब मैं तुम्हें आँखों से ओझल होने दूँगा ही नहीं। मैं मरूँ,

जियूँ,—मेरे यज्ञ को तुम्हें चालू रखना ही होगा। तुम अमर हो। मैंने आज अमर सन्तान पाई है। तुम्हारी प्रेरणा का भार अब मैं और किस पर डालूँ ? मेरा सहारा तुम्हीं हो। मेरी लाठी तुम्हीं हो। मेरे इस शक्ति रस को विच्छिन्न न होने देनेवाली वास्तविक सन्तति तुम्हीं हो।

मैं आज सचमुच शक्तिशाली हूँ। मेरा यज्ञ सफल हुआ है। उसे सन्तान मिल गई है—अजर-अमर सन्तान।

***

बच्चे से राजा

शेषे वनेषु मातृषु सं त्वा मर्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृत आदिद्देवेषु राजसि ॥२॥४६

ऋषि:—भर्गः प्रागाथः=उत्तम कीर्त्ति द्वारा परिपक्व।

हे अग्नि-देव! तुम (वनेषु) हमारे मनों की कामनाओं में (शेषे) [इस प्रकार] सोते हो (मातृषु) [जैसे बच्चा] माता की गोद में। (मर्त्तासः) [हम मर रहे मनुष्य (त्वा) तुम्हें (सम् इन्धते) प्रज्वलित करते हैं। और तुम (अतन्द्रः) बिना आलस्य के,—झट-पट (हविष्कृतः) आहुति देनेवाले की (हव्यम्) आहुति (वहसि) ले लेते हो। (आत् इत्) और उसे लेते ही (देवेषु) देवताओं पर (राजसि) राज्य करते हो।

मेरे हृदय में तरङ्गें उठती थीं और फिर झट बैठ जाती थीं। एक कामना पैदा हुई। कुछ देर मन में रही और फिर झट विस्तृत-सी हो गई। इस प्रकार के कई दिवा-स्वप्न आए और झट विलीन हो गए। मेरा मन सुन्दर-सुन्दर कल्पनाओं की सृष्टि भी करता रहा, प्रलय भी। कल्पना का

अपना रूप कितना कमनीय था ? जी चाहता था, सफल हो न हो, कुछ समय के लिए यह कमनीय वस्तु हृदय-क्षेत्र में रहे तो सही। अपने आपको निर्बल पाकर मन स्वयं कह देता था—असम्भव है। इसके लिए कुछ और साधन चाहिए। गंगू तेली झटपट राजा भोज कैसे बन सकता है ?

पर आज अवस्था बदल गई है। आज शक्ति का दरिया उमड़ आया है। कठिन-से-कठिन साधन जुटाना साधारण-सी बात हो गई है। जो कामना-कानन पहिले ऊजड़-वन-सा था, आज उसमें फिर बहार-सी दीख रही है। असम्भव ? यह शब्द वीरों के कोष में नहीं है। आज हमें अग्नि-देव के दर्शन हो गए हैं। अग्नि-देव दृढ़ संकल्प का रूप धारण कर हमें निश्चित सफलता का मार्ग दिखा रहा है। आज तो हमें प्रतीत हो रहा है कि पुरानी हलकी-हलकी कामनाएँ भी वास्तव में इसी संकल्पाग्नि का पूर्व रूप थीं। उन दिनों यह आग प्रसुप्तावस्था में थी। अभी इसका शैशव था। माँ की गोद में सो रहे बच्चे की तरह उस प्रसुप्त संकल्प का वह कमनीय रूप कितना मनोहर, कितना हृदय-ङ्गम था ? आग सो रही थी। कभी-कभी उसकी आँख खुलती थी और फिर बन्द हो जाती थी। मर्दों ने उसे जगा दिया। मर रहे मर्दों ने उसे जगा दिया। बच्चा छोटा था, निर्बल था। ज्यों-ज्यों दिन वीते, बढ़ता गया। इच्छा ने आकांक्षा का रूप धारण कर लिया। वह दिन आया जब कोई उसके लिए मरने लगा। किसी मर्द का मरने के लिए तैयार हो जाना साधारण बात नहीं थी, बुझ रही चिनगारियों

में प्राणोत्सर्ग से जान पड़ गई। वह जल उठी। अब वह समिद्ध सङ्कल्पाग्नि है।

इस सङ्कल्प की सिद्धि कैसे हो? तन्द्रा छोड़ देने से। दिन-रात चौकस रहने से। अनथक परिश्रम करने से। साधनों में कोई कसर उठा न रखने से। किस बात के लिए कितने प्रयत्न की, कितनी मेहनत की, कितने आत्म-बलिदान की आवश्यकता होगी—यह स्वयं उस बात के महत्व ही पर निर्भर है। सङ्कल्पाग्नि हवि की भूखी है। उसे आहुति चाहिए। जब कोई आहुति देनेवाला वीर निकल आया, यह आग उसी समय प्रसन्न हो उठती है। प्रफुल्ल-वदन हो यजमान को झटपट सफलता का वर दे देती है।

अग्नि-देव देवताओं का राजा है। उन्हें हव्य देता है और उनसे मुँहमाँगे वर लेता है। उन्हें यज्ञिय अन्न चाहिए। जहाँ किसी यजमान ने—चाहे वह यजमान कोई व्यक्ति हो या जाति—उचित हवि पेश कर दी, देवता उसी समय आशीर्वाद का हाथ उठा देते हैं। सच तो यह है कि साधन-सम्पन्न सङ्कल्प का अन्य सब देवताओं पर राज्य है। इच्छा से सङ्कल्प, सङ्कल्प से सिद्धि—यही यज्ञ की प्रक्रिया है। सङ्कल्प के लिए शक्ति चाहिए, सिद्धि के लिए आहुति। जिसने सङ्कल्पाग्नि को आहुति दे दी, वह सिद्ध हो ही गया।

हे हमारे सुदृढ़ सङ्कल्प! अब तुम युवा हो प्रौढ़ हो। हम से त्याग की आहुति लो और इसे देवताओं के—दिव्य भावनाओं के—मुख में पहुँचा दो। हमारी दिव्य भावनाएँ तो हैं ही तुम्हारे अधीन। उन पर तो तुम्हारा अबाधित

राज्य है ही। प्रभु की प्यारी भावनाओं पर भी तुम अपना अधिकार जमा लो। भगवान् भक्तों के वश में रहते हैं। उसका जादू प्यार है। तो तुम अपने प्यार की मात्रा बढ़ाते जाओ। अपने हव्य को अधिक स्निग्ध कर दो। देवता वासना के प्यासे हैं। उन्हें शुभ-वासना दो। तुम्हारे सभी साधन हव्य-भाव से जुटाए गए हों। उनमें लोभ का, मोह का, क्रोध का लेशमात्र भी न हो। विशुद्ध यज्ञ-भावना से दी गई भेंट वास्तव में अनमोल होती है। यज्ञ-बुद्धि से दी गई एक कौड़ी का वही मूल्य है जो लाखों रुपयों का। जिस धन ने आहुति का रूप धारण कर लिया, वह तुच्छ हो कर भी महान् है। उसकी मात्रा कुछ हो, उसका महत्व अनन्त है। यज्ञ के पुण्य को तोला-मापा नहीं जा सकता।

शुभ-सङ्कल्प का देवताओं पर अधिकार है। साधन-सम्पन्न सङ्कल्प से देवता प्रसन्न होते हैं। त्याग-पूर्वक किया गया सङ्कल्प सिद्धियों की दिव्य ज्वालाओं में चमचमा उठता है।

***

इदन्न मम

अदर्शि गातुवित्तमो यस्मिन्व्रतान्यादधुः।
उपो षु जातमार्यस्य वर्धनमग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥३॥ ४७

ऋषिः—सोभरिः काण्वः=महाबुद्धिमान् शोभाशाली।

हमें उस (गातुवित्तमः) उत्तम पथ-प्रदर्शक के (अदर्शि) दर्शन हुए (यस्मिन्) जिसके सम्मुख (व्रतानि) [व्रतीजन]

व्रत (आदधुः) धारण करते रहे हैं। (नः) हमारे (गिरः) उद्गार (सु-जातम्) भली प्रकार प्रकट हो चुके, (आर्यस्य वर्धनम्) आर्य-जन को बढ़ानेवाले (अग्निम्) अग्नि-देव को (उप उ) पास जाकर निश्चय से (नक्षन्तु) प्राप्त कर लें।

आर्यो ! बधाई हो। तुम्हारी कल्पना पूरी हुई। तुम्हारी साधना आज सफल है। हमें आज अग्नि-देव के दर्शन हो रहे हैं। संसार की सम्पूर्ण गति का कारण अग्नि-देव है। भौतिक तथा आध्यात्मिक—जो भी क्रिया संसार में हो रही है, उसमें अग्नि-देव व्याप रहा है। प्रत्येक क्रिया यज्ञ है और यज्ञ का अधिष्ठाता अग्नि-देव है। कहीं भौतिक अग्नि है, कहीं मानसिक। अन्न बल बन रहा है, बल ज्ञान। एक अग्नि दूसरी अग्नि की सहायक है। संसार का क्रिया-कलाप निरर्थक नहीं है। भिन्न-भिन्न शक्तियाँ अपने-अपने संग मे काम कर रही हैं। परन्तु हैं सभी एक सूत्र में बँधी हुई। संघर्ष प्रच्छन्न सहयोग है। शक्तियाँ लड़ती हैं परन्तु इस लड़ने का परिणाम संयुक्त क्रिया ही हो जाती है। इसका कारण यज्ञ है। शक्तियों के युद्ध यज्ञ-रूप हैं। इनके पीछे इनकी प्रत्येक गति को जाननेवाला कोई 'गातुवित्तम' देव है जो इन्हें हाथ पकड़-पकड़ कर आगे ले जा रहा है। वह पूर्ण पथ-प्रदर्शक देव अग्नि है—यज्ञ का अधिष्ठाता। हमें आज उसके दर्शन हो गए हैं। हम समझ गये हैं कि ब्रह्माण्ड की सत्ता का सूत्र यज्ञ है। हमने आज यज्ञाग्नि का पल्ला पकड़ा है। उसे अपना गुरु—मार्ग-दर्शक बना लिया है।

सभी शुभ-सङ्कल्प, सभी व्रत, सभी प्रतिज्ञाएँ अग्नि के

सम्मुख की जाती हैं। यज्ञ की वेदी पर किया गया व्रत पवित्र होता है। अग्नि-देव को व्रतपति-व्रतों का रक्षक—कहा जाता है। हमारे छोटे से यज्ञ की आग विश्व-याग की व्यापक आग का उपकरण-मात्र है। ब्रह्माण्ड यज्ञ-स्थली है। उसमें सब ओर व्रत-ही-व्रत किए जा रहे हैं। सूर्य ने व्रत ले रखा है। चन्द्र का व्रत है। हवा व्रत से चल रही है। सब अपनी-अपनी मर्यादा में स्थिर हैं। ये सब व्रत अग्नि-देव के समक्ष किए गए हैं। सूर्य का व्रत अग्नि की कृपा से पालित हो रहा है। यदि अग्नि एक क्षण के लिए विश्व-याग को स्थगित कर दे तो चाँद का व्रत धरा का धरा रह जाए। हवा भी दम खैंचे रह जाए। पानी चलने से रुक जाए। व्रतों की रक्षक अग्नि ही है। किसी भी व्रत की सफलता का निश्चय उसी समय हो सकता है यदि उसे यज्ञ-रूप दे दिया जाए। व्यक्तियों के व्रत समष्टि के व्रत का अङ्ग हों। विश्व के ये व्रती अपने व्रतों का आधान यज्ञाग्नि में कर चुके। आओ आर्यो! हम भी अपने व्रतों का आधान यज्ञाग्नि में करें। हम अहिंसा की, सत्य की, शौच की, सन्तोष की, अस्तेय की, ब्रह्मचर्य की, अपरिग्रह की, तप की, स्वाध्याय की, ईश्वर-प्रणिधान की प्रतिज्ञा करें और इन सब व्रतों को अग्नि में आहुत कर दें।—इदमग्नये इदन्न मम। हमारे कर्म का फल स्वयं फल-दाता को मिले। हम फल की आकांक्षा छोड़ दें।

हमारे व्रत हमारे जीवन के उद्गार हैं। उद्गार प्रयत्न के बिना ही स्वयं वाणी-द्वारा प्रकट हो जाता है। यही अवस्था

हमारी प्रत्येक क्रिया की हो। हमें अनायास सदाचार का अभ्यास हो। अग्नि-देव के अर्पण किए हुए व्रत अनायास ही पूरे होने लगते हैं। मनुष्य ने जब फल की कामना छोड़ दी, तो वह भिखारी नहीं, राजा हो गया। वह सत्कर्म करता है, केवल इसलिए कि वह उसका कर्त्तव्य है। सत्कर्म न करे तो वह अपने स्वरूप से ही च्युत हो जाए। जैस श्वास-प्रश्वास, निमेष-उन्मेष अपने आप हो रहे हैं, कोई इनका श्रेय नहीं लेता, इसी प्रकार उद्गार रूप में किए गए कर्म का भी, कर्त्ता की दृष्टि में, कोई मूल्य नहीं होता। वह करता तो सत्कार्य ही है, परन्तु उसमें उसकी बुद्धि केवल कार्य की ही होती है। यह अवस्था होते ही मनुष्य 'न कर्म लिप्यते नरे' इस वेद-वाक्य को सहसा अपने में चरितार्थ कर लेता है।

वास्तव में आर्य ऐसे ही मनुष्य को कहते हैं। आर्य वह है जो अर्य का हो—स्वामी का। जो प्रभु का हो गया—जिसने अपना सर्वस्व स्वामी के समर्पण कर दिया,—भक्ति-भाव के उस पुतले का जीवन तो है ही उद्गार। उसकी प्रत्येक क्रिया साईं की स्तुति है, प्रभु उसको बढ़ाता है, और वह प्रभु को।

उसे सचमुच अग्नि-देव के दर्शन हो गए हैं। अग्नि उसी के लिए सुजात है—भली प्रकार प्रकट। उसे झाँकी नहीं, पूरा दर्शन होता है। उसे प्रतिक्षण सत्कर्म के लिए प्रोत्साहना मिल रही है। बढ़ावा मिल रहा है। इस बढ़ावे में उसे अग्नि-देव की अनुभूति होती है। बढ़ावा

स्वाभाविक है। वह उसे कर्त्तव्य-पथ पर प्रतिक्षण आगे-ही-आगे ले जा रहा है। उसका समस्त जीवन इस बढ़ावे का उद्गार है। उद्गार अग्नि को व्याप रहा है, अग्नि उद्गार को—स्तोता और स्वामी एक दूसरे के अत्यन्त निकट हो गए हैं। क्रियात्मक स्तुति ने भक्त को भगवान् से मिला दिया है। इस मधुर-मिलन में सन्देह कैसा ? सन्त का उद्गार अग्निमय है।

आओ ! आर्य जनो ! हम अपने जीवन को ऐसे ही उद्गार बनाएँ। अग्नि-देव के दर्शन तो हमें भी हो ही चुके हैं। 'गातुवित्' की अनुभूति हमें अपनी गति-गति में हो रही है। हमारे जीवन की कितनी चेष्टाएँ ऐसी हैं जिनका हमें ज्ञान भी नहीं, परन्तु इनका परिणाम शुभ है, मंगल है। उन चेष्टाओं का सूत्रधार वही अग्नि-देव है वह दीख रहा है, स्पष्ट दीख रहा है। और कुछ गुप्त रहे तो रहे, आग की ज्वालाएँ कैसे छिपी रह सकती हैं ? अब यदि कसर है तो यह कि हमारा जीवन उद्गार नहीं हुआ। हमने उसे अग्नि-देव के अर्पण नहीं किया। हम सच्चे "आर्य" नहीं बने। आर्य वही है जो अर्य का—अग्नि-देव का—हो। आओ ! हम जीवनों को अग्नि के उद्गार बना दें। जाज्वल्यमान ज्वालाएँ बना दें। ज्वालाएँ अग्नि को व्याप लें, घेर लें, उसी की अंगमय बन जाएँ। यज्ञ हमारा हो, हम यज्ञ के।

* * *

पुरोहित अग्नि

अग्निरुक्थे पुरोहितो ग्रावाणो बर्हिरध्वरे ।
ऋचा यामि मरुतो ब्रह्मणस्पते देवा अवो वरेण्यम् ॥४॥ ४८

ऋषिः—मनुर्वैवस्वतः=विविध ज्योतियोंवाला मननशील ।

(अध्वरे+उक्थे) किसी का नाश न करनेवाले और स्वयं नष्ट न होनेवाले संगीतमय यज्ञ में (अग्निः) अग्नि-देव (पुरोहितः) पुरोहित है। (ग्रावाणः) [गान कर रही] चट्टानें [तथा] (बर्हिः) सब्ज़ा [भी साथ हैं] (मरुतः) हे मेरे मरणोन्मुख प्राणो! (देवाः) हे मेरी जीवन-लीला में रत इन्द्रियो ! (ब्रह्मणस्पते) हे विश्व-याग के रक्षक, वेद-वाणी के पति परमात्म-देव! मैं (ऋचा) इस वेद-वाणी का आश्रय लेकर (वरेण्यम्) ग्रहण करने योग्य (अवः) ओट को (यामि) प्राप्त कर रहा हूँ।

विश्व प्रभु का गीत है। अग्नि-देव का स्वाभाविक वचन है, उद्गार है। यह एक यज्ञ है। व्यवस्थित संयोग का प्रत्येक परिणाम यज्ञ है। जैसे गायक अक्षरों को मिला देता है, भिन्न-भिन्न स्वरों को एक लय में ला देता है, ऐसे ही अग्नि-देव ब्रह्माण्ड के भिन्न-भिन्न घटकों को एक विशेष अनुपात में संयुक्त कर उनसे एक सुसंगत संसार की सृष्टि करता है। जगत् अध्वर है—यज्ञ के कारण विनाश से बच रहा है। यह एक संगीत है। प्रभु का स्वर और ताल से युक्त उद्गार है। विश्व में परमाणु ऐसे मिल रहे हैं जैसे संगीत के अक्षर। शक्तियाँ एक दूसरे के गले में हाथ डाले इस प्रकार जा रही हैं जैसे चतुर रागी के गले की लयें।

चट्टानें चुप हैं पर इस चुप्पी-चुप्पी में बोल रही हैं। उनमें परमाणुओं का संगतियुक्त संयोग एक मूक गीत नहीं तो

क्या है ? बोलता है, रेंगता है। इसमें विकास की विशेषता है। पत्थर जड़ है; घास चेतन—यह स्वयं बढ़ती है। हवा से, पानी से, ज़मीन से अपना अन्न ग्रहण करती है, और आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ती है। चट्टान निर्जीव जगत् की प्रतिनिधि है, घास सजीव जगत् की। विश्व के महान् संगीत की ये दो मुख्य लयें हैं। पत्थरों के टकराने में तो अग्नि-देव के दर्शन हो ही जाते हैं—उस समय इन मुनियों का मौन-व्रत टूट जाता है। तमाशा तो यह है कि इनका चुपचाप संयोग भी पुकार-पुकार कर अग्नि-देव की पुरोहिताई की साक्षी दे रहा है। फिर सब्ज़ी तो है ही अग्नि-देव का यजमान। सजीव-शरीरों में जीवन का हेतु अग्नि-देव की विद्यमानता ही है। विश्व एक यज्ञ है और अग्नि-देव उसका पुरोहित। विश्व एक संगीत है और अग्नि-देव उसका मुख्य गायक।

जहाँ अन्न बल का रूप धारण करने लगता है—निर्जीव भोजन सजीव शरीर का अंग बन जाता है—वहाँ अग्नि-देव निर्जीव नहीं, कोई जीवित-जागृत शक्ति प्रतीत होने लगता है। फिर इसके भी आगे जब अन्न मन में परिवर्त्तित होने लगता है—खाया-पिया, इन्द्रियों को पुष्ट करके उनके ज्ञानोपार्जन का साधन बन जाता है—तो जीवनाग्नि के चेतन होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। वैयक्तिक शरीर में आत्माग्नि का प्रताप है तो विश्व के शरीर में परमात्माग्नि का। वेद स्वयं उस अग्नि को 'चेतिष्ठ' कह रहा है। जिस चेतन का गीत सम्पूर्ण विश्व है, उसकी चेतन-शक्ति का—गान-वैभव—

का कोई माप-तोल—कोई तर्कणा-गत अनुमान—नहीं हो सकता। वह परम चेतन है—शेष चेतनों का आधार वही "चेतिष्ठ" है।

जो शक्ति ब्रह्माण्ड में काम करती है, वही पिण्ड में। विश्व की नासिकाओं में आँधियाँ चलती हैं तो शरीर के नथनों में प्राणों की गति है। आँधियाँ सिर पटक रही हैं, प्राण मरणोन्मुख हैं। इनका आश्रय कब तक? ब्रह्माण्ड के शरीर में कितने देव काम कर रहे हैं। विश्व शक्तियों की लीला-स्थली है। ऐसे ही मेरा छः फ़ीट का शरीर। वह बड़ा रमणागार है, यह छोटा। इस खेल-खेल में आयु बिता देनेवालों का क्या विश्वास? भौतिक बाजा किसी समय बिगड़ जाए। उसमें से स्वर निकलना कभी भी बन्द हो जाए। मरे हुए के मारू राग का कोई ठिकाना है? फोनोग्राफ़ का मारू आख़िर मर ही तो जायगा। यह और किसे मारेगा? अपने आप को।

सन्देह के इन तूफ़ानों में यदि कोई भरोसा है तो गायक के गले का। 'ब्रह्मणस्पति' गा रहा है। ये श्वास-प्रश्वास उसी के हैं। यह दिव्य राग-लीला उसी अमर-रागी की है। आँधियो! चलो, तुम राग हो। देवो! खेलो, तुम गीत हो। प्राणो! बोलो, तुम चीख़ नहीं; मीठी स्वर हो। इन्द्रियो! नाचो, तुम मनोहर ताल हो। वेदवाणी स्वयं बोल रही है। अग्नि-देव का यज्ञिय संगीत मेरे रोम-रोम के कानों में पड़ रहा है। अब मुझे और सहायक की क्या आवश्यकता है? मुझे अटूट सहारा मिल गया है। एक सहायक का पल्ला पकड़ चुका हूँ। गीत को गायक की स्वर-

लहरी के सिवाय और आधार चाहिए ही क्या ? वाञ्छनीय आधार यही है। ग्रहण करने लायक ओट इस अग्नि-देव की ही गीत-गङ्गा है—ज्वालामयी गीत-गङ्गा। मेरी जान! तू उसी अमर गायक के 'अधर' गीत का अंश है! चट्टानों की ज़ुबान नहीं, पर वे बोल रही हैं। सब्ज़े के ओंठ नहीं, पर वह पुकार रहा है। तेरी ज़ुबान भी है, ओंठ भी। तुझे बोलते क्या देर लगती है ? तू स्वयं ऋचा बन जा—प्रभु का अमर आलाप बन कर बोल। शब्द की अमरता आलाप बन जाने ही में है। ब्रह्मणस्पतिं के आधार उक्थ ! बोल, ऋचा बन कर बोल। पत्थर है तो बोल। सब्ज़ा है तो बोल। हवा है तो बोल। ज्योति है तो बोल। बोल, बोल। संसार को वेदमय कर दे। उक्थमय कर दे। ऋचामय कर दे।

***

यजमान का घर-घाट

अग्निमीडिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम्।
अग्निँ राये पुरुमीढ श्रुतं नरो अग्निः सुदीतये छर्दिः ॥५॥४६

ऋषिः—सुदीतिः=उत्तम दानी, पुरुमीढः=अत्यन्त बरसनेवाला।

(शीरशोचिषम् अग्निम्) अग्नि-देव की ज्योति प्रसुप्त है। उसकी (गाथाभिः) गाथाएँ गा-गाकर (ईडिष्व) स्तुति कर, (अवसे) जिससे वह [जग कर] तेरी ओट बने। (पुरुमीढ) हे मनुष्य-जाति को सरसानेवाले धर्म-मेघ। (नरः) नेता (राये) रत्न-दान के लिए (श्रुतम्) प्रसिद्ध (अग्निम्) अग्नि-देव ही की [स्तुति करते हैं]। (सुदीतये) मंगल-मनोरथों से प्रदीप्त हो रहे मनुष्य का (छर्दिः) घर-घाट (अग्निः) अग्नि-देव है।

विश्व-प्रेम के प्रवाहों से उमड़ रहे मन! तुझमें आज लोक-प्रीति के, लोकोपकार के, दरिया ठाठें मार रहे हैं। हे "पुरुमीढ!" तू सिंच गया है—खूब सिंच गया है। कल तक सूखा काठ था। पर आज तो तू स्नेह का समुद्र है। तुझे किसी रस-भरे मेघ ने सरसा दिया है। तू स्वयं धर्म-मेघ हो गया है। तुझमें रस इतना भर गया है कि अब तू बरसे विना रह ही नहीं सकता। तो ले सुन। अग्नि-देव का नाम सुना है कि नहीं? वह प्रसिद्ध विद्युत् जो हवाओं को मिला-मिला कर पानी बनाती है, अणुओं को मिला-मिला कर संसार की रचना करती है। क्या उसकी गरज कभी नहीं सुनी? तेरी उत्पत्ति ही उसी अग्नि-देव की चमक से होती है। उस प्रसिद्ध, विश्व-श्रुत अग्नि-देव का आवाहन कर। वृष्टि-याग का नेता अग्नि-देव है।

नेता ने स्वार्थ त्याग दिया। उसने अपने आपको अपनी जाति पर बलिदान कर दिया। उसे अपने लिए सुख नहीं चाहिए पर जाति के लिए तो सभी वैभव चाहिएँ ही। धन-रत्न, धान्य-रत्न, विद्या-रत्न, कला-रत्न—सभी रत्न चाहिएँ ही। मानव-जाति को सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि से समृद्ध बनाने के लिए ही उसने अपनी वैयक्तिक समृद्धि को लात मार दी है। उसका यह लात मारना भी तो त्याग-रत्न है—दान-रत्न है। रत्न वह धन है जिसके द्वारा रमण हो सके—खूब जी-भर कर आनन्द लिया जा सके। यज्ञ में लगाए गए सभी वैभव रत्न हैं—रयि हैं। रयि में दान और रमण—ये दोनों भाव रहते हैं। जो दान रत्न का आनन्द लेना चाहे,

उसे चाहिए कि सभी रत्न दान कर दे। नेता यही करता है। तभी वह अग्नि कहलाता है। त्याग में एक विद्युत् रहती है जो सभी धन धरवा लेती है। जब कोई सच्चा यजमान जनता के सम्मुख आता है तो जातियों की जातियाँ एक-साथ यजमान हो जाती हैं। बादल में उमड़ रही बूँदों की उत्कण्ठा स्वयं विद्युत् का आवाहन है। अगुआ की उपकार-आकांक्षा यज्ञाग्नि की स्तुति है। देना उस आन्तरिक संघर्ष का मूल है जो विद्युत् को पैदा करता है।

किसी में कल्याण की कामना तेज हो सही, किसी दाता के मन में दान की भावना विशुद्ध यज्ञ की दीप्ति का रूप धारण कर ले सही, अग्नि-देव झट उसे अपनी छत्र-छाया में ले लेते हैं। लाख आपत्तियों में घिरा वह सुरक्षित है। देखना! वह किस निर्दयता से दान करता है? घर-बार की उसे चिन्ता नहीं। परिवार की उसे पर्वाह नहीं। कल क्या बीतेगी?—अच्छी बीतेगी या बुरी,—इसका उसे ध्यान तक नहीं। अब तो उसका घर-बार अग्नि है। उसका परिवार यज्ञ है। यज्ञ ही उसकी टेक है और यज्ञ ही उसकी ओट। विश्व-याग का होता जिसका यजमान हो, सहायक हो, सेवक हो, उसे अब और सहारों से क्या काम?

मेरे मन! यह होता तेरे अन्दर है। तेरी निंदासी आँखों में उसकी चौकस ज्योति सो रही है। तेरे बहरे कानों में उसकी गरज रही आवाज़ चुप है। इस सो रही ज्योति को अपनी जागृत ज्वाला से जगा दे। इस मूक ध्वनि को अपने गरज रहे गीत से चौंका दे। वीरों की

गाथाएँ युगों के बीत जाने पर भी वैसी ही गरजती हैं, जैसे उनके सजीव शंख उनके जीवन-काल में गरजते थे। उन्हें सुन! अपनी प्रसुप्त जीवन-ज्योति को सुना। आग जागेगी, अन्धकार से जूझेगी। तेरी तन्द्रा को मिटा कर तुझे होश में लाएगी। संसार की रणस्थली में सजग अग्नि के सिवाय और ओट ही कौन-सी है। यहाँ तो बारूद शुष्क चाहिए और आग गर्म।

मेरे यजमान मन! तू अग्नि-देव ही की स्तुति कर। उसी की गाथा गा। मेरे "पुरुमीढ" मन! तुझमें जितना स्नेह है, यज्ञाग्नि ही में उसकी आहुति दे दे। इस आग की चमकों, भड़कों, इसकी लपटों की गरज स्वयं सुन और सम्पूर्ण संसार को सुना। आग ही तेरा धन हो और आग ही तेरा जन। आग ही तेरा परिवार हो और आग ही तेरा घर-बार।

मुद्दतों से भटक रहे मेरे मन! तेरे लिए यज्ञाग्नि के सिवाय और घर-घाट नहीं है। तेरी चंचलता में भी चमक है। इस मार्ग-च्युत चमक का ठिकाना विश्व-याग की ज्वालाएँ ही हैं। बुझ रही चिनगारी का कल्याण भड़कती आग के सिवाय और कहाँ होगा? मेरी घर की चिनगारी! तू आग में पड़ कर स्वयं आग बन जा।

***

प्रातःकाल के पथिक

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवग्ने सयावभिः ।
आसीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्यावभिरध्वरे ॥६॥ ५०

ऋषिः—प्रस्कण्वः=प्रकृष्ट मेधावी ।

(श्रुत्कर्ण) हे सुन रहे कानोंवाले (अग्ने) अग्नि-देव! (सयावभिः) अपने साथ-साथ गति कर रही (वह्निभिः) यज्ञ कर रही, आग बन रही (देवैः) मेरी इन्द्रियों द्वारा (श्रुधि) [मेरी पुकार को] सुनो। तुम (मित्रः) मित्र भी हो और (अर्यमा) शत्रुओं—राक्षसों—का दमन करनेवाले भी। इस स्वरूप में तुम (प्रातःयावभिः) आगे-ही आगे बढ़नेवालों [मेरे इन्द्रिय-देवों] के साथ (बर्हिषि) विकास के (अध्वरे) इस सतत यज्ञ में (आसीदतु) विराजमान हो।

अग्नि-देव! मैं गाथाएँ गा रहा हूँ, सुनो। तुम्हारी कीर्त्ति के सनातन गीत गा रहा हूँ, सुनो। तुम्हारी शरण में एक मैं ही नहीं आया। जब से समय का, सृष्टि का आरम्भ हुआ है, लोकोपकारक भक्तों ने तुम्हें जगाया है, अपना सहायक बनाया है। आज मैं उन मस्तानों की अलख फिर से जगा रहा हूँ। अग्नि-देव! सुनो। मेरे सुन रहे कानों से सुनो। आज मेरी इन्द्रपुरी के सभी देव तुम्हारे पाँव के साथ पाँव उठाने को उत्सुक हैं। उन्हें ज्ञान है कि उनकी गति वास्तव में तुम्हारी गति है। विश्व-याग की आग जल रही है और उसी से वे प्रदीप्त हैं। आँखें देखती हैं तुम्हारे दिए दर्शन-सामर्थ्य से। कान सुनते हैं तुम्हारी प्रदान की

हुई श्रवण-शक्ति से। आज मेरे कान अपनी श्रवण-शक्ति तुम्हारे अर्पण कर रहे हैं। त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये। आज इन्द्रियाँ मेरी नहीं, तुम्हारी हैं। तुम इनके अग्रणी हो, ये तुम्हारी साथ चल देनेवाली अनुयायी। यों तो ये हमेशा तुम्हारी ही शक्ति का बुरा-भला 'वाहन' कर छोड़ती थीं। इनके पास अपना है ही क्या ? विश्व-याग की आग का ही सारा प्रताप है। परन्तु आज तो इन्हें स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यह तुम्हारे बल की "वाहक" हैं। इनमें तुम्हारी चिनगारी चमकती है। वह चिनगारी आज तुम्हारे अर्पण है। चिनगारी आग बन रही है। इसकी पुकार को सुनो। प्रभो ! मेरे कानों से मेरी आवाज़ को सुनो। आज मेरे कान विश्व-याग के, अर्थात् तुम्हारे, कान हैं। मेरी प्रत्येक इन्द्रिय तुम्हारी इन्द्रिय है। अब तुम मेरी गाई हुई गाथाओं पर कैसे ध्यान न दोगे ? मैंने गान भी दे दिया, कान भी दे दिए। अब गान और कान एक हैं। मेरी इन्द्रियों ने अपनी दिव्य कामना को अपने में मूर्त कर लिया है। तभी वे देव हुई हैं। अपनी पुकार आप सुनती हैं। अग्नि-देव को अपनी पुकार सुनाने की विधि भी यही है।

तो हे अग्नि-देव ! हमने यज्ञ रचाया है। जीवन-यज्ञ सतत विकास का यज्ञ है—न रुकनेवाली वृद्धि का यज्ञ है। सजीव और निर्जीव में इसके सिवाय और भेद ही क्या है ? घास बढ़ती है, पत्थर नहीं बढ़ता है। घास 'बर्हिः' है। इसमें वृद्धि का गुण है। जीवन नाम ही वृद्धि का है—विकास का। हमने व्रत किया है कि हमारा विकास 'अध्वर'

हो—निरन्तर बढ़ता जाए। जहाँ इससे किसी और की हिंसा न हो, अपनी गति भी किसी विघ्न-बाधा के कारण बाधित न हो। यज्ञ-रूप विकास है ही वही जिसमें सबका समान हित हो—सबकी बराबर वृद्धि हो। अग्नि-देव! जब तुम हमारे अगुआ हो तो हमारी—गति-प्रगति—रुक कैसे सकती है। हम प्रातःकाल उठनेवाले और आगे ही आगे चल देनेवाले हों। हर क़दम पर हम यही कहें—प्र+अतः, और आगे, और आगे। हमारे जीवन का हर एक क्षण प्रातः काल है—प्र+अतः काल।

शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, वैयक्तिक, सामाजिक—सब प्रकार के विकास के इस अध्वर में, इस अबाधित यज्ञ में—तुम मित्र बन जाओ। अपने स्वाभाविक स्नेह-रस से हमारे संपूर्ण प्रयत्नों को रसमय बना दो। जो भाव तथा भावुक इस यज्ञ के सहायक हैं, उन्हें प्रोत्साहित करो। जो इसके शत्रु हैं, "अर्यमा" बन कर उनका नियमन करो। बुरी भावनाओं को हटा दो, दबा दो। रूपान्तरित कर उन्हें भली भावना बना दो। कायाकल्प का यह चमत्कार अग्नि-देव के सिवाय और कौन कर सकता है?

हे मित्र! हे हमारे सच्चे सखा! हमारी भलाई के लिए हमें सत् प्रेरणा देनेवाले! हमें "अर्य"—सच्चे आर्य—बनानेवाले! बाहर-अन्दर की हमारी सब प्रकार की दासताओं को मिटानेवाले, शत्रुओं को दबानेवाले अर्यमा! आओ। विश्व-याग के वाहक अग्नि-देव! आओ। हमारे विकास-याग के होता तुम्हीं हो। इसमें अपना दिव्य आसन लगा लो।

अपनी दिव्य छटा छिटका दो। मेरी देह-पुरी के सभी देव तुम्हारी कमान में चलने को तैयार हैं। ये करण तुम्हारे हैं। इन्हें अपने यज्ञ का करण बना लो, ये सब तुम्हारी ज्योति के वाहक हैं। अपनी बिखरी ज्योति को और आगे न बिखेरो। न बिखेरो। याग की आग याग ही के अर्पण हो। याग ही को चमकाए, बढ़ाए, सदा आगे ही आगे ले जाए।

***

आनन्दमय कोष में

प्र दैवोदासो अग्निर्देव इन्द्रो न मज्मना।
अनुमातरं पृथिवीं विवावृते तस्थौ नाकस्य शर्मणि ॥७॥ ५१

ऋषिः—सोमरिः=उत्तम शोभायुक्त।

(इन्द्रः न) जैसे बिजली (नाकस्य शर्मणि) सूर्य-मण्डल में (तस्थौ) स्थित है परन्तु (मज्मना) अपनी शक्ति से (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनुमातरम्) उसके निर्माता सूर्य के चारों ओर (विवावृते) घुमा रही है। ऐसे ही (दैवोदासः) प्रकाश देनेवाले यजमान की (देवः) दिव्य (अग्निः) यज्ञाग्नि (नाकस्य शर्मणि) आनन्दमय कोष में (तस्थौ) स्थित है, और (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनुमातरम्) अपनी निर्माण-योजना के पीछे पीछे (प्रवावृते) प्रवृत्त कर आगे-आगे ले जा रही है।

भौतिक शक्ति का केन्द्र सूर्य है। विद्युत् का वास्तविक घर वही है। ग्रह-उपग्रह सभी उसी की उपज हैं। पृथिवी तो है ही सूर्य की कन्या। कन्या माता की कोख से पैदा हुई है और अब है भी उससे अलग-थलग; परन्तु पितृकुल का सम्बन्ध टूट नहीं सका, स्थिर है। फिर-फिरा कर पृथिवी

सूर्य ही के गिर्द चक्कर काटती रहती है। अन्तरिक्ष में इधर जा, उधर जा। कहीं हो, सौर-संस्थान के अंदर ही रहती है। इसमें कारण सूर्य का आकर्षण है। यही आकर्षण पृथिवी को अपने तथा सूर्य के चारों ओर फिराता रहता है। एक अज्ञात बिजली है जो ग्रहों-उपग्रहों को निरन्तर घुमा रही है। उसका केन्द्र सूर्य है परन्तु संचार संपूर्ण विश्व में हो रहा है।

यही अवस्था यजमान की यज्ञाग्नि की है। यजमान ने विश्व-याग की वेदी पर सर्वस्व स्वाहा कर दिया। उसने यह आग इसलिए जलाई है कि संसार में प्रकाश का प्रसार करे। सन्त स्वयं मस्त है। उसका ठिकाना उसका आनन्द-मय कोष है। वह अन्न खाता है, जीने के लिए। वह श्वास लेता है, मनन तथा ज्ञानोपार्जन के लिए। वह ज्ञानोपार्जन करता है आध्यत्मिक उन्नति के लिए। वह निचले सभी कोषों से ऊपर उठ गया है। उसका प्रत्येक निचला कोष अपने से ऊपर के कोष की तैयारी है। आनन्दमय कोष ही में अब उसका आसन है। अब वह है और उसका प्रभु—अग्नि-देव। वह अपने यज्ञ ही में मस्त है। जबसे उसने स्वार्थ त्याग दिया है, उसे अचल शान्ति की प्राप्ति हो गई है। वह आह्लाद के एक विशेष-से लोक में आ गया है। चिन्ता फल की कामना के साथ थी। जबसे कर्त्तव्य-बुद्धि प्रबल हुई है, फल की आकांक्षा लुप्त हो गई है, साधक मानो रंक से राजा हो गया है। अब उसमें भिक्षा-वृत्ति नहीं रही। कर्त्तव्य पालन के साथ-साथ सन्तोष की एक दिव्य अनुभूति-

सी रहने लगी है। यही "नाकस्य शर्मणि" पूर्ण आह्लाद की मंज़िल है।

इस आनन्द-मय कोष में स्थित होकर भी यजमान निठल्ला नहीं बैठ गया। योग की इस ऊँची भूमिका को पहुँच कर साधक की कार्य करने की शक्ति सैकड़ों गुणी बढ़ गई है। पहिले वह केवल अपने आचरण पर संयम की क़ैद लगाता था। अपने आपको कर्त्तव्य-पथ पर चलाते रहने का अनथक उद्योग करता था। आज उसने सम्पूर्ण भू-तल के उद्धार का वीड़ा उठाया है। सिद्ध वास्तव में आध्यात्मिक जगत् का सूर्य है। इस सूर्य की विद्युत् भी भौतिक सूर्य की बिजली की तरह अपने आप अध्यात्म के सम्पूर्ण संसार में छा जाती है। सिद्ध पुरुष में पृथिवी को घुमाने का दिव्य सामर्थ्य होता है। वह उसे अपने आध्यात्मिक प्रभाव से आगे-ही-आगे ले जाता है। उसकी यज्ञ-भावना न जाने कैसे मानव-जाति को आगे-ही-आगे बढ़ते रहने के लिए प्रेरित करती रहती है।

पृथिवी पर बस रहे मानव-समाज की आध्यात्मिक माता, प्रभु की इच्छा है। प्रभु के संकल्प ने इस जगत् की रचना की थी। उसी संकल्प-शक्ति की ओट में सृष्टि का आदर्श छिपा हुआ है। सन्त उस आदर्श को न केवल प्रकट करता है किन्तु उसके अनुकूल चलने के लिए समस्त मानव-जाति को उकसाता है। उसमें इस आदर्श की प्राप्ति की स्फूर्ति पैदा करता है। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, बाल-युवा—सभी प्रकार के मनुष्य उसके सुदर्शन-चक्र पर चढ़ जाते हैं। फिर जिधर

चाहे, इन्हें लिए-लिए फिरे। सम्पूर्ण मानव-समाज को उसकी माता—अर्थात् प्रभु के सृष्टि-संकल्प के पीछे प्रवृत्त करना अब उसके जीवन का सार है। सिद्ध पुरुष सर्वथा आत्मरत ही रहता है। सम्पूर्ण संसार को गति की प्रेरणा देनेवाला सिद्ध अपने आप अचल है। जिसे भय नहीं, शोक नहीं, क्रोध नहीं, मोह नहीं, वह निश्चिन्त नहीं तो क्या हो? प्रभु का प्यारा शान्त है। वह एक विशुद्ध आध्यात्मिक जगत का वासी हो गया है। उसे विक्षुब्ध किया ही नहीं जा सकता।

यह सब कुछ रहते हुए भी उसमें आलस्य का प्रवेश नहीं होता, नहीं होता। उसने तो सम्पूर्ण संसार को ही प्रभु की इच्छा के अनुकूल कर्त्तव्य-पथ पर डाल देने का बीड़ा उठाया है। प्रभु की निर्माण-योजना जगत् की आध्यात्मिक जननी है। उस योजना के अनुसार सन्त ने सुधारणा का—नई सृष्टि का—संकल्प किया है। उसी के पीछे सारे जगत् को डाल देना—यह एक चमत्कार है, जो यजमान की यज्ञाग्नि कर रही है। यज्ञाग्नि की प्रवृत्ति इसी ओर है कि जगत् को यज्ञमय बना दे।

सच्चा सुधारक संसार को प्रकाश देता है। जो प्रकाश उसे स्वयं प्राप्त हो चुका है, वह उसे मानव-समाज में बाँट रहा है। वह बाँटे बिना रह नहीं सकता, प्रकाश अपना प्रचार अपने आप है। इस प्रकाश से ही संसार प्रभु के रास्ते पड़ रहा है, जैसे किरणों के प्रकाश से पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्कर काट-ही रही है।

मंगल-सकल्प

अध ज्मो अधवा दिवो बृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रतो पृण ॥८॥

ऋषिः—मेधातिथिः=संगति करने योग्य अतिथि । मेधातिथिः=पूज्य अतिथि।

(अध) चाहे (ज्मः) पृथिवी से (अधवा) चाहे (दिवः) द्युलोक के (बृहतः) महान् (रोचनात्) प्रकाश से (अधि) प्रादुर्भूत हो, (अया) इस (मम) मेरी (गिरा) वाणी को (तन्वा) शरीर बना कर (वर्धस्व) वृद्धि को प्राप्त हो । (सुक्रतो) हे मंगल संकल्प ! (जाता) संपूर्ण जीव-जात की (पृण) न्यूनताएँ पूरी कर ।

प्रकृतिवादी हमारे संपूर्ण मानसिक व्यवहार का कारण हमारे भौतिक शरीर को निश्चित करता है। उसकी दृष्टि में हमारे शरीर के अणु एक विशेष प्रकार से काम करते हैं। उससे क्षुधा पैदा होती है। एक और प्रकार से हिल पड़ते हैं, उससे प्यास लगने लगती है। यही नहीं, हमारे सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, प्रीति-अप्रीति, आशा-निराशा—सब प्रकार की भावनाएँ तथा अनुभूतियाँ शरीर ही के किसी अंग के विक्षोभ का परिणाम हैं। हमारा मंगल या अमंगल संकल्प भी इसी पार्थिव शरीर ही की एक भौतिक दशा है।

हमारे मानसिक जीवन पर हमारे भौतिक शरीर का गहरा प्रभाव पड़ता है—इसमें सन्देह नहीं। शरीर को स्वस्थ रखने, उसे निर्मल बना कर मन को चिड़चिड़ा न बनने देने

की वहुत आवश्यकता है । सात्विक आहार से सात्विक मन वनता है। इसलिए आहार सात्विक होना चाहिए। मट्टी के इस पुतले की मट्टी जितनी शुद्ध हो उतनी अच्छी। परन्तु आत्मवादियों के अनुसार यह मानसिक व्यापार एक [illegible]िय वस्तु है। भौतिक संसार से इसका संवन्ध है सही, परन्तु मन की इन चेष्टाओं का संचालक आत्मा ही है। कभी-कभी यह देखा गया है कि शरीर स्वस्थ होते हुए भी, आहार सात्विक रहते हुए भी, पाप की प्रवृत्ति वनी रही है। लोग शरीर को संयत रखते हैं, कायिक कुकर्म नहीं भी करते परंतु उनका मन बुरी वासनाओं की लीलास्थली बना रहता है। इसके विपरीत कई दुर्वल, अभक्ष्य-भोजी जव एक वार सुधार का संकल्प कर लेते हैं तो उनकी आध्यात्मिक काया-पलट होते एक क्षण की भी देर नहीं लगती। उनका वाहर का सुधार धीरे-धीरे होता रहता है परन्तु उनका अन्तर का आईना झट स्वच्छ हो जाता है। अव उनकी वाह्य इन्द्रियाँ भी जैसे पाप की अपनी पुरानी प्रवृत्ति को भूल गई हों। यह आत्मा का प्रताप है—कई लोगों की दृष्टि में प्रभु की अलौकिक कृपा ही का प्रसाद है।

आज तो हमें मंगल-संकल्प से काम है। यह आग चाहे पृथिवी की हो चाहे आध्यात्मिक द्युलोक की और चाहे दोनों की, हमें आग चाहिए—बिजली की एक लहर चाहिए। संकल्पाग्नि ! प्रज्वलित हो। वढ़। अपनी लपटों से हमें घेर ले।

हे विना शरीर के अग्नि-देव ! लीजिए, मैं तुम्हें शरीर देता हूँ। तुम मेरे मन का उद्गार बन जाओ, मेरी वाणी

का गीत बन जाओ, मेरे हृदय की पुण्य भावना बन जाओ, मेरे अंग-अंग की स्वाभाविक चेष्टा बन जाओ। मंगल-संकल्प! तुम मेरे शरीर, मेरे मन, मेरे हृदय, मेरे अन्त-रात्मा के विकास में विकसित हो। आखिर मेरा विकास तुम्हारे विकास के बिना हो ही कैसे सकता है? और तुम्हारा विकास भी तो किसी आत्मा के—मानव आत्मा के—विकास के रूप में ही होगा। संकल्प को शरीर चाहिए, ज़ुबान चाहिए। तो लो हे शोभन ऋतो! शुभ विचार! मैं तुम्हारा शरीर हूँ। मैं तुम्हारी ज़ुबान हूँ।

मेरी त्रुटियों को दूर करो। मेरे उद्देश्यों में, मेरे विचारों में, मेरी क्रियाओं में त्रुटियाँ-ही-त्रुटियाँ हैं। मैंने आज तुम्हारा आवाहन किया ही इसी लिए है कि मेरे दोषों को तुम हटा दो। मेरी न्यूनता तुम्हारी पूर्णता के प्रताप से स्वयं पूरित हो जायगी।

मंगल-मय प्रभो! मैं भी तो तुम्हारी सृष्टि का एक अंग हूँ। तुम्हारे सृष्टि-संकल्प की उपज हूँ। क्या मेरे दोषों से तुम्हारी सुन्दर सृष्टि दूषित नहीं हो रही? अंगी का एक अंग विकृत है। क्या एक अंग का विकार सम्पूर्ण अंगी को विकृत नहीं बना रहा? मुझ अकेले के लिए न सही, अपनी सृष्टि के परिष्कार के लिए मुझ "अछूत" को अछूता बना दो। मैं तुम्हारी सृष्टि का अंग हूँ—अवयव हूँ। अवयवी अवयव का है, अवयव अवयवी का। तो हे सुन्दर संकल्पोंवाले भगवान्! मेरे इस विशाल शरीर की वाणी में, क्रिया में, मानसिक व्यापारों में तुम अपनी विक-सित दीप्ति के फूल विकसा दो।

तुम पृथिवी से प्रादुर्भूत हो, आकाश से प्रादुर्भूत हो। द्युलोक से प्रादुर्भूत हो, कहीं से प्रादुर्भूत हो सही। मेरे वैयक्तिक तथा सामष्टिक शरीर में—स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों में—अपनी दिव्य ज्योति झलकाओ। मेरे पाप तुम्हारी ज्योति के संसर्ग-मात्र से भस्म हो जाएँ। तुम्हारी ज्योति की किरणें उन्हें चाट लें। इस प्रकार चाट लें, जैसे गौ बछड़े के मलिन शरीर को। हम तुम्हारे मंगल-मय उद्गारों से स्वच्छ हो जाएँ, निर्मल हो जाएँ।

***

दूर की संगति

कायमानो वना त्वं यन्मातॄरजगन्नपः।
न तत्ते प्र मृषे निवर्त्तनं यद्दूरे सन्निहाभुवः॥६॥

ऋषिः—विश्वामित्र=सबका मित्र।

हे संकल्प-याग की आग! (वना) उजाड़ की (कायमान) कामना करती-करती (यत्) जो (त्वम्) तुम (मातॄः) निर्माण की (अपः) विकल्प-लहरियों में (अजगन्) इस प्रकार जा पड़ी हो जैसे [मातृः] शिशु माता की गोद में, (ते) तुम्हारे (तत्) इस (निवर्तनम्) हट जाने को मैं (न) नहीं (प्रमृषे) सहन कर सकता (यत्) कि तुम (दूरे सन्) दूर रह-रह कर (इह) यहाँ (आभुवः) विद्यमान-सी हो।

वह संकल्प ही क्या जो आत्म-बलिदान से डर जाए? बड़े कार्य हमेशा त्याग ही के द्वारा सिद्ध हो सके हैं। जितना बड़ा संकल्प हो, उसकी सिद्धि के लिए उतना ही बड़ा त्याग अपेक्षित है। नए युगों के निर्माताओं ने सबसे पूर्व उजाड़

ही का रास्ता लिया है। अपना सर्वस्व स्वाहा किया है तभी वे संसार का हित कर सके हैं। लोक-सेवा माता की गोद में पड़े-पड़े नहीं हो सकती। उसके लिए सबसे पूर्व संसार से लड़ाई ठान लेनी होती है। लोक-लाज के, रीति-रिवाज के बड़े-बड़े भवन ढा देने होते हैं। केवल अपना ही नहीं, संगी-साथियों के, अड़ोस-पड़ोस के, और कभी-कभी तो जाति-भर के घर उजाड़ देने होते हैं। आख़िर क्रान्तियाँ और क्या चीज़ हैं? किसी महान् आत्मा के संकल्प-याग की आग तेज़ हो उठती है। उसकी लपटों में युगों के युग कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म—सार यह कि अपनी संपूर्ण भौतिक तथा मानसिक संपत्तियों सहित भस्मीभूत हो जाते हैं।

इस विनाश के पश्चात् तो निर्माण का समय आता ही है। परन्तु जब आवश्यकता विनाश की है, उस समय ही कोई निर्माण की चिन्ता में पड़ जाए, उसे अपनी तथा जाति के वर्तमान वैभव की रक्षा का ख़याल रहने लगे, क्रान्ति के दिनों में शान्ति चाहे तो उसकी स्थिति विषाद-ग्रस्त अर्जुन की-सी होगी। युद्ध को जाता-जाता वीर माता की गोदी की ओर ताकने लगे तो वह भीरु है।

हे मेरी संकल्प-अग्नि! हम उजड़ी बस्तियों को फिर बसा भी लेंगे। पर आज तो बस्तियों का स्थान वनों को देने का समय है। वह दिन भी थे जब तू एक हलकी तरंग-सी थी। वह तेरा शिशु-काल था। जब तू माता की गोद में सोई-सोई सुहावनी लगती थी। पर आज तुझ पर यौवन की बहार है। जवान होकर तू चैन

की नींद कैसे सो सकती है ? हे आग ! अब तो जल और जला।

हमें तेरी दूर-दूर की झाँकियाँ पसन्द नहीं। लुप्त रहना फिर कभी सहा जा सकता है। देवता अप्रसन्न रहे, दर्शन न दे—यह दशा असह्य नहीं। दर्शन दे, पर दूर से—यह दया का उपहास है। इससे पूरी निर्दयता अच्छी।

इच्छा हो सही, पर एक ठण्डी साँस के रूप में। इससे इच्छा न हुई अच्छी। हे मेरे ऋतु-देव ! शोभन संकल्प के अलौकिक शोले ! तुम ठण्डे क्यों पड़ते हो ? तुम्हारी ठण्डी साँसों से मेरे जीवन की आशाओं पर पानी पड़ा जाता है। तुम जलो, जलो। मैं तुम्हारे लिए घर-वार उजाड़ दूँगा। वस्तियों को वनों का रूप दे दूँगा। वन ही तो तुम्हारा आहार हैं। तुम आओ। वनों की वस्ती में डेरा लगाओ। इनको जलाओ और आप जलो। हमें दूर के नहीं, निकट के दर्शन चाहिए। हम तुममें अन्तर रहे ही क्यों ? हमें अपना आग्नेय रूप ही प्रदान कर दो। हम तुम हो जाएँ, यह दूर-पास का झगड़ा ही मिट जाए।

हम तुम हों तुम हम बनो, हो मिर्भय अनुराग।
अब पतंग औ' दीप क्या, हम ज्वाला तुम आग ॥

***

नमोनैवेद्य

नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते।
दीदेथ कण्व ऋतजात उक्षितो यं नमस्यन्ति कृष्टयः ॥१०॥

ऋषिः—कण्वः=मेधावी।

(अग्ने) हे अग्नि-देव ! तुम (शश्वते) हमेशा के (जनाय) मनुष्य के लिए (ज्योतिः) ज्योति हो । (त्वाम्) तुम्हें (मनुः) आरम्भ से ही पूर्वजों ने (निदधे) निदिध्यासन कर [अपने हृदय-मन्दिर में] स्थापित किया है। (कृष्टयः) कर्म की कृषि करनेवाले मनुष्य (यं) जिसको (नमस्यन्ति) अपनी विनम्रता, वीरता तथा धन-धान्य की भेंट देते हैं ,वे तुम (ऋतजातः) यज्ञ द्वारा प्रकट तथा (उक्षितः) स्नेह-रस से अभिषिक्त होकर (कण्वे) मुझ मेधावी यजमान में (दीदेथ) प्रज्वलित हुए हो।

मैं मनुष्य हूँ अर्थात् मनु की सन्तान । प्रत्येक मनुष्य अपने से पूर्व अपने पूर्वजों को पाता है । वे पूर्वज भी मनुष्य हैं अर्थात् मनु की सन्तान। सन्तति का यह सिलसिला सृष्टि के आरम्भ तक जाता है। आरम्भिक पूर्वज मनु है। वे मनु की सन्तान नहीं । सन्तान की शृङ्खला पीछे चलती है।

मनु अर्थात् मनुओं ने सृष्टि के आरम्भ में ही मनन किया। इसी से तो वे मनु कहलाते थे। मनन से वे निदिध्यासन की अवस्था पर पहुँचे। उस निदिध्यासन का परिणाम अग्नि की स्थापना थी। विश्व-याग अग्नि-देव के सहारे चल रहा है—यह उन्हें मनन द्वारा ज्ञात हो ही चुका था। निदिध्यान ने उन्हें अग्नि, एक गुप्त निधि के रूप में दे दी। इसे उन्होंने अपने हृदय-मन्दिर में स्थान दिया।

व्यक्ति अदलते रहे, बदलते रहे। परन्तु मानव-सन्तान क़ायम रही। मनुओं की जगह मनुष्यों ने ले ली। उन मनुष्यों के स्थान पर अन्य मनुष्य आ गये। परन्तु मानव-जाति की सत्ता अक्षुण्ण बनी रही। जाति-रूपी यह प्रवाह

"शश्वत् जन"—न मरनेवाला मनुष्य था। अग्नि-देव इस मनुष्य की ज्योति हो गया। जो आग मनुओं ने अपने हृदय-मन्दिरों में जलाई थी, उसे उनकी सन्तति ने अपनी आँखों में जगह दी। वह आग थी ही मनन की, निदिध्यासन की। विश्व के जिस रहस्य का ज्ञान हमारे आरम्भिक पूर्वजों को हुआ था, उसकी झाँकी आज तक मानव-जाति को मिलती चली आ रही है। सन्तति उत्पन्न करने का प्रयोजन ही यज्ञाग्नि को प्रदीप्त रखना था। सन्तति स्वयं यज्ञ थी—यज्ञ ही का फल और फिर यज्ञ ही का साधन। इस रहस्य के जाननेवाले व्यक्ति भी मुक्त हो गए—अमर हो गए।

विश्व का ऋत—सीधा-साधा सत्य, सम्पूर्ण सत्ता का मूल—यज्ञ है। यज्ञ ही के सहारे ब्रह्माण्ड स्थिर है। विश्वाग्नि यज्ञ ही से प्रदीप्त हुई है। उसे स्नेह-रस से अभिषिक्त किया गया है। ऊपर से, नीचे से, इधर से, उधर से—सब ओर से सींचा गया है, भले प्रकार सींचा गया है। प्रभु के स्नेह से, प्रभु के प्यारों के स्नेह से यह आग निरन्तर प्रज्वलित होती आई है। मेधावी जनों ने इसे हमेशा बाहर-अन्दर विश्व-याग को प्रदीप्त—जाज्वल्यमान—रखते पाया है।

आज इस आग की ज्वाला मेरे हृदय में प्रादुर्भूत हुई है। आज मुझे इसकी झाँकी नहीं साक्षात् दर्शन हो रहे हैं। आज मेरे हृदय में इसकी लपटें हैं। मैं यज्ञ की मूर्त भावना बन रहा हूँ। नहीं नहीं, आज मैं स्वयं यज्ञ हूँ। मेरे मनन का, निदिध्यासन का फल मुझे आज मिल रहा है। केवल मेरा ही क्यों? प्रारम्भिक मनुओं का, उनकी अन-

गिनत सन्ततियों का, अविच्छिन्न मानव-जाति का, इस मरण-रहित मनुष्य—इस "शश्वत जन" का—मनन आज सफल हो रहा है। मेरे मन में वह ज्योति जग गई है जो इस "शश्वत् जन" का पथ-प्रदीप है।

अग्नि-देव! तुम्हें नमस्कार हो, बार-बार नमस्कार हो। तुम किसानों के देव हो तो मैं आज किसान हूँ। प्रत्येक मनुष्य किसान है। समूची मानव-जाति ही किसान जाति है। हम बीज बोते हैं और उसका फल पाते हैं। सम्पूर्ण संसार हमारी कर्म-कृषि का फल है। हमारी भली-बुरी—सब प्रकार की कृषि अग्नि-देव के अर्पण हो रही है। अग्नि-देव उसे उगाता है, पकाता है, फल-फूल से समृद्ध बनाता है। आज हम अपनी ब्राह्मण-शक्ति—अर्थात् विनम्र नमस्कार, क्षत्रिय-शक्ति—अर्थात् वज्र-विलास, वैश्य-शक्ति—अर्थात् धन-धान्य-रूपी अन्न—तीनों प्रकार के नमो-नैवेद्य अपनी विनयांजलियों में लिए तुम्हारे सामने उपस्थित हैं। अग्नि-देव! हमारी इन आहुतियों को स्वीकार करो। हमारी नम्रता यज्ञार्थ हो। हमारी शासन-शक्ति यज्ञ के लिए हो। हमारा धन-धान्य यज्ञ ही की विभूति बन जाए। अग्नि-देव! हमारी इन आहुतियों पर स्वाहा कहो, स्वाहा कहो। हम किसानों की इन बीजांजलियों पर स्वाहा कहो, स्वाहा कहो!

देव-विमान

देवो वो द्रविणोदाः पूर्णां विवष्ट्वासिचम् ।
उद्वा सिञ्चध्वमुप वा पृणध्वमादिद्वो देव ओहते ॥१॥ ५५

ऋषिः—वसिष्ठः=अत्यन्त विस्तृत ।

(द्रविणोदाः) धन-धान्य देनेवाला (देवः) अग्नि-देव (वः) तुमसे (पूर्णाम्) पूरे (आसिचम्) अभिषेक की (विवष्टु) कामना करे । तुम उसे (वा) चाहे (उत् सिञ्चध्वम्) रस से ऊपर तक सींच दो (वा) चाहे (उपपृणध्वम्) गौण [आहुतियों द्वारा] भर दो । (आत् इत) तो झट (देवः) अग्नि-देव (वः) तुम्हें (आ-ऊहते) उठा लेगा, तुम्हारा वाहन बन जाएगा।

हे मनुष्यो ! तुम्हारे पास जो भी धन है, बल है, सामर्थ्य है—तुम्हारा सम्पूर्ण ऐश्वर्य, तुम्हारा सम्पूर्ण वैभव अग्नि-देव ही की देन है । तुम जाने में, अनजाने में अग्नि-देव की उपासना करते रहे हो । तुम्हारा अंग-अंग यज्ञ कर रहा है । और तो और, तुम्हारे प्राण चलते हैं, पलकें झपकती हैं—ये यज्ञ ही के अंग हैं । तुम्हारे शरीर की यान्त्रिक चेष्टाएँ प्रायः यज्ञ-रूप हैं । इसी का फल है कि तुम्हारे शरीर में बल है, तुम्हारे हृदय में भावना है, तुम्हारे मस्तिष्क में शक्ति है । तुम्हारे पास ज्ञान है, धन-धान्य है । मनुष्य-जीवन जितना भी यज्ञमय होता है, उसे उसी अनुपात में सिद्धि प्राप्त होती है । संपत्ति, किसी भी प्रकार हो, यज्ञ ही का परिणाम होती है । जहाँ भी हम स्वार्थ से काम लेते हैं, वहीं संपत्ति की

उत्पत्ति बाधित हो जाती है। व्यक्ति अपने आपको समष्टि का अंग बना कर जिए—इसी में उसका भला है। सफलता सहयोग ही में है। एक एक रहता है, दो ग्यारह हो जाते हैं, तीन एक सौ ग्यारह। यज्ञ की शक्ति का विकास इसी अनुपात से होता है।

जब सचाई यह है कि हमारे सभी साधन अग्नि-देव की कृपा का फल हैं तो हमें इन साधनों को अग्नि ही की परिचर्या में जुटाते देर क्यों होनी चाहिए ? हम भी अग्नि के, हमारी सब विभूतियाँ भी अग्नि की। फिर हम अपनी सारी विभूतियों समेत अग्नि-देव ही के अर्पण क्यों न हो जाएँ ? इन विभूतियों के चौमुखे विकास का—दिन दूनी, रात चौगुनी वृद्धि का—उपाय भी तो यही है।

अग्नि-देव को दो आहुतियाँ चाहिएँ—एक वह जो उसका नख-शिख सींच दे। रस का एक दरिया हो जिसमें वह डुबकी लगा ले। महत्ता का उपलक्षण है ही अभिषेक। अग्नि-देव वास्तव में महान् है—देवताओं में सबसे बड़ा है। इसका अभिषेक होना आवश्यक है। भौतिक अग्नि का अभिषेक घृत द्वारा होता है। घी की आहुतियों से आग भभक उठती है। उसका चेहरा चमचमा उठता है। यज्ञ की कान्ति दस-गुणी बढ़ जाती है। घी की एक बूँद, बुझ रही आग को फिर से जला देती है—जीवित जागृत-सा कर देती है। आध्यात्मिक घृत स्नेह है, सेवा-भाव है, यज्ञ की हार्दिक भावना है। कर्मणा, वाचा, मनसा यज्ञ के समर्पण होने से ही आध्यात्मिक अग्नि का अभिषेक होता है। श्रद्धा,

भक्ति, बिना हिसाब के आत्मोत्सर्ग की भावना—ये आध्या-त्मिक रस हैं। इन्हीं से अभिषिक्त हो कर आध्यात्मिक आग भड़क उठती है।

भौतिक द्रव्य की आहुति गौण है। अभिषेक उत् है। द्रव्यों की पूर्ति उप। यज्ञ में प्रधान तो रस है। जिस त्याग में रस नहीं, वह यज्ञ नहीं। बिना घी के हवन करना वातावरण में शुष्कता लाना है। मुख्य आहुति आत्माहुति है। जब यह आहुति दे दी गई तो शेष आहु-तियाँ जो उपाहुतियाँ हैं, अपने-आप यज्ञाग्नि के अर्पण हो जाएँगी।

यज्ञ की सीधी विधि तो यही है—पहिले घी की आहुति, पीछे शेष शाकल्य की। पहिले भावना, पीछे भौतिक द्रव्य। परन्तु कभी-कभी इससे उलटी प्रक्रिया भी चल पड़ती है। मनुष्य भावना-रहित कार्य करता-करता अकस्मात् भावना-मय हो उठता है। बिना श्रद्धा के किया हुआ यज्ञ किसी दिन अपने आप श्रद्धा को जन्म दे देता है। पूर्ण आहुति श्रद्धा ही से होती है।

प्रक्रिया कोई हो, यज्ञ करना आवश्यक है। संसार की सत्ता यज्ञ ही पर निर्भर है। अग्नि की उपासना के बिना किसी भी दिशा में प्रगति होनी असम्भव है। बिना आग के संसार रुक जायगा, मर जायगा। और जहाँ सारा संसार जायगा, वहीं हम तुम भी। इसलिए हे मनुष्य भाइयो! आओ! यज्ञ करें। श्रद्धा-पूर्वक यज्ञ करें। अपने धन से, धान्य से, अन्न से, बल से, ज्ञान से, भावना

से—अपनी मानसिक तथा शारीरिक सभी शक्तियों से यज्ञ करें। हमारी सभी शक्तियाँ इस समय भी यज्ञ ही के प्रताप से हमारे अधिकार में है, भविष्य में भी यज्ञ ही के प्रताप से हमारे वश में रहेंगी। नहीं! फलेंगी, फूलेंगी, कई गुणी हो-होकर बढ़ेंगी।

और जब हमने इस यज्ञ की पूर्ण आहुति दी, फिर तो न हम ही अपने रह जाएँगे, न अन्य कोई हमारी वस्तु ही हमारी हो सकेगी। द्रव्यमय यज्ञ भी जब पूर्णता को प्राप्त होने लगता है तो श्रद्धा तथा विश्वास की आहुति अपने आप अग्नि-देव के भेंट हो जाती है। ऐसे ही स्नेह जब पराकाष्ठा को पहुँचता है तो अन्य सम्पत्तियाँ अपने आप यज्ञ की वेदी के अर्पण हो जाती हैं। आरम्भ कहीं से करो, अन्त एक ही है—यज्ञ।

पूर्ण आहुति की भावना उठते हो अग्नि-देव तुम्हें सँभाल लेगा। जब तुम आत्माहुति देने को तैयार हो गए तो अग्नि की बाहें अपने-आप तुम्हारी ओर बढ़ जाएँगी, तुम झट अग्नि-विमान पर चढ़ जाओगे और अपनी आत्मा को अनायास एक देवलोक-से में पाओगे। इस पृथिवी पर रहते हुए तुम्हारा जीवन दिव्य हो जाएगा। तुम्हारे भाव अलौकिक होंगे, तुम्हारी वाणी अलौकिक होगी, तुम्हारे कर्म अलौकिक होंगे।

आओ! मनुष्य बन्धुओ! हम अलौकिक प्राणी बनें। अग्नि को वाहन बना कर सम्पूर्ण विश्व की बहार देखें, उसमें फिरें, घूमें, हिलें जुलें, आग बन कर समा जाएँ, समा जाएँ।

अपांक्तेय

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्रदेव्येतु सूनृता ।

अच्छा वीरं नर्य्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः ॥२॥ ५६

ऋषिः—कण्वः=मेधावी ।

(ब्रह्मणस्पतिः) वेद का, ब्रह्माण्ड का, ब्राह्मण का रक्षक [अग्नि-देव] (प्रैतु) हमें प्राप्त हो। (सूनृता देवी) रसीली सत्य-स्वरूप दिव्य वाणी (प्र एतु) हमें प्राप्त हों। (देवाः) देव-गण (नः) हमें (पंक्तिराधसम्) पंक्तियों से समृद्ध, (नर्य्यम्) मानव-मात्र के लिए हितकारी, (वीरम्) वीरता-पूर्ण (यज्ञम) यज्ञ (अच्छ) की ओर (नयन्तु) ले जाएँ।

अग्नि-देव ! तुम्हीं ब्रह्माण्ड के पति हो। संपूर्ण ब्रह्माण्ड की रक्षा तुम्हीं करते हो। इस ब्रह्माण्ड में जो ज्ञेय है, वह सब तुम्हारी कृति है। जो ज्ञान है, वह भी सब तुम्हारी ही कृपा का का फल है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता का सम्बन्ध करानेवाले तुम्हीं हो। तुम्हीं हमारे मनों के ज्ञान की ज्वालाएँ प्रदीप्त कर उनके आलोक में संसार को ज्ञेय बनाते हो। इधर तुम हमारे ज्ञान के आधार, उधर संपूर्ण ज्ञेय ब्रह्माण्ड के आधार। कैसा सुन्दर सम्बन्ध है। तभी तो संसार की सत्ता चाहे हम से पृथक् ही है तो भी यह संपूर्ण संसार हमारे ज्ञान का विषय बन रहा है। सचमुच "सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबके आदिमूल" हे अग्नि-देव ! तुम्हीं हो। तो हे अग्नि-देव ! आओ ! हे ज्ञान-स्वरूप ! कृपा करो। हमें शुद्ध ज्ञान

प्रदान करो। तुम्हारे बनाए ब्रह्माण्ड की, वेद-रूपी ज्ञान की, और इन दोनों के ज्ञाता ब्राह्मण की रक्षा एक साथ हो जाए। हम तुम्हें ब्रह्माण्ड में देखें, वेद में देखें और अपने-आपमें देखें। हे परम ब्रह्म ! हमें ब्राह्मण बनाओ।

तुम्हारी कृपा से शुद्ध ज्ञान प्राप्त कर हम उसका प्रवचन संसार-भर में करें। तुम्हारा दिया हुआ ज्ञान वाणी का रूप धारण करे—सच्ची मीठी वाणी का। हम जो कहें, सच-सच कहें, मीठे शब्दों में कहें। हमारी वाणी दिव्य हो। उसमें सत्य का प्रकाश हो और प्रेम का मिठास। हम क्रोध में न आएँ। प्रचार सत्य ही का करें, परन्तु धीरता से, वीरता से, गाली सह जाएँ। विरोध का मुकाला तो करें पर उसमें स्वयं न बह जाएँ। द्वेष को निधड़क प्रीति द्वारा पराजित करें।

जाज्वल्यमान ब्रह्मणस्पते ! आओ। समझौता करने-वाले अपने अदम्य सत्य को उग्र ज्वाला का रूप देकर आओ। तुम्हारे तेज में बल हो, वीर्य हो, मन्यु हो—पर क्रोध नहीं, असंयत रोष नहीं। तुम सहःस्वरूप हो। सहनशील बल साथ लाओ। हमें सहनशील बनाओ। आत्म-विश्वासी सत्य आपकी कृपा के विना स्थिर नहीं रह सकता। विपक्षी जितना अधीर हो, सन्त की ज़ुबान उतनी कोमल, उतनी सरस, मधुरिमा-मय होती जाती है। सत्य की ज्वालाओं में "सूनृता देवी" के दर्शन होते हैं—मीठी बेलाग वाणी के।

अग्नि-देव ! मुझे तुम्हारे दर्शन क्या हुए ? एक-साथ सम्पूर्ण देव-माला के दर्शन हो गए। सत्य का, सहन का,

मधुरिमा का, प्रीति का—सबका साक्षात्कार एक-साथ हो गया। देव-गणो ! अब मैं तुम्हारे अधीन हूँ। मुझे जहाँ चाहो, ले चलो। मैं यजमान हूँ, तुम यज्ञ के देव, ऋत्विक्। जो कहोगे, करूँगा। मुझे यज्ञ करना है, और तुम्हें कराना। आओ ! आज एक अपूर्व यज्ञ करें। मानव-मात्र का हितकारी यज्ञ। यह यज्ञ एक मेरे लिए न हो, मेरे घर-वालों के लिए नहीं, मेरे अड़ोस-पड़ोस के लिए नहीं, किसी ग्राम के, नगर के, किसी देश-विदेश के लिए नहीं, सम्पूर्ण मानव-जाति के हित के लिए हो। हमारा यज्ञ "नर्य" हो अर्थात् नर-नारी दोनों का।

क्या वीरता लड़ने में है, सहने अथवा मेल कर लेने में नहीं ? वास्तविक संग्राम तो ग्रामों का संयोग ही है। वह युद्ध यज्ञ है जिसका उद्देश्य शान्ति हो, मेल हो। लड़ाकों के साथ लड़ पड़ना, उनकी वैर की वृत्ति का विरोध प्राण-पण से करना सच्ची वीरता है। वीर के वैर का आधार भी प्रेम ही होता है। वह युद्ध ठानता है—लोकोपकार के लिए, मानव-मात्र के उद्धार के लिए। मेरे यज्ञ के संचालक देव-गणो ! मुझे इसी प्यार के संग्राम में ले चलो। मैं सत्य का, सहन का, प्रीति का, मिठास का योद्धा बनूँ। मेरी कोमलता भीरुता का दूसरा नाम न हो। मेरी धीरता वीरता ही का परिणत रूप हो। मेरा मस्ताना सत्य आपे से बाहर न आए, न जाए।

अग्नि-देव ! मेरे इस यज्ञ को सफल करो, समृद्ध करो। बाह्य सफलता विना यज्ञ के भी प्राप्त हो जाती है। धनवान्

तो चोर भी बन रहे हैं, डाकू भी। छल-कपट से भी मनोरथों की सिद्धि हो रही है। सीधे-टेढ़े सभी साधनों से कामनाएँ पूर्ण की जा रही हैं। मैंने यज्ञ इन सफलताओं के लिए नहीं किया। मेरे यज्ञ की समृद्धि उसकी पंक्तियों में है—आचार की मर्यादाओं में, धर्म की परिधियों में। यही मेरे यज्ञ-कुण्ड की मेखलाएँ हैं। मेरी वेदी इन मेखलाओं के कारण सुसज्जित है, सुभूषित है। अग्नि-देव ! धन देना, न देना; मेरी सांसारिक साधनाओं को सिद्ध करना, न करना; मेरे काम को, अर्थ को सफलता का वर देना, न देना; मुझ यजमान की एक विनती अवश्य स्वीकार कर लेना। मेरे यज्ञ में धर्म की पंक्तियाँ अक्षुण्ण बनी रहें। मेरे यज्ञ की समृद्धि धर्म की मर्यादा में है—तुम्हारी खेंची रेखाओं के उल्लङ्घन न करने में।

ब्रह्मणस्पते ! यही ब्राह्मण की रक्षा है। उसके ब्रह्म को ब्राह्म परिधि में रहने दो। यही वेद की रक्षा है, यही ब्रह्माण्ड की। ब्राह्मण को उसकी ब्राह्म परिधि में क़ायम रखो, क़ायम रखो। असंयत ब्राह्मण स्वतन्त्र नहीं, स्वच्छन्द हो जाता है। वह अपांक्तेय है।

***

कृतज्ञता का वर

ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये तिष्ठा देवो न सविता।
ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदञ्जिभिर्वाघद्भिर्विह्वयामहे ॥३॥

ऋषिः—कण्वः=मेधावी।

(नः) हमें (ऊतये) अपनी छत्र-छाया में लेने के लिये

[हे अग्नि-देव] (ऊर्ध्वः) आप हमारे सिरों पर (तिष्ठ ऊ षु) उसी प्रकार विराजिए ना, (न) जैसे (देवः) प्रकाशमान (सविता) सूर्य [संसार के ऊपर विराज रहा है]। (यत्) हम जो (वाघद्भिः) भावना-भरी कर्म-सम्पन्न (अञ्जिभिः) प्रकाशित कामनाओं द्वारा (विह्वयामहे) भाँति-भाँति की पुकार मचा रहे हैं, (ऊर्ध्वः) आप हमारे ऊपर विराजमान होकर (वाजस्य) अन्न की, बल की, ज्ञान की (सनिता) वृष्टि कीजिये।

अग्नि-देव ! अब हमें आप ही का सहारा है। हमें आप-अपनी छत्र-छाया में ले लीजिए। प्रकट होकर, प्रकाशित होकर अपनी छत्र-छाया में ले लीजिए। भौतिक संसार भौतिक सूर्य की छत्र-छाया में है। इसी से उसे जीवन मिलता है, सम्पूर्ण क्रिया-कलाप की—छोटी-से-छोटी हरकत की—प्रेरणा होती है। आप हमारे आध्यात्मिक सूर्य हैं, सविता हैं। आप ही की कृपा से हमारे आध्यात्मिक जीवन का जन्म हुआ और फिर आप ही उसमें नई-नई स्फूर्ति प्रदान कर धर्म-कर्म की प्रेरणा करते रहते हैं। प्रभो ! हमारे जीवन के सभी ऐश्वर्य, सभी विभूतियाँ तुम्हारी देन हैं। तो फिर आप हमारे सम्मुख प्रकट क्यों नहीं हो जाते ? करुणा-हस्त तो तुम्हारा प्रतिक्षण बढ़ा ही रहता है। पर वह हमारी दृष्टि से ओझल है। हम उसकासाक्षात्कार क्यों नहीं कर पाते ? अभिभावक के सम्मुख रहते अभिभावित की ढाढ़स बँधी रहती है। तुम हमारी ढाढ़स क्यों नहीं बँधाते ? अग्नि-देव ! आओ ना ! हमारे सिरों पर स्पष्ट विराजो ना ! हमें अपने दिव्य दर्शन प्रदान करो ना। हम करुणा

के पात्र भी हों, साक्षी भी। साक्षी बन कर करुणा के पात्र रहने का एक और आनन्द है।

तुम्हारे दर्शन की कामना हमारे दिलों में तो पहिले ही से थी। आज हमने उसे शब्दों का चोला दिया है। अपने हृदय की भावना को प्रकट कर दिया है, तो फिर तुम भी तो अपनी करुणा को प्रकट करो। हमारी कामना में आडम्बर नहीं। थोथा-चना बाजे-घना—यह कहावत हमारी पुकार पर चरितार्थ नहीं होती। हमारी पुकार सच्ची है। उसमें सत्य है, सार है। हमारी कामना भावना-मय है। सच्चे हृदय से निकली है। उसके तल पर प्रयत्न है, पुरुषार्थ है। कोरी कामना नहीं। अग्नि-देव! क्या तुम हमारी ऐसी कामना को भी निराश करोगे? उसे खाली लौटा दोगे?

हमारी रंग-बिरंगी पुकार को दर्शन भी रंग-बिरंगे ही दो। हम बोल रहे हैं। हमारे शब्दों का उत्तर तुम शब्दों से दो। हमारी आशाएँ, इच्छाएँ, प्रतीक्षाएँ तुम्हें पुकारती हैं। कभी की पुकारती हैं। अग्नि-देव! अपने मूक दर्शन देकर इन्हें सफल कर दो। हमारे कर्म-कलाप तुम्हारे अर्पण हो रहे हैं। मेरे अंग-अंग ने तुम्हारी वेदि पर अपने-आपको स्वाहा करने की ठान ली है। कर्म की इस मूर्त वाणी को तुम अन-सुना कैसे कर सकते हो? तुम्हारा आशीर्वाद हमारी हार्दिक कर्म-संपन्न पुकार का प्रत्युत्तर हो।

अग्नि-देव! हमें अन्न देते जाओ, इस अन्न को बल में, बल को ज्ञान में रूपान्तरित करते जाओ। तुम्हारी कृपा की वृष्टि तो पहिले भी खूब हो रही है, प्रति-क्षण खूब हो रही है,

प्रभूत मात्रा में और फिर खूब हो रही है। आज हमारी कामना यही है कि इसमें एक और खूबी बढ़ जाए। तुम हमें आशीर्वाद तो दे ही रहे हो। आज ज़रा कोठे पर चढ़ कर दो। तुम्हारा मंगलमय मेघ बरस रहा है, खूब बरस रहा है, छाजों बरस रहा है। आज ज़रा अपने छाज के दर्शन करा दो। हमारा अन्नदाता कौन है ? ज़रा देख तो लें। हमारे बल का, ज्ञान का स्रोत कहाँ है ? कैसा है ? अपनी शक्ति-भर उसे जान तो लें। सूर्य अपनी किरणों को छिपाता नहीं तो तुमने अपने करुणामय हाथ क्यों छिपा लिए हैं ? अपनी अनन्त कृपाओं में एक कृपा यह बढ़ा दो कि हमें तुम्हारी कृपा की अनुभूति हो। कृपापात्र कृतज्ञ न हुआ तो कृपा-कोर खाली गई। कृपा-कोर की साध पूरी न हुई। उसने कृपा-पात्र को प्रसन्न नहीं किया, निहाल नहीं किया। कृतज्ञता ही कृपा की अन्तिम सफलता है। प्रभो ! अपनी कृपा को सफल करो, हमें कृतज्ञता का वर दे सफल करो।

* * *

बाँकुरा

प्र यो राये निनीषति मर्त्तो यस्ते वसो दाशत्।
स वीरं धत्ते अग्न उक्थशंसनं त्मना सहस्रपोषिणम् ॥४॥

ऋषिः—सोभरिः=उत्तम पालक।

(यः) जो (मर्तः) मरण-शील मनुष्य (वसो) हे जगन्निवास! (राये) रमणीय धन के लिए (प्रनिनीषति) तुम्हारा प्रणयन—निर्माण करना चाहता है, (यः) जो (दाशत्) इसी उद्देश्य के लिए आत्म-समर्पण कर देता है, (स) वह (अग्ने)

हे अग्नि-देव ! (त्मना) अपने ही में (उक्थशंसिनम्) तुम्हारे उद्गारों को गा रहे (सहस्रपोषिणम्) हज़ारों का भरण-पोषण करनेवाले (वीरम्) वीर को (धत्ते) उत्पन्न कर लेता है।

अग्नि-देव ! संपूर्ण जगत् तुम्हीं में निवास कर रहा है। तुम्हीं इस अशरण की शरण हो। पक्षियों की तरह उड़ रहे इन लोक-लोकान्तरों के लिए वास्तविक वातावरण तुम्हीं हो—इनके विश्राम का घोंसला तुम्हीं हो। तुम्हारे विना हम वे घर-घाट के राही हैं। चले जाते हैं, चले जाते हैं, पर अन्त में पहुँचना तो तुम्हारे ही पास है। चलते-जातों को भी तो तुम्हारी ही ओट है।

जीवन आनन्द के लिए है, भोग के लिए। भोग दुगना हो जाता है जब उसका आनन्द किसी के साथ मिलकर लिया जाए। बँटा हुआ भोग कई गुणा मज़ा देता है। भाग यहाँ गुणा का काम कर रहा है। जीवन का यही चमत्कार है। कोई काम करो। उसे क्रीडा का रूप दे दो। आनन्द-दायक हो जाता है। आनन्द रमण में है—लीला में। धन वही रमणीय है जिसके साथ रमण किया जाय, क्रीडा की जाए। लाख कमा और लाख लुटा। तब वह लाख "रयि" हो जाएगा। वास्तव में हम धन के स्वामी तभी बनते हैं जब उसके साथ खेलने लगें। जब तक हमें धन की कामना है, हम भिखारी हैं। जब कमा कर उसे रख लेते हैं तो उसके चौकीदार हो जाते हैं अर्थात् नौकर, दास। हम मालिक तो तभी होते हैं जब उसका उपभोग करते हैं—उसे खाते भी हैं और उड़ाते भी। खाने का मज़ा खिलाने की दशा में कई गुणा बढ़ जाता है। यही यज्ञ है।

जिसमें यह दान-वृत्ति आ गई है, वह यजमान है। 'दाश्वान्' उस यजमान को कहते हैं जो अपना सर्वस्व यज्ञ के अर्पण कर दे। जो धन-धान्य से लेकर अपनी विद्या तथा कला की विभूतियों तक को इस खेल का विषय बना सकता है, जो भौतिक वैभवों से आरम्भ कर अन्त को अपने आत्मा तक की बाज़ी लगा सकता है, वह पूरा "दाश्वान्" है। आंशिक आहुतियाँ देनेवाले आंशिक यजमान हैं, आंशिक "दाश्वान्" हैं। जिसने इस बात को अनुभव कर लिया कि हमारे आद्योपान्त जीवन का आधार अग्नि-देव ही है, हम यज्ञाग्नि की ज्वालाओं में ही जी रहे हैं, उसने जीवन के आन्तरिक तत्त्व को पा लिया है। यों तो हमारा सर्वस्व अग्नि के जाज्वल्यमान मुखारविन्द की भेंट हो ही चुका है। परन्तु उसे नहीं जानते। आहुति पड़ रही है, दी नहीं जा रही। खेल हो रहा है, खेला नहीं जा रहा। चोटें तो पड़ रही हैं, हमें घाव लग रहे हैं, पर इतने ही से हम वीर नहीं कहला सकते। जगत् के समरांगण में सभी सैनिक शर-शय्या पर आरूढ़ हैं। परन्तु भीष्म ही वीर-गति को प्राप्त है, हम नहीं। उसने यह शय्या अपनी शूरता के हाथों तैयार कराई है और इसलिए इसके मज़े लेता है।

यही अवस्था यजमान की है। वह आहुति देता है। उसका धन उससे छीना नहीं जाता, उसके हाथ से गिर नहीं पड़ता, वह देता है। किसी की आयु अपने-आप क्षीण हो रही है। कोई उसका उपभोग इच्छा-पूर्वक दान-पुण्य में कर रहा है। मौत दोनों को चिता पर लेटा देगी। एक

की चिता बड़भूँजे का भाड़ होगी, दूसरे की यज्ञाग्नि की वेदि। होंगे दोनों आग की भेंट। एक राख बन कर कूड़े की तरह फेंक दिया जायगा, दूसरा अग्नि-विमान पर आरूढ़ हो देव-लोक का राही बनेगा।

देव खिलाड़ी ही का नाम है। दिवु क्रीडायाम्। खिलाड़ी चिता पर बैठ कर गाता है। सच्चा खिलाड़ी विजय में खुश है, पराजय में भी। उसकी दृष्टि अपने खेलने के सलीके ही पर रहती है। यदि उसका खेल का अन्दाज़ खिलाड़ियों का-सा रहा है, तो वह सन्तुष्ट है। विजय-पराजय है यदि उसमें नियम-भंग हुआ हो। सच्ची विजय शुद्ध खेल का दूसरा नाम है।

शुद्ध खेल का, संगीत अंग है। मनुष्य को यह सन्तोष हो सही कि वह खेल के धर्म पर दृढ़ रहा है, उसके मुख से अनायास सुर-ताल का प्रवाह-सा चल पड़ता है। वह गाता है। तानें उड़ाता है। हवा में उड़ रहे पक्षी की तरह गा-गाकर आकाश-पाताल को अपनी दिव्य ध्वनि से गुँजाता है। वह गीत उसके अपने नहीं, यज्ञाग्नि के यज्ञ-मय गुंजार होते हैं। वेद का वास्तविक पाठ उसी ने किया है। प्रभु स्वयं उसके मुख से बोलते हैं। ऐसा मनुष्य ऋषि है।

इस एक के आत्मोत्सर्ग से हज़ारों के पेट भर रहे हैं। यज्ञ में डाली आहुति का चमत्कार ही यही है कि वह एक उपभोक्ता तक परिमित न रह कर असंख्य भोक्ताओं का भोग बन जाती है। आग में काफ़ूर डाल दो, हज़ारों के मस्तिष्कों को महका देगा। मिर्च डाल दो, सम्पूर्ण समुदाय

झट छींकने लगेगा। यजमान की लयें लाखों के हृदयों को गर्मा रही हैं। दूध की धुली उसकी आहुतियाँ करोड़ों की छातियों में क्षीर-सागर की-सी तरंगें उछाल रही हैं। वह वस्तुतः वीर है—दृष्टि देनेवाला वीर, वीरता में खेल का प्रचार करनेवाला वीर। गिरतों की हिम्मत बँधानेवाला वीर। उठतों का उत्साह बढ़ानेवाला वीर।

मेरे मन! क्या तुझे किसी ऐसे वीर के दर्शन करने हैं? आ, तुझे किसी ऐसे ही दरिया-दिल दाता के पास ले चलूँ! अपने हृदय की वेदि पर यज्ञाग्नि का आधान कर! उसका खेल देख। उसमें अपने एक-एक वैभव की आहुति दे दे। आग की लपटों की लीला देखता-देखता तू अपनी भुजाओं ही को आग की ज्वाला बना दे। यज्ञ के चमसों को स्वयं आग के हाथ बना डाल। आग की यज्ञ-लीला स्वयं करने लग जा। सर्वस्व स्वाहा कर और गा। आग का राग गुंजा। तेरी आहुति की महक सैकड़ों, हज़ारों मस्तिष्कों तक पहुँच जाए। उन्हें हृष्ट-पुष्ट करे। अग्नि के उद्गार तेरी ज्वालाओं की-सी जीभ से संपूर्ण विश्व के कानों में गूँज जाएँ, गूँज जाएँ।

मेरे मन! देख लिया? वह बाँकुरा वीर तू है, तू है, तू है। तेरी आत्मा ही तो वह बाँका बहादुर है जिसका राग आग है, जिसकी एक-एक चेष्टा याग है। तू अपने हृदय की खिड़की खोल और आग का फाग खेलता अपनी आत्मा के दर्शन कर।

***

स्वाध्याय

प्र वो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम् ।
अग्निꣳ सूक्तेभिर्वचोभिर्वृणीमहे यꣳ समिदन्य इन्धते ॥५॥

ऋषिः—कण्वः=मेधावी ।

(देवयतीनां) देवता बना कर पूजनेवाली (पुरूणाम्) बहु-संख्य (विशाम्) प्रजाओं के (वः) तुम्ह (यह्वम्) महान्—पूज्य (अग्निम्) अग्नि-देव को (सूक्तेभिः) भली प्रकार उच्चारण किए गए (वचोभिः) वेद-वचनों से (प्रवृणीमहे) हम वरण करते हैं—उस अग्नि-देव को (यम्) जिसे (अन्ये) अन्य लोग (इत्) भी (समिन्धते) प्रदीप्त कर रहे हैं।

हम आर्य हैं। वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना हमारा परम धर्म है। हम उस परम धर्म का पालन कर रहे हैं। वेद-वाणी का पाठ हम नित्य-प्रति करते हैं। खूब गा-गा कर मन्त्रों का उच्चारण करते हैं। उनमें आए पदों का, सन्धियों का, छन्दों का ध्यान रखते हैं। हम मन्त्रों के भावों में पैठ जाते हैं, और भावना-पूर्वक उनका गान करते हैं। मन्त्रों की परस्पर संगति को स्मरण रखते हुए संपूर्ण सूक्तों के तात्पर्य को मनन तथा निदिध्यासन का विषय बनाते हैं। आज हमारे समूचे आचरण का आधार वेद है—ईश्वरोक्त वेद, ऋषियों द्वारा दृष्ट तथा प्रोक्त वेद। इस वेद का ठीक उच्चारण वही है जो केवल वाणी-द्वारा ही नहीं, किन्तु मानसिक, वाचिक, कायिक—तीनों प्रकार के क्रिया-कलाप द्वारा अनुष्ठान ही को ज़बान बना कर किया जाय। हमारी भाषा सूक्त—

भली प्रकार कही गई—तभी बनती है जब उसका प्रवचन हमारे शरीर का अणु-अणु कर रहा हो।

वेद के इस स्वाध्याय द्वारा हम अग्नि-देव का आवाहन करते हैं। मनुष्य पूजा-शील है। मानव-जाति में संभव है, कोई विरला व्यक्ति ऐसा भी हो जो किसी देव की आराधना न करता हो। अधिक संख्या ऐसे ही मनुष्यों की है जिनके स्वभाव में पूजा है। कोई देश को, कोई जाति को, कोई धर्म को देव बना कर पूज रहा है। कोई किसी संबन्धी का ही पुजारी है। किसी की श्रद्धा गुरु में हो, किसी की पिता-माता में, किसी की किसी बात में। श्रद्धा से खाली कोई इक्का-दुक्का ही हो तो हो। भक्ति मानव-जीवन का रस है, सार है। मनुष्य भक्त इसलिए है कि वह मनुष्य है। उसे देव बनना है, इसलिए उसकी पूजा का पात्र कोई देव होना ही चाहिए।

हमारी भक्ति का भाजन अग्नि-देव है। वह देवों का अग्रणी है। जिन मनुष्यों को आगे जाना है, जिन्हें विकास अभीष्ट है, उन्हें अग्नि ही की उपासना करनी चाहिए। अग्नि-देव फूल की तरह खिल रहा है। हमेशा ऊपर-ही-ऊपर चढ़ रहा है। संपूर्ण विश्व के जीवन का आधार है। अन्य देव यज्ञ करते हैं परन्तु प्रत्येक यज्ञ का होता—अन्य देवों को बुलानेवाला और उनसे यज्ञ करानेवाला—अग्नि-देव ही है। देव लेते हैं देने के लिए। अग्नि देवताओं को दे रहा है। यह देव देवों का देव है।

अग्नि-देव की उपासना केवल हमीं नहीं कर रहे। अन्य

लोग भी जाने, अनजाने में अग्नि ही की उपासना करते हैं। हर एक ने अपनी अलग अलख जगाई है। कोई देशाग्नि को, कोई धर्माग्नि को, कोई वंशाग्नि को प्रदीप्त कर रहा है। सर्वत्र समुदायों में काम कर रहा है। हर जगह सहयोग का राज्य है। कोई व्यक्ति अकेला नहीं। प्रत्येक स्थान में देव-पूजा है, संगति-करण है, दान है। अपने से बड़े में देव-भावना है, समानों में सखित्व का भाव है, छोटों के लिए दान की वृत्ति है। एक शब्द में यह विश्व यज्ञागार है। चप्पे-चप्पे पर यज्ञ हो रहा है। मनुष्यों में, पशुओं में, वनस्पतियों में, ईंटों और पत्थरों में यज्ञ है। ग्रह-उपग्रह यज्ञ कर रहे हैं। अग्नि की उपासना यज्ञ ही का दूसरा नाम है।

यज्ञाग्नि को क्रिया-रूप में प्रदीप्त तो सभी कर रहे हैं, पर मन्त्र-पाठ हम मनुष्यों के हिस्से आया है। अलख जगी तो द्वार-द्वार पर है पर उसकी पुकार अकेला मनुष्य ही करता है। वेद का अनुसरण तो समूचा चराचर जगत् कर रहा है, परन्तु वेद का श्रवण और मनन मनन-शील मनुष्य ही की करामात है।

तो हे मेरे आर्य मन ! आ। तू मन्त्रों का मनन-पूर्वक आचरण कर। तू वेदाग्नि को प्रदीप्त कर, प्रदीप्त कर। मनसा, वाचा, कर्मणा वेद का प्रचार—वेदाग्नि का प्रसार कर। यही तेरा यज्ञ है। स्वाध्याय से उत्तम और यज्ञ कौन-सा है ? आत्मा का अध्ययन कर। उसमें वेद की आग जला, यज्ञ की आग भड़का। जो आग अनजाने में भड़क रही है, उसका ज्ञान प्राप्त कर, उसे ज्ञानाग्नि से और अधिक चमका।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द !

अयमग्निः सुवीर्यस्येशे हि सौभगस्य ।
राय ईशे स्वपत्यस्य गोमत ईशे वृत्रहथानाम् ॥६॥६०

ऋषि:—उत्कीलः=अत्यन्त स्तुत्य ।

(अयम्) यही (अग्निः) अग्नि-देव (सुवीर्यस्य) उत्तम वीर्य का—(सौभगस्य) मंगलमय ऐश्वर्य का (ईशे हि) निश्चित राजा है। (रायः) रमणीय धन का (स्वपत्यस्य) पुत्र-रत्न का (गोमतः) वेद-वाणी के धनी के (वृत्रहथानाम्) पाप-विनाश के प्रयत्नों का (ईशे) वर-दाता यही है।

मेरी जान ! तुझे वीर्य चाहिए—सात्विक वीर्य, शुभ शंकर शक्ति ? तो इसका एक ही उपाय है—अग्नि-देव की उपासना अर्थात् यज्ञ। अग्नि-देव तेरे शरीर में जीवनाग्नि के रूप में विद्यमान है। उसे सात्विक, पौष्टिक भोजन से, नियम-पूर्वक व्यायाम से, आत्म-संयम से, सात्विक स्वास्थ्य-प्रद चिन्तन से, प्राणायाम से प्रदीप्त कर। इन प्रयत्नों के अवलम्बन से शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार का वीर्य उत्पन्न होगा।

मेरी जान ! तुझे सौभाग्य चाहिए—उत्तम ऐश्वर्य ? सम्पत्ति हो, विपत्ति हो, तेरा सौभाग्य बना रहे ? तेरे माथे पर तेवर न चढ़ें ? तुझे मंगल-ही-मंगल की अनुभूति हो ? तो यज्ञ कर। अग्नि-देव की उपासना में लगा रह। यज्ञ की वृत्ति असफलता को भी सफलता का रूप दे देती है।

यज्ञार्थ कर्म फल की कामना से रहित होते हैं। इनकी सफलता इनके अनुष्ठान की सुन्दरता में है। यदि इन कार्यों के करते अधर्म का अवलम्बन नहीं हुआ तो सांसारिक दृष्टि से असफल रहते हुए भी ये सब कार्य सफल हैं। यजमान का सौभाग्य इसी में है कि उसने यज्ञ किया है। इस सौभाग्य को संसार की कोई विपत्ति उससे नहीं छीन सकती। उसका सुकृत अपना फल है।

रमणीय—यज्ञमय क्रीडा के काम आनेवाला—धन भी यज्ञ ही के द्वारा प्राप्त होता है। अग्नि लीला-प्रिय देवता है। यह सब प्रकार की सम्पत्तियों से फाग खेलता है। ऐसे ही यजमान। शतहस्तः समाहर सहस्रहस्तः संकिर—सैकड़ों हाथों से कमाता है और हज़ारों हाथों से बिखेरता है, लुटाता है। यज्ञ के द्वारा कमाया गया धन ही यज्ञ की आहुति बन सकता है। यदि कमाते समय निर्ममता की वृत्ति बनी रहे तो व्यय करते हुए भी मोह तथा ममता की वृत्ति जागृत नहीं होगी। धन चीज़ ही यज्ञ की है। अग्नि-देव ही उसका देनेवाला है और अग्नि-देव ही उसका लेने-वाला। हम तो इन दो क्रियाओं के बीच ही के समय के उसके अमानतदार हैं।

यही अवस्था सन्तान की है। गर्भाधान एक संस्कार है—वेदोक्त यज्ञ है। उसमें वीर्य की शोणित में आहुति दी जाती है। उसका निमित्त है सन्तानोत्पत्ति। वास्तव में सन्तान नाम ही कुल के शुभ संकल्पों की सन्तति का है। विकासवादियों का कहना है कि जो जीवन-रक्षक गुण एक

पीढ़ी में पैदा हो जाएँ वे आनेवाली पीढ़ियों में संक्रान्त होते रहते हैं। गार्हपत्य अग्नि कुल-क्रम से आ रहे व्रतों ही का उपलक्षण है। इस अग्नि को प्रदीप्त रखने के उद्देश्य ही स विवाह किया जाता है। गर्भाधान इसी आग में एक आहुति देना है। सन्तान को अपत्य अथवा नपात इसी लिए कहा गया है कि वह वंश की अवचनीय विमलता को गिरने नहीं देता, बनाए रखता है, नहीं ! उसे और विकसित करता है। उत्तम सन्तान भोग-विलास का नहीं, यज्ञ ही का परिणाम हो सकती है, ऐसी सन्तान फिर भेंट भी यज्ञ ही की होगी। गुरु गोविन्दसिंह का यह दोहा अपने पुत्रों में बलि-भावना का अमर दृष्टान्त है—

धर्म-काज के कारणे, वार दिए सुत चार।
चार मुए तो क्या हुआ, जीते चार हज़ार॥

धन की तरह सन्तान का लेने-देनेवाला भी वही सकल यज्ञों का अग्रणी अग्नि-देव प्रभु ही हैं।

कोई शुभ काम करने लगो, उसमें विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो ही जाती हैं। यज्ञ का रास्ता हमेशा राक्षसों ने रोके रखा है। इन्द्र और वृत्र की लड़ाई सनातन है। संसार में सुरासुर संग्राम चलता ही रहता है। तुम लाख अपने "सुवीर्य का", सौभाग्य का, धन-धान्य का, पुत्र-रत्नों का मालिक अग्नि-देव को बनाए रखो, आत्मोत्सर्ग का, बलिदान का अवसर उपस्थित होने पर कोई हिचकिचाहट, कोई संकोच, कोई बाह्य अथवा आन्तरिक विघ्न-बाधा आ उपस्थित होगी। वृत्र कभी स्वार्थ का रूप धारण कर यजमान के अन्तःकरण को

आवृत कर लेता है, कभी भौतिक विपत्तियों का बाना पहन बाहर का कण्टक बन जाता है। ऐसे समय वेद-रूपी कामधेनु का दूध पिया काम आता है। वेद-पाठी, विपत्ति के आगे घबराता नहीं। एक साथ अपने आन्तरिक शत्रुओं से भी लड़ता है, बाहर के वैरियों से भी। इस दोतर्फ़ी आग से उसकी रक्षा यज्ञाग्नि ही कर सकती है। अपनी यज्ञ की भावना को वह और तीव्र कर लेता है। वह घृत तथा शाकल्य की—आन्तरिक स्नेह तथा बाह्य संपत्ति की—एक साथ आहुति देता है। प्रत्येक आहुति पर "स्वाहा" शब्द का उच्चारण कर कहता है—इदमग्ने इदन्न मम, यह आहुति अग्नि ही के अर्पण है, मुझ यजमान का इस पर कोई स्वत्व नहीं है। आहुति अग्नि ही की देन थी और अग्नि ही की भेंट कर दी। इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है। सफलता की कसौटी है सच्चा व्यवहार सो यजमान को प्राप्त है? यज्ञ वह स्वयंसिद्ध सफलता है जिसे और फल की अपेक्षा ही नहीं है। बे-फल की सफलता क्या सुन्दर सफलता है!

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तभ्यमेव समर्पये।

अग्नि-देव! फल भी तुम्हारा, यज्ञ भी तुम्हारा। मैं कौन हूँ जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करूँ? तुम मेरे इस बे-फल के यज्ञ को उसकी निष्फलता में ही सफल कर दो। अग्नि-देव! मेरा फल तुम हो। सुन्दर फल, सुहावना फल, उज्ज्वल निर्मल फल, जाज्वल्यमान फल।

***

वर-स्वरूप

त्वमग्ने गृहपतिस्त्वꣳ होता नो अध्वरे।
त्वं पोता विश्ववार प्रचेता यक्षि यासि च वार्यम् ॥७॥

ऋषिः—वसिष्ठः=श्रेष्ठ आवरक।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (त्वम्) तुम्हीं (गृहपतिः) हमारे घरों के स्वामी हो (त्वम्) तुम्हीं (नः) हमारे (अध्वरे) जीवन-यज्ञ के (होता) होता हो। (विश्ववार) हे सब विघ्न-बाधाओं को हटानेवाले, सबके वरने योग्य प्रभु! (त्वम्) तुम (पोता) पवित्रता लानेवाले (प्रचेता) तथा प्रबल चेतावनी देनेवाले होकर (यक्षि) स्वयं यज्ञ करो (च) और स्वयं (वार्यं यासि) वर बन जाओ।

हम गृहस्थ हैं। हमने गार्हपत्य अग्नि प्रज्वलित की है। यह अग्नि हमारे कुल-क्रम से आ रहे विमल व्रतों की प्रतिनिधि है। हम वीर पुरखाओं की सन्तान हैं। उनकी वीरता का न टूटनेवाला सिलसिला हैं। गृहस्थ-आश्रम है ही धर्म की सनातन मर्यादाओं की रक्षा तथा वृद्धि के लिए। हे अग्नि-देव! हमारे वास्तविक घरवाले तो तुम्हीं हो। हम साधन हैं, तुम साध्य। हमारे पूर्वज सृष्टि के आरम्भ से यज्ञ करते आए। उसी यज्ञ का परिणाम हम हैं। हम आगे यज्ञ करेंगे और उसका परिणाम हमारी सन्तान होगी। वास्तविक सन्तति वही है जो यज्ञ की सन्तति अर्थात् सिलसिले को क़ायम रखे। गृह-धर्म की रक्षा इस आग को जलाए रखने ही में है। गृह-धर्म एक आग है। इसी में

सभी यज्ञ-याग होते हैं। शेष आश्रम तो गृहस्थ के मुखापेक्षी ही हैं। वे इसी की आहुतियों से जीते हैं। पर गृहस्थ-आश्रम एक दीर्घ यज्ञ हो जाए न। यज्ञ वह है जिसमें "इदमग्नये इदन्न मम" का पाठ चलता जाए। मनुष्य आहुति दे और साथ-साथ कहता जाय कि इस पर मुझ यजमान का का कोई स्वत्व नहीं। वास्तविक घरवाला तो अग्नि-देव ही है। यज्ञ वह स्वयं कर रहा है। हम इसमें निमित्त-मात्र हैं।

सम्पूर्ण जीवन के विषय में हमारी भावना हो। जीवन यज्ञ है। विश्वाग्नि की एक ज्वाला है। हमारे सम्पूर्ण व्रतों का करने-करानेवाला अग्नि-देव ही हमें देव बना कर यज्ञ के लिए बुलाता है और अग्नि-देव ही हमारे व्रतों के याग का संचालन करता है।

हममें व्रतों की स्फूर्ति भी अग्नि-देव ही पैदा करता है और फिर उन व्रतों को सिद्धि का वर भी स्वयं दे देता है। कार्य की प्रेरणा तो अन्य शक्तियों द्वारा भी होती है परन्तु उसमें लोभ का, स्वार्थ का, मोह, काम तथा क्रोध का कुछ न कुछ लेश लगा रहता है। विशुद्ध प्रेरणा यज्ञ-भावना ही के द्वारा होती है। यह प्रेरणा स्वयं पवित्र है और हमारे संपूर्ण अनुष्ठान को पवित्र कर जाती है। जब सिद्धि असिद्धि में, जय पराजय में, अनुष्ठान की शुद्धता ही का ध्यान रहता है तो फिर अपवित्रता का प्रवेश ही कहाँ से हो? जब सिद्धि नहीं, किन्तु साधन की पवित्रता ही साध्य है तो फिर कुकर्म का क्या काम? साधन शुद्ध हो, वही स्वयं सिद्धि है।

यज्ञ का मार्ग कण्टकाकीर्ण है। इसमें भोग-विलास तो

क्या ? आराम ही नहीं, विश्राम ही नहीं। आठों पहर चौकस रहना, और आपद् हो, विपद् हो, उसे संपत्ति ही का मीठा घूँट समझ कर पी लेना है। दिन-रात जलना और जलते-जलते गाते जाना है। अग्नि "विश्व-वार" देव है। यह सब कण्टकों को हटा देता है, भस्म कर उन्हें वर लेता है, स्वयं अपने मार्ग का अंग-सा बना लेता है।

एक बार आग की चाट लगी यजमान को आग का परवाना-सा बना देती है। यजमान आग के सिवा किसी को वरता ही नहीं। आग में रहता है, उसकी लपटें सहता है और उससे आग ही का वर माँगता है। प्रभो! तुम विश्व-वार देव हो—संपूर्ण वरों के एक वर। जब तुम्हें ही पा लिया तो फिर और वरों की कसर ही क्या रही।

अग्निदेव! जब मैंने आपने-आपको तुम्हारी ज्वाला ही बना लिया तो फिर और यज्ञ क्या करूँ? मैं सर्वात्मा तुम्हारे अधीन हूँ। मेरे यज्ञ तुम्हीं करो। और फिर उनका फल? मैं संसार के और फलों से रज-रज कर ऊब गया हूँ। न धन में रस है, न यश में, न ज्ञान में, न ध्यान में। रस है तो तुम्हारी जल रही ज्वालाओं में। रस की आकांक्षा छोड़ देने में रस है। रस तो धर्म ही यज्ञ का है। किसी भी काम में रस की अनुभूति तभी होती है जब उसमें हमारी तत्परता आग की तरह जल उठे! हम यज्ञमय हो जाएँ —अग्निमय।

हे अग्नि-देव! हमारी संपूर्ण कामनाओं के कमनीय वर तुम्हीं हो। तुम्हीं हमारा धन हो, तुम्हीं हमारे जन। तुम्हीं

हमारा नाम हो और तुम्हीं हमारा धाम। तो प्रभो ! हमें अपने-आपको वर-स्वरूप में दे दो। हमने अपनी कामनाओं को याग के रूप में प्रदीप्त कर तुम्हारी ज्वालाओं की जीभ से तुम्हीं को वरा है। हे संपूर्ण वरों के एक वर ! आओ। तुम्हीं हमारे यज्ञ हो और तुम्हीं हमारे वर। तुम्हीं हमारे साध्य हो और तुम्हीं हमारी सिद्धि।

***

तैराक

सखायस्त्वा ववृमहे देवं मर्त्तास ऊतये।
अपां नपातꣳ सुभगꣳ सुदंससꣳ सुप्रतूर्त्तिमनेहसम् ॥८॥

ऋषिः—विश्वामित्रः=सबका मित्र।

(मर्तासः) हम मरते जा रहे (सखायः) तेरे सखा (त्वाम्) तुझ (देवम्) दिव्य विभूति का (ऊतये) जीवन-प्रदान के लिए (ववृमहे) आवाहन करते हैं—(अपां नपातम्) अनवरत कर्म का, (सुभगं सुदंससम्) सौभाग्य संपन्न उत्तम पुरुषार्थ का, (अनेहसम्) निष्पाप (सुप्रतूर्तिम्) सुन्दर तरण-कला का।

अग्नि-देव ! हम मरते-मरते तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं। जब शरीर ठंडा होने लगा है, इरादे पस्त पड़ गये हैं, दिलों में गर्मी नहीं रही, प्रतिकूल वातावरण ने आशाओं पर पानी डाल दिया है, तभी हमने तुम्हें स्मरण किया है। पर फिर स्मरण किया तो है। सखा की परख संपत्ति में नहीं, विपत्ति ही में होती है।

अग्नि-देव ! हम तुम्हारे सखा हैं। हम अल्प हैं तुम महान्। तुम आग हो हम चिनगारी। पर फिर हैं तो सखा ही। दार्शनिक तुम्हें परम आत्मा कहते हैं हमें अल्प आत्मा। फिर भी हुए तो सखा ही। हम पर भीर पड़ी है और भीर में सखा की स्मृति आनी स्वाभाविक है।

सुख में तो तुम्हारी याद आती नहीं। जब दिन-रात ही भोग-विलास की एक लंबी तरंग हो तो उसमें हमें तैरते ही तो जाना हुआ। इस मस्ती में भोग-विलास के सिवा और किसी वस्तु का ध्यान आ ही कैसे सकता है ? फिर तुम भोग-विलास के शत्रु। ठंड में तो आग जला भी लें। गर्मियों की प्रभात-वेला में कोई कुण्ड को गर्म क्यों करे ? हवन तो सर्दियों ही की वस्तु है। तो अग्नि-देव ! हमें आज ठंड लगने लगी है। भोग-विलास ने हमारी गर्मी चूस ली है। आज हमें ज़रा-सी हवा भी कँपा देती है। हम शक्ति-शून्य हैं, अकिंचन हैं। इसी से शक्तिशाली सखा का ध्यान आया है। सुदामा को अपनी फटी दुपट्टी में से मानो आप की झाँकी मिल रही है। जब जीते थे तो हमारा अपना जीवन था, मरने लगे हैं तो तुम्हारे जीवन पर दृष्टि है। अग्नि-देव ! तुम जिलानेवाले हो। क्या हमें जिलाओगे ?

संसार का, रीति-रिवाज का जीवन मृत्यु है। इसमें कर्म नहीं, कर्म का आडम्बर है। बनते-ठनते, झूठ-मूठ की 'जी हज़ूर' कहते, बार-बार बनावटी हँसी हँसते, दिल की बात छिपाते, उलटा-सीधा मुँह बनाते—सार यह कि आकृति को प्रकृति के ठीक विपरीत सज़ाने में सारा-सारा

दिन बीत जाता है। यह जीवन तो मृत्यु का सिंगार-सा है। अग्नि-देव! तुम हमारे सतत कर्म बन जाओ। हम सीधे-सादे सच्चे कर्म करते जाएँ। और इससे न ऊबें। कर्म का केवल ठाठ-बाठ ही नहीं, वास्तविक कर्म करें।

हे यज्ञाग्नि! तुम्हीं हमारा सौभाग्य-सम्पन्न पुरुषार्थ बन जाओ। तुम भिखारी देवता थोड़ी हो। तुम्हारा आशीर्वाद ही लाख वरों का एक वर है। तुम स्वयं सौभाग्य हो—सुहाग की लक्ष्मी हो। तुम्हारा आश्रय सचमुच विजय लक्ष्मी का आश्रय है। सच्ची लक्ष्मी पुरुषार्थ में निवास करती है—निष्काम पुरुषार्थ में। फल की उपेक्षा करनेवाले पुरुषार्थ आकृति से फ़क़ीर है, प्रकृति से राजा। मेरे पुरुषार्थ! तू फ़क़ीर भी हो, राजा भी। एक साथ दोनों मस्तियों का मज़ा ले। तेरी सिद्धि साधन की शुद्धि में हो।

हमारा जीवन उपद्रवमय इसलिए है कि हमारा हृदय-समुद्र अशान्त है। हमें संसार-सागर में तैरना नहीं आया। सागर है तो उसमें तरंगें तो होंगी ही। ज्वार-भाटा आयगा। ऊँची-ऊँची लहरें उठेंगी और तैराक का रास्ता रोकेंगी। तैराक अनाड़ी नहीं, अभ्यस्त हो तो स्वयं लहरों ही को चप्पू बना लेगा। तूफ़ान अपने-आप उसके लिए जहाज़ है। वह तैरता ही तूफ़ान में है। आँधी में आग और अधिक चमक उठती है। हवा के उलटे-सीधे झकोरों में उसकी लपटें पतवारों-सी तैरती हैं। आग अपना विमान आप है। उसे झटका नहीं लगता। यही अवस्था सच्चे यजमान की है। वह कर्म का अभ्यासी है—निश्चित निरपेक्ष कर्म का। विरोधों

की बाढ़ में, विघ्नों की बौछाड़ में वह आग-सा तैरता है। हवा का हरएक झोंका, वर्षा का हरएक रेला उसे ऊँचा-ही-ऊँचा ले जाता है।

हे मेरी जीवन-याग की आग! तू मेरी दिव्य विभूति है। तू मेरी अनवरत कर्म की लगन बन जा। स्वयं-सिद्ध पुरुषार्थ की प्रीति बन जा। शान्त बे-लाग तरण-कौशल बन जा। अमर जीवन यही है, यही है, यही है। कर्म करते जाना, दुःख सहते जाना, शान्त बहते जाना।

गृहाग्नि

आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्।
इडस्पदे नमसा रातहव्यꣳ सपर्यता यजतं पस्त्यानाम् ॥१॥

ऋषिः—श्यावश्वः=प्रवृद्ध इद्रिन्यशक्तिवाला, वामदेवः=कमनीय व्यवहारी।

(आ जुहोत) आहुति दो। (हविषा) आहुति द्वारा (मृर्जयध्वम्) [अपने-आपको] पवित्र करो, अलंकृत करो। (होतारं) यज्ञाग्नि को (गृहपतिम्) गृहपति-रूप में (नि-दधिध्वम्) भली प्रकार स्थापित करो। (पस्त्यानाम्) घरों के —गृहाश्रम के (यजतम्) पूज्य, (रातहव्यम्) आहुति प्राप्त कर, उससे रमण कर रहे [अग्नि-देव को], (नमसा) त्रिविध नमस्कार द्वारा (इडः पदे) अन्न, पशु, प्रजा, पृथिवी तथा संस्कृति के विकास के लिए (सपर्यत) परिचर्या करो।

गृहाश्रम यज्ञ-याग का आश्रम है। इसमें प्रवेश करना ही एक आहुति है। स्वतन्त्रता की, बचपने के साथियों की, स्वच्छन्द खेल-कूद की, अबाधित अध्ययन की—एक शब्द में सारे लड़कपन की, और शास्त्र की भाषा का प्रयोग करना हो तो ब्रह्मचर्याश्रम की आहुति है।

ब्रह्मचर्याश्रम एक पवित्र आश्रम है। उसके आदर्श अत्यन्त निष्पाप हैं, अत्यन्त निर्मल तथा उज्ज्वल हैं। मनुष्य स्नातक होकर—ज्ञान-गङ्गा का स्नान कर—विशेष पवित्रता लाभ करता है। इस पवित्रता की आहुति गृहाग्नि में दी जाती है। किस लिए? और अधिक पवित्र होने के लिए।

ब्रह्मचर्याश्रम में वेष-भूषा की छुट्टी न थी। ब्रह्मचारी का अलंकार तप था, कठोरता थी। उस धूलि-धूसर तपस्वी की एक अनोखी छटा थी। स्नातक होने पर उसे अञ्जन, जूता तथा छाता दिया गया है। फूलों की माला पहिनाई गई है। अब वह अलंकृत है। यह अलंकार गृहाश्रम की तैयारी है। गृहाग्नि की शोभा के क्या कहने ? वह चमकती आग है, भड़कती आग है। ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी मिलकर इस आग की भड़क को दुगना-चौगुना कर देते हैं। एक तो दोनों की चढ़ती जवानी, फिर पालन किए ब्रह्मचर्य-व्रत का तेज। सोने में सुगन्ध है। विद्यार्थी-दशा की कठोरता अब तिरोहित है, पर्दानशीन-सी बन गई है, विलुप्त नहीं हुई, मिटी नहीं। सामाजिक जीवन की इस वेष-भूषा में भी आन्तरिक तप का तेज चमक रहा है। गृहाश्रम विलास का आश्रम नहीं। इसकी तपस्या कठोर होती हुई भी देखनेवाले कोमृदु प्रतीत होती है। इन निंदासी आँखों में कई-कई रातों के जागरण हैं। आज स्त्री बीमार है, कल बालक। घर-वाला दोनों के स्वास्थ्य का पहरा देता है। विद्यार्थी पर अपनी ही रक्षा का बोझ था। गृहस्थ पर पूर्ण सृष्टि का बोझ है। इतने शरीर, मस्तिष्क, हृदय तथा मन—इन सबके विकास का उत्तरदायित्व अब इस अकेली जान पर है। गृहस्थ कमाता है—केवल अपने लिए नहीं, चारों आश्रमों के लिए। गृहस्थ की शोभा इसी में है कि वह इन बोझों के नीचे दबे नहीं। इस भार का आनन्द ले। यही भार ही तो उसका अछूता अलंकार है।

गृहस्थ तो यज्ञ-याग का धाम ही है। गार्हपत्य अग्नि अन्य सब अग्नियों की जन्म-दात्री, जननी है। इसके आरम्भ ही में पत्नी के लिए पति की और पति के लिए पत्नी की आहुति हो ली। फिर आगे को नित्य कृत्य हैं—पंच महायज्ञ। रोज़ पाँच प्रकार की आग प्रदीप्त करो। सन्ध्या, हवन, पितृ-कर्म, अतिथि-पूजा, बलिवैश्वदेव—संसार की कौन-सी सत्ता है जो गृहस्थ की पूजा की पात्र नहीं। फिर ऋतुओं के, पर्वों के अलग-अलग यज्ञ हैं। सन्तान होनें पर यज्ञ-याग का यह चक्र अधिक जटिल हो जाता है। प्रत्येक बालक से सम्बद्ध यज्ञ-याग का एक और चक्र-सा स्थापित हो गया है जो गृहाग्नि की परिचर्या का अंग बन रहा है। सच तो यह है कि गृहस्थ की यज्ञाग्नि अपने-आप बच्च देने लगती है। वह अकेली नहीं रहती, यज्ञों के एक परिवार को जन्म देती है। पारिवारिक जीवन का यह यज्ञ-परिवार मनन करने की वस्तु है। गृहस्थ तो उसका मनन ही नहीं, निदिध्यासन कर रहा है। गृहस्थ-आश्रम की सिद्धि स्वार्थ से नहीं, पूर्ण यज्ञार्थ जीवन ही से होती है। घर-गिरस्थी का वास्तविक रक्षक यज्ञ है। जो "होता" नहीं अर्थात् जिसका देना ही लेना नहीं बन गया, जो दान में अदन का—भोग का आनन्द नहीं लेता, वह गृह-पति नहीं बन सकता।

गृहस्थ ही प्रजा की उत्पत्ति का, पशुओं के पालन का, अन्न अर्थात् धन-धान्य की वृद्धि का, कृषि का, व्यवसाय का, कला-कौशल का, राष्ट्र की रक्षा का, संस्कृति के सर्वा-

गौण विकास का आश्रम है। इनमें से प्रत्येक कर्म एक यज्ञ है—पवित्र तथा अलंकृत यज्ञ। इस यज्ञाग्नि में जीवन की आहुति पड़ती जा रही है, पड़ती जा रही है। पिता पुत्र में अपने-आपको स्वाहा कर रहा है। माता अपनी हड्डी-हड्डी सन्तान के अस्थि-निर्माण के याग में अर्पण कर रही है। पशुपति ने अपना सर्वस्व पशुओं की भेंट किया है तब बलि-वैश्वदेव हो पाया है। कृषक बीजों के बहाने अपने दिन के आराम को, रात की नींद को—सम्पूर्ण सुख-सामग्री को पृथिवी के तल पर छिड़क रहा है। प्रत्येक व्यवसाय, जिसने कला का रूप धारण किया है, जीवों की आहुतियों द्वारा ही पनपा है। विज्ञान-प्रिय वैद्य ने घातक रोगों का परीक्षण अपने शरीर पर कर लिया है। कलाकार ने अपना ध्यान छोड़ा है, तब कहीं उसकी कला की समाधि लगी है।

इस विश्व-व्यापी यज्ञ की सफलता गृहस्थ-रूपी दधीची की हड्डियों ही से हुई है। उन्हीं से वह वज्र तैयार हुआ है जिसने इस यज्ञ को राक्षसों से सुरक्षित किया है। अन्न-वज्र, शासन-वज्र, विनय-वज्र—तीनों सुसंस्कृत वर्णों का नमो-नैवेद्य—ही इस यज्ञ की जान है, हवि है। उसी से इस याग की आग "ज्ञान-हव्य" होती है।

आओ! गृहस्थ बन्धुओ। इस आग को रोशन करें। अपने शरीर की, मन की, आत्मा की आहुतियों से इसे प्रदीप्त करें। संसार का आधार हमारी गृहाग्नि ही है। आओ! इसे सजाएँ, चमकाएँ। हम वह तपस्या करें जो और तो और, हमारी अपनी दृष्टि में ही सुख-चैन हो।

हमारा योग भोग का चोला पहिन, और तो और, हमें स्वयं धोखे में रखे कि हम योगी नहीं। करें उपकार, कहलाएँ स्वार्थी। भोग के स्वाँग में योग करें। विलास के वेष में वैराग्य का अभ्यास करें।

***

बालक

चित्र इच्छिशोस्तरुणस्य वक्षथो न यो मातरावन्वेति धातवे।
अनूधा यदजीजनदधा चिदा ववक्षत्सद्यो महि दूत्यं चरन् ॥२॥

ऋषिः—उपस्तुतः=समीप से प्रशंसित।

(तरुणस्य) लचकीले (शिशोः) बच्चे की (वक्षथः) हवि ग्रहण करने की शक्ति (चित्रः) विचित्र (इत्) ही है (यः) जो (धातवे) स्तन-पान करने के लिये (मातरौ) मात-पिता का (न अन्वेति) अनुकरण नहीं करता। (यत्) यदि (अनूधा) बिना स्तन की माता (अजीजनत्) उसे जन्म देती (अध चित्) तब तो वह (सद्यः) उसी समय (चरन्) चलते-फिरते (महि) महान् (दूत्यम्) दूत-कर्म का (आववक्षत्) अनुष्ठान करता— महान् जीवनाग्नि का सन्देश देता।

गृहाग्नि का सबसे अद्भुत चमत्कार बालक की उत्पत्ति है। माता-पिता के संयोग से एक नया प्राणी इस सजीव संसार में जन्म लेता है। माता के गर्भ में पुत्र-रत्न का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष और स्त्री मिलकर सृष्टि-यज्ञ करते हैं और उसका फल होता है एक नन्हा-सा शिशु। शिशु माता-पिता के अनुरूप है। इसके शरीर की रचना वैसी ही है जैसी इसके जन्म देनेवाले जनक और जननी की। यह उन्हीं

की "जाति" का है। माता की कोख में वीर्य-रज का मेल हुआ और उससे एक सजीव शरीर का निर्माण हो गया। सजीव तो वीर्य भी था, रज भी, परन्तु उनमें अन्न ग्रहण करने की शक्ति न थी। वे अकेले-अकेले बढ़ नहीं सकते थे। अकेले-अकेले का विकास होना असंभव था। परन्तु इस मेल ने—गृहाश्रम के सृष्टि-याग ने—एक अत्ता को जन्म दिया है। गर्भस्थ बालक में गर्भाधान के समय से ही पाले-पोसे जाने की शक्ति है। वह माता के शरीर से आहार पाता है और प्रतिक्षण वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। गर्भ-गुफा की नौ मास की समाधि के पश्चात् यह योगी कर्म के संसार में आता है। अब जीवनाग्नि अपना प्रकाश बाहर के जगत् में करेगी।

जात-कर्म भी तो एक यज्ञ है। इस यज्ञ के होते ही बालाग्नि में स्तन-पान की आहुति पड़ती है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं—मनुष्य की प्रत्येक क्रिया अनुकरण का फल है। बालक का प्रथम स्तन-पान इसका मूर्त खण्डन है। ज्यों ही बच्चे के मुख को माँ के स्तन के पास ले जाते हैं, स्तन से उसे चिपका-सा देते हैं, वह उसे चूसने लगता है। इस चूसने की शिक्षा उसे किसने दी है? भूख की आग ने। उसे यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ कि भूख की आग स्तन-पान द्वारा शान्त होगी? प्रथम स्तन-पान एक चमत्कार है जिसका समाधान अनुकरण-वादी के पास है ही नहीं। न्याय-दर्शनकार इसका श्रेय पूर्व जन्म के संस्कारों को देते हैं। कुछ हो, जीवनाग्नि की यह लपक एक अचंभा है। इसी से मानव-जीवन का आरम्भ होता है।

और जहाँ स्तन-पान की आवश्यकता ही नहीं, जैसे पक्षियों में ? माता-पिता का काम और भी हलका हो जाता है। माता अंडे को से छोड़ती है, फिर उसे अधिक समय तक उसकी शिक्षा-दीक्षा का भार उठाना नहीं पड़ता। शिशु बहुत शीघ्र होशियार हो जाता है। जहाँ वह चलने-फिरने लगा, उसे जीवन-निर्वाह की विधि ज्ञात होते देर नहीं लगती। कुछ पूर्व संस्कारों से, कुछ नये अनुकरण से वह झटपट जीवन-होड़ में सम्मिलित हो जाता है। जीवनाग्नि का महान् संदेश जीवन-यज्ञ ही है जो संपूर्ण सजीव संसार को अपनी अलौकिक गुँजारों से व्याप्त कर रहा है।

अन्न-ग्रहण की शक्ति जीवाग्नि की वह विभूति है जिस पर वैज्ञानिक भी चुप हैं, दार्शनिक भी। अन्न अत्ता के शरीर का अंग बन रहा है। बल का रूप धारण कर अन्न स्वयं मानो अत्ता हो रहा है। एक निर्जीव पिण्ड सजीव शरीर का ग्रास बन स्वयं सजीव हो गया है। जीवाग्नि का यह आश्चर्य-जनक सन्देश माता की कोख से आरम्भ होकर अन्त्येष्टि से पूर्व तक चलता है। इस बीच में इस अग्नि के अनेक यज्ञ-याग हो जाते हैं। स्वयं गति एक यज्ञ है। पशु-जगत् का यह अचम्भा है। स्तन-पान करनेवाले स्तन-पान कर, शेष प्राणी इसके विना ही, जन्म लेने के मानो साथ-ही-साथ चलने लग पड़ते हैं। कुछेक दार्शनिकों का कहना है कि अमैथुनी सृष्टि में मनुष्य ने भी ऐसा ही किया था। अग्नि आदि ऋषि जन्म लेते ही वेद का महान् सन्देश देने लग पड़े थे। आदि-सृष्टि का चमत्कार गृहाग्नि द्वारा घर-

घर में दोहराया जा रहा है। शास्त्र प्रत्येक नव-जात बालक के कान में "वेदोऽसि" कहता है। नव-जात बालक सचमुच प्रभु का प्यारा सन्देश है। स्रष्टा की सृष्टि का अद्भुत संगीत है। माता के लिए किसी अपूर्व लोक की आश्चर्य-जनक झाँकी है। यज्ञाग्नि का अलौकिक आविर्भाव है। देव-दूत का महान् दूत-कर्म है।

***

तीसरी ज्योति

इदं त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा संविशस्व।
संवेशनस्तन्वे चारुरेधि प्रियो देवानां परमे जनित्रे ॥३॥

ऋषिः—बृहदुक्थः=बड़ी प्रशंसावाला।

हे बालक! (इदम्) यह दृश्यमान (ते) तेरी (एकम्) एक [ज्योति] है! (ऊ) और (परः) इससे परे, परोक्ष (ते) तेरी (एकम्) एक और [आध्यात्मिक] ज्योति है। यह दोनों ज्योतियाँ तेरी अपनी हैं। तू (तृतीयेन) तीसरी (ज्योतिा) ज्योति में (सं विशस्व) समाविष्ट हो। (परमे) उत्तम (जनित्रे) योनि में (देवानाम्) देवताओं का (प्रियः) प्यारा तथा (तन्वे) अपने लिए (चारुः) कल्याण-कारक होकर (संवेशनः) समावेश-धर्म का पालन कर्ता (एधि) हो।

बालक ज्योति का पुतला है। उसका जन्म एक ज्योतिर्लोक में हुआ है। प्रथम तो यह संसार ही भौतिक ज्योतियों का आगार है। सूर्य, ग्रह, उपग्रह—सार यह कि सम्पूर्ण सौर-संस्थान ज्योतियों ही की क्रीडास्थली-सी है। फिर पानी में, हवा में, आग में, विद्युत् के प्रत्येक रूप में प्रकाश-ही-प्रकाश है।

किस अमित ज्योति के अमित खण्ड
बग गए ग्रहोपग्रह प्रचण्ड ?
धर फुल-झड़ियों में तुला-दण्ड
दिग्बालाएँ करतीं विहार ।

सब ओर से जगमगा रहे इस ज्योतिर्लोक की सम्पूर्ण दीप्तियाँ जीवात्मा के अर्पण हैं। प्रभु ने इनकी रचना ही इसी लिए की है कि इनके द्वारा आत्मा की जीवन-यात्रा सुगम हो। उसके अन्तरात्मा में इन चमचमा रहे लोक-लोकान्तरों का आलोक हो।

इस प्रत्यक्ष ज्योति से उत्कृष्ट एक और परोक्ष ज्योति है जो इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों में उसी का प्रकाश है। वह आध्यात्मिक ज्योति है—चेतना की ज्योति। बाहर की सभी ज्योतियों का ज्ञान हमें इस अकेली आन्तरिक ज्योति के द्वारा ही होता है। दृष्टि न हो तो संसार में लाख रूपों की सृष्टि हुआ करे। श्रवण की शक्ति न हो तो ब्रह्माण्ड में लाख सुरीले संगीत हुआ करें। सूँघने का सामर्थ्य न हो तो विश्व-वाटिका में लाख सुरभित सुगंधियाँ हुआ करें। त्वचा तथा रसना के अभाव में स्पर्श और स्वाद वस्तु ही क्या हैं ? एक ओर ज्ञेय ज्योति है, दूसरी ओर ज्ञान की साधन इन्द्रियों तथा अन्तःकरण की चेतना। एक ज्योति का दूसरी ज्योति से बड़ा सुन्दर मेल हो रहा है। आँख देखती है, सूर्य देखा भी जा रहा है और देखने का साधन भी बन रहा है। ज्योतियों का यह परस्पर समावेश एक अद्भुत चमत्कार है।

चिति की किरणों के झूले में,
करती झिलमिल तन की धूल ॥

आन्तरिक ज्योति एक विचित्र ज्योति है। मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आत्मा के आन्तरिक करण हैं। इनके द्वारा संकल्प-विकल्प, निश्चय, उपलब्ध अनुभूतियों का संचय तथा अहं-ज्ञान अपने-आप प्राप्त हो रहे हैं। अन्तःकरण की इन वृत्तियों का व्यापार अत्यन्त आश्चर्य-जनक है। एक जादू मनुष्य के अन्दर हो रहा है, एक बाहर ; ये दोनों ज्योतियाँ मनुष्य के अपने अधिकार में हैं। वह जैसा चाहे इनका उपभोग करे। सूर्य, चाँद, तारे, बिजली, आग, हवा—ये सभी इसके दास-दासियाँ हैं। फिर अन्दर का वृत्ति-व्यापार तो इसका अपना आन्तरिक परिवार ही है।

इन ज्योतियों से ऊपर क्या कोई और तीसरी ज्योति भी है ? ऋषियों का कहना है कि हाँ ! मानव-योनि उत्तम योनि है। भौतिक तथा मानसिक ज्योति से तो पशु-पक्षी भी लाभ उठा रहे हैं। किसी मानव-माता की कोख से जन्म लेने का लक्ष्य तो इन दो ज्योतियों से उत्कृष्ट परमात्म-ज्योति का दर्शन करना है। ज्ञेय और ज्ञाता का सम्बन्ध करानेवाली वह ज्ञापक ज्योति है। प्रत्येक आत्मा की अपनी पृथक् सत्ता है। इसका कारण क्या कि जो मुझे नारंगी प्रतीत होती है, मेरे भाई को भी। हमारी सम्मतियाँ, अनुभूतियाँ, भावनाएँ सब अलग-अलग रहा करें। परन्तु सत्य-ज्ञान का हमारा सबका लक्ष्य एक ही है। ज्ञान के एक आदर्श की ओर सभी जिज्ञासु धीरे-धीरे प्रगति कर रहे हैं। क्या यह आदर्श

हमारी आशाओं का ही विषय रहता है या कोई ज्ञान-संपन्न ऐसी आत्मा भी है जिसे सब ज्ञेय ज्ञात हैं। संसार में रोग भी हैं, उनकी ओषधियाँ भी। विज्ञान-प्रिय वैद्य नित नई ओषधियों का पता लगा रहे हैं। उन्हें ज्ञात होने से पूर्व भी क्या इन रोगों और ओषधियों के संबद्ध का किसी को ज्ञान है ? या रोगों की सत्ता भी आकस्मिक है, ओषधियों की भी। आकस्मिक संयोगों को न माननेवाले विचारक रोग और ओषधि को पूर्व से ही संबन्ध मानते हैं। उनकी सम्मति में दोष मानव-ज्ञाताओं के ज्ञान का था। सत्ता दोनों की थी और इस सत्ता का आधार विश्व-रचयिता का ज्ञान था। ज्ञान-ज्योति चमक रही थी। उसकी एक झाँकी विज्ञान-प्रिय वैद्य ने ले ली। उससे एक विशेष प्रकार के योगियों का हमेशा के लिए कल्याण हो गया।

ओषधि जिस विश्वाग्नि की ज्वाला है, उसी की आहुति रोग को होना है। परमात्मा एक ओर दण्ड-पाणि है, दूसरी ओर पीयूष-पाणि। मनुष्य का कल्याण इसी में है कि उस कल्याण-स्वरूप का पल्ला पकड़ अपना तथा समूची जीव-जाति का मंगल करे। उस ज्योति में अपनी दोनों ज्योतियों को समाविष्ट कर दे। उसके साथ एकीभूत हो जाय। उसकी जिज्ञासा की तृप्ति इसी से होगी कि वह सर्वज्ञ के ज्ञान का एक कण प्राप्त करे। धूलि का जो अणु सूर्य की किरण में समाविष्ट हो गया, वह चमचमा उठा। फिर मनुष्य तो अपने दोनों हाथों में दीपक लिए खड़ा है। एक ओर भौतिक ज्योति है, दूसरी ओर मानसिक। इन दोनों

ज्योतियों की सफलता इसी में है कि दोनों हाथ जोड़ कर समित्पाणि हो परमात्म-ज्योति के अर्पण हो जाएँ।

परमात्म-ज्योति ही सब ज्योतियों की एक ज्योति है। शेष सब ज्योतियाँ उस ज्योति की छाया-मात्र हैं, छाया चमकेगी तभी, जब वह प्रकाश में समाविष्ट हो जायगी—स्वयं उसका अंग बन जायगी।

ग्रह-उपग्रह देव हैं, सूर्य देव है, बिजली देव है, इन्द्रियाँ देव हैं, अन्तःकरण देवों का घर है। आत्मा इन देवों का देव है। जब यह देवाधिदेव परमदेव परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है, तब सभी देव इसे विशेष प्रीति दिखाने लगते हैं। यह विश्व का यात्री नहीं, मालिक, घर-वाला बन जाता है। अन्य सभी देव इस पर वारे-न्यारे जाने लगते हैं। प्रभु का पुत्र प्रभु की सृष्टि का उपभोग करता है, किस अधिकार से, किस सर्व प्रियता से, किस लाड़-चाव से। सृष्टि समूची इसकी ओर उमड़ रही है, उमड़ रही है। संसार-भर की ज्योतियों में होड़ लगी है—मैं पहिले, मैं पहिले। विश्व की विभूतियाँ विश्वात्मा के अर्पण हो रही हैं। जिसने इस समावेश-धर्म का पालन किया, जो विश्वाग्नि में समाविष्ट हो स्वयं विश्व में समाविष्ट हो गया, वह आत्मा विश्वात्मा है। वह परमात्मा पर वारे-न्यारे, परमात्मा की सृष्टि उस पर वारे-न्यारे।

***

सखा

इमऺं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव संमहेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य सऺंसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

ऋषिः—कुत्सः=द्रष्टा।

(इमम्) अपने इस (स्तोमम्) स्तोत्र की, (मनीषया) हम मन की प्रेरणा से (सं-महेम) ऐसी तन्मयता से पूजा करते हैं (रथमिव) जैसे [महारथी] रथ की। इस स्तोत्र में (अर्हते) सब स्तुतियों के योग्य (जातवेदसे) सृष्टि-तत्व के वेत्ता, जीवन-धन के मूल [अग्नि-देव] की स्तुति की जाती रही है। (नः) हमारी (प्रमतिः) उत्तम मति (अस्य) इसकी (संसदि) संगति में (भद्रा हि) संसार का कल्याण करने-वाली ही हो। (अग्ने) हे अग्नि-देव! (तव) आपके (सख्ये) सखा होकर (वयम्) हम (मा रिषाम) नाशान्मुख न हों।

आज हमें प्रभु की वाणी का दर्शन हो रहा है। हमारे हृदय से मन्त्र प्रवाहित हो रहे हैं। स्तोत्रों की सृष्टि-सी हो रही है। इन स्तोत्रों पर तन वारे-न्यारे जा रहा है। आज अग्नि-देव तो अग्नि-देव, हमें उनकी स्तुति से भी प्यार हो रहा है। वह राग मधुर प्रतीत होता है जिसमें अग्नि के गुणों का गान हो, वह लय मीठी लगती है जो अग्नि की ज्वाला-सी हृदय-कुण्ड के किसी कोण से जागृत हो। आज हमारे रोम-रोम में आग है—बोल-रही आग, गा-रही आग, मीठी, प्यारी, तन-मन का नैवेद्य ले लेनेवाली आग।

जैसे लँगड़े को रथ मिल जाए तो वह मरा हुआ मानो

फिर जी उठता है, इस स्तोत्र ने हमारी यही अवस्था कर दी है। हमारी गति रुक चुकी थी। आचार, विचार दोनों का आगे चलना बंद था। संसार निराशा का स्थान था। इसके रीति-रिवाज हमारी उन्नति का नहीं, उलटा अवनति का कारण बन रहे थे। समाज की मनोवृत्तियों ने हमारे उत्थान का नहीं, पतन का पूरा सामान कर दिया था। ऐसे समय में हमारे मस्तिष्क से, मन से, हृदय से एक स्तोत्र उठा। वह अग्नि का स्तोत्र था। उससे हमारे अंग-अंग में एक आग-सी दौड़ गई। ठंडी छाती गर्म हो उठी। हम मरते जा रहे थे। अब फिर से जीने लगे हैं। हम इस संजीवन स्तोत्र की महिमा क्यों न गाएँ? इस पर अपने जीवन का नैवेद्य क्यों न चढ़ाएँ? हमारा इस समय का जीवन इसी स्तोत्र की देन है। यह रथ है, हम सवार। कल तक लँगड़ा-लँगड़ा कर चलने की भी हिम्मत न थी, आज हम रथी हैं—महारथी।

जिस अग्नि-देव की स्तुति की यह करामात है, वह है ही "जातवेदा:" अर्थात् जीवन-धन का धनी। उसकी विभूति है ही यही कि सोतों को जगा दे, रुकतों को चला दे, मरतों को नया जीवन, मरों को नया जन्म दे दे। उसके पास संपत्ति है तो नया जन्म देने की, कला है तो पुनः उज्जीवित करने की। यही उसका वेदस् अर्थात् धन है, विद्या है, कौशल है। सृष्टि-तत्व का संपूर्ण वेत्ता है ही अग्नि-देव।

इस अग्नि-देव के सत्संग से हमारी बुद्धि सुसंस्कृत हो गई है। उसमें एक विशेष जिला गई आ गई है। हमारी

मति-गति में एक ज्वाला है, आलोक है। यह आलोक स्पष्ट अग्नि-देव ही का है। हमारे इस मानसिक प्रकर्ष की विशेषता यह है कि इसका उद्देश्य संसार का कल्याण करना है। हमारी प्रज्ञा प्रकर्ष को प्राप्त होकर भद्र हो रही है। हमारा मानसिक कौशल वाक्-छल अथवा विचार-छल का रूप धारण नहीं कर रहा। इसका सम्बन्ध साक्षात् अग्नि-देव से है। यज्ञ के मण्डप में बैठा यजमान यज्ञ ही की बातें सोचता है। बुद्धि पैनी होकर तलवार की नहीं, उस सूई की सृष्टि करती है, जो फटे चीथड़ों को सी दे। यजमान का हृदय "जातवेद" अग्नि जलाता है अर्थात् जीवन-दान की आग—"प्रजा, पशु, ब्रह्म-तेज, खाने योग्य अन्न" उत्पन्न करनेवाली आग। वह आग जो इन्हीं विभूतियों से चमकती है—स्वयं प्रदीप्त होकर यजमान को भी प्रदीप्त कर देती है।

हे अग्नि-देव! हम तुम्हारे पुजारी हैं, तुम्हारे स्तोत्रों तक के पुजारी हैं—तुम्हारे गीतों के भी गीत गानेवाले। जब तुम्हारे मण्डप में आ गए, यज्ञ-"संसद्" के सभासद् बन गए तो फिर तुम्हारे सिवाय अब हमारा और सखा ही कौन है? हमने आग ही को अपना सखा बनाया है। हे अग्नि-देव! तुम "जातवेद" आग हो अर्थात् जीवन-धन की ज्वाला। तो प्रभु! हमें भी जीवन दो। हम मरें नहीं, जियें। तुम्हारी कृपा से, दया से, करुणा से जियें। "जात-वेद" अग्नि का उपासक भला मर सकता ही कैसे है? यह आग तो उसे फिर-फिर उज्जीवित करती जायगी। फिर वह स्वयं जब इस आग का सखा बन गया तो इस

सखित्व से उसमें आग के गुणों का कुछ प्रतिबिम्ब तो पड़ेगा ही। जातवेद का स्तोत्र उसे जातवेद बना देगा ? अग्नि-देव के संजीवन से तो वह स्वयं जीवित हो उठा। पर अब वह अग्नि का सखा भी तो है। सखा वे हैं जिनकी ख्याति समान हो। यदि जातवेद अग्नि ने हमें भी जातवेद बना नहीं दिया तो हमारा उसका सखित्व ही क्या हुआ ? अग्नि-देव का उपासक न हिंसित होगा न हिंसा करेगा। "जातवेद" की आराधना से जहाँ हमें स्वयं जीवन-ज्योति प्राप्त हुई है, वहाँ इस आग की ज्वाला बन, हम दूसरों को भी जीवन-ज्योति ही प्रदान कर रहे हैं। हम नाशोन्मुख नहीं, जीवनोन्मुख हैं। न मरते हैं न मारते हैं। आध्यात्मिक संसार में मरना मारना पर्याय हैं।

तो अग्नि-देव ! हमें अपना सखा बनाओ। अपनी कुछ-कुछ ख्याति हमें बाँट दो। हमारे लिए तो इस आग की एक चिनगारी ही पर्याप्त है—जलाने और जलानेवाली, जीने और जिलानेवाली चिनगारी। चिनगारी स्वयं प्रदीप्त हो सही। फिर वह आशाओं को प्रदीप्त कैसे न करे ? प्रभो ! हमें प्रदीप्त चिनगारी बनाओ—जल रही और जला रही, जी रही और जिला रही चिनगारी। यज्ञाग्नि की चिनगारी —आग की "संसद्" में—वेदी पर पड़ी चिनगारी।

***

प्याली

मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आजातमग्निम् ।
कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्नः पात्रं जनयन्त देवाः ॥५॥

ऋषिः—भारद्वाजः=ज्ञान-अन्न द्वारा पालक-पोषक ।

(देवाः) देवताओं ने (ऋते) यज्ञ में (जातम्) प्रकट हुए (वैश्वानरम्) सर्वजनीन (अग्निम्) अग्नि-देव को (दिवः) द्युलोक का (मूर्धानम्) मस्तक (पृथिव्याः) पृथिवी की (अरतिम्) गति (जनानाम्) जनता का (अतिथिम्) अतिथि तथा (कविम्) क्रान्तदर्शी (सम्राजम्) सम्राट् (नः) और हमारे (आसन्) मुँह से लगा (पात्रम् आ) पात्र-सा (जनयन्त) बना दिया ।

हमारे पैर पृथिवी पर हैं और मस्तक द्युलोक में । हम रहते इसी भौतिक संसार में हैं परन्तु सोचते अध्यात्म-जगत् ही की हैं । सोचना व्यापार ही आध्यात्मिक है । फिर उसे अध्यात्म ही के अर्पण क्यों न करें । हमारी रुचि-अरुचि, हमारे निश्चयों-निर्णयों, हमारी संपूर्ण भावनाओं तथा अनुभूतियों का मान-दण्ड आध्यात्मिक है ।

हमारा जीवन एक यज्ञ है—सार्वजनिक यज्ञ । हम अपनी किसी क्रिया में दिखावा नहीं कर रहे । पृथिवी पर हमारा निवास विशुद्ध सत्य की खोज है । हमने जिस बात को ठीक समझा, उसके अनुकूल अपने-आपको ढाल लिया । पीछे ज्ञान हुआ कि हमारा विचार अशुद्ध था । हमने उसे

जाँचा, परखा। जब निश्चय हो गया कि परिवर्त्तन आवश्यक है तो लोक-लाज की पर्वाह न कर हमने अपने व्यवहार को आमूल-चूल पलट दिया। सत्यता की इस वे-लाग लगन ने हमें उन तत्वों के निकट पहुँचा दिया जिनके आश्रय से ब्रह्माण्ड क़ायम है। उस तत्त्व को एक शब्द में कहना हो तो वह यज्ञ है, ऋत है। इस तत्त्व का ज्ञान विशुद्ध सत्य के आचरण से ही हो सकता है। इस विशुद्ध सत्य के यज्ञिय आचरण से एक आग पैदा होती है जो संपूर्ण मानव-जाति का हित करनेवाली है। स्वार्थ सत्य का बाधक है। सत्य का व्यवहार तभी हो सकता है जब मनुष्य यज्ञ के अर्पित हो। उसका जीवन सार्वजनिक हो। वह विश्व की विभूति हो। ऐसा व्यक्ति यज्ञ की आग है जो जलती तो पृथिवी ही पर है परन्तु उसकी ज्वाला का रुख द्युलोक ही तरफ़ रहता है, उसका शरीर इसी संसार के ही धंधों में लगा रहता है परन्तु मन सदा तारों की सैर करता है। ऐसा मनुष्य रंक भी हो तो उसे राजाओं की पर्वाह नहीं होती। वह कवि है, सम्राट् है। कवि है, इसी लिए राजाओं का राजा है। पृथिवी की गति उसी के कारण है। यज्ञ-भावना का प्रवर्त्तक होने से वह हमेशा मानव-संसार का नेतृत्व करता है। उसे नेता माना जाय न माना जाय, उसका एक-एक भाव, एक-एक कर्म, एक-एक चेष्टा संसार को सत्य का प्रदर्शन कर रही है। द्युलोक का वह शिरोमणि है। अध्यात्म में तो पूजा ही यज्ञाग्नि की है। यजमान के यज्ञ ने पृथिवी को द्युलोक से—भौतिक जगत् को अध्यात्म से—मिला दिया है।

परोपकार के लिए अर्पित हुआ, यज्ञ-भावना का कोई पुतला जनता के दरवाज़ों पर फेरी लगाता है। सार्वजनिक अतिथि बन कर घर-घर के आगे अलख जगाता है। क्या वह भिखारी है? हाँ! प्रेम का, स्नेह का, व्यक्तियों तथा जातियों के पारस्परिक अनुराग का भिखारी है। ऐसे भिखारी की भिक्षा-याचना एक काव्य है। मूर्त विरोधाभास है जो अलंकार की जान है। जनता के दिलों के सम्राट् यही प्रेम की भीख माँगनेवाले कवि ही होते हैं। अन्य कोई मनुष्य उन्हें सम्राट् माने, न माने, उनका दिल तो सम्राट् होता ही है। उन्हें न रंक की पर्वाह, न राजा की। वे अपने यज्ञ की मस्ती के मतवाले हैं। उनका राज्य द्युलोक पर है।

उनके पास और शक्ति हो न हो, यज्ञ-भावना की आग तो है ही। यह एक प्याली-सी है जो हमेशा उनके मुँह से लगी रहती है। वे दिन-रात इसका स्वाद लेते हैं। सांसारिक असफलताओं से उपेक्षा कर सकने का साधन भी तो यह अध्यात्म की प्याली ही है। पैर में काँटा लग रहा है, परन्तु उनका ध्यान तारा-मण्डल में है। काँटा निकालने की फ़ुर्सत ही नहीं। मन का झुकाव ही इधर नहीं होता, विचार ही नहीं जाता। किसी ने गाली दे दी तो क्या? झिड़क दिया तो क्या? आपत्ति आई तो क्या? उनकी दृष्टि द्युलोक पर है। उनका साथी नक्षत्र-जगत् है। कवि-सम्राट् का डेरा आकाश-गंगा के चमकते हुए किनारे पर है। भौतिक संसार उसे शरण न दे, उसने अपने कवित्व की

वस्ती इन भौतिक संयोगों से परे बसा ली है। वह अपनी अध्यात्म की कुटी में मस्त है।

यह मस्ती देवताओं की देन है। हवा के झोकों ने, पानी की लहरों ने, तारों की झाँकियों ने इसकी दिव्य भावनाओं के साथ मिल कर एक प्याली तैयार की है जो सदा उसके ओठों से चिपकी रहती है। वह उसे चूमता है, चाटता है, मज़े ले-लेकर उसका दान करता है। दाताओं को उनकी देन के लिए दुआ देता है। उसके समूचे काव्य ये दुआएँ—अमर आशीर्वाद हैं।

***

इन्द्र की हुंकार

वि त्वदापो न पर्वतस्य पृष्ठादुक्थेभिरग्ने जनयन्त देवाः ।
तं त्वा गिरः सुष्टुतयो वाजयन्त्याजिं न गिर्ववाहो जिग्युरश्वाः ॥

ऋषिः—भारद्वाजः=ज्ञान-द्वारा पुष्ट ।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (त्वत्) आपसे (देवाः) देव-जनों ने (उक्थेभिः) स्तोत्रों द्वारा (वि जनयन्त) तरह-तरह की विभूतियाँ इस प्रकार प्राप्त की हैं (न) जैसे (पर्वतस्य) मेघ की (पृष्ठात्) पीठ पर से [बिजली की कड़क] (आपः) पानी प्राप्त करती है। (गिर्ववाहः) हे उद्गारों की प्रेरणा करनेवाले! हे स्तुतियों को स्वीकार करनेवाले। (तम्) इन गुणों से सम्पन्न (त्वा) आपको (सु-स्तुतयः) [हमारे] मंगल-स्तोत्र रूपी (गिरः) उद्गार (वाजयन्ति) अन्न, बल तथा ज्ञान का रूप देकर इस प्रकार जीत लेते हैं (न) जैसे (अश्वाः) सैनिकों के घोड़े (आजिम्) युद्ध को (जिग्युः) जीतते रहे हैं।

बादलों ने अपनी पीठ पर जलों के कोष लाद रखे थे। पानी देवताओं का धन था। इसी से यजमानों की कृषि होनी थी। कृषि होने पर यज्ञ-याग होने थे। यज्ञ-याग की आहुतियों से ही देवताओं को भोजन मिलता। बादल-रूप वृत्र बीच में आ गए। इन्होंने देवताओं का जल-धन उड़ा लिया। उसे अपनी पर पीठ लाद चले। देवताओं ने मरुतों की सेना बुलाई। इन्द्र की कमान में मरुतों ने धावा बोल दिया। इन्द्र गर्जा। उसने शंख बजाया। इससे ज़मीन-आसमान हिल गए। बादलों की पीठ से जल के कोष नीचे आ पड़े। यही वर्षा थी।

अग्नि-देव ! क्या तुम भी चोर हो ? तुम अन्न, बल, ज्ञान—इन तीनों सम्पत्तियों के देनेवाले हो पर देते नहीं। तुमने भी यह तीनों धन अपनी पीठ पर लाद रखे हैं। यजमान माँगता है पर तुम देते नहीं। उसने कर्म की कृषि कर रखी है। उसे तुम्हारी कृपा का जल चाहिए। इस जल के बिना उसकी खेती पनपती नहीं। यह जल, वह तुमसे कैसे धरवा ले। उसका हथियार वही है जो वृत्र के प्रति इन्द्र का। अनुनय-विनय उसने बहुत कर ली। तुम नहीं पसीजे, नहीं पसीजे। आज उसने युद्ध की ठानी है। वह मरुतों की सेना साथ लाया है। प्राणों की धौंकनी धौंक रहा है। देखते नहीं हो ?—उसके शरीर में आँधियाँ चल रही हैं। उसके हृदय-आकाश में तूफ़ान उठ रहे हैं। उसकी बिजली कड़केगी, गर्जेगी। भक्त की बिजली उद्गार है। जब वह अपनी भावना के आवेश को रोक न सकेगा,

बोल पड़ेगा। दो आतुर अक्षर उसके मुख से निकल जाएँगे। यही उसका उक्थ होगा—उसकी मानसिक बिजली की कड़क। व्यथा के इन आतुर उद्गारों के साथ, सम्भव है, उसकी आँखों से दो आँसू भी टपक पड़े। यही उसका जल-धन है जो अग्नि-देव ने वृत्र बन रोक रखा है। उसके हृदय का सन्ताप उसे रोने नहीं देता था। ठण्डी आहों के निकलते ही अब वह सन्ताप अपने-आप ठण्डा हो रहा है। वाष्प पानी बन रहा है। बादल के, हर तरफ़ छाया थी पर वातावरण रुका हुआ था। गर्मी से दम घुटा जाता था। हवाओं के तूफ़ान ने बिजली को अगुआ बना कर शंखनादों में दिल की कसक निकाल दी। अब सब ओर ठण्डक है। साधक की कर्म-कृषि अपने ही नयन-नीर में अग्नि-देव की करुणा-वृष्टि का वर पा पनपने, और लहलहाने जा रही है। उद्गार देवों का—मरुतों का—उक्थ है।

बादल पानी के सिवा क्या हैं? और अग्नि-देव! तुम भी अन्न, बल तथा ज्ञान के सिवा क्या हो? इन्द्र की एक कड़क ने वृत्र से जल-धन धरवा लिया। हमारी एक आतुर उक्ति ने तुम्हारे हृदय की संपूर्ण कठोरताएँ हर लीं। तुम्हें पिघला दिया। मूर्त करुणा बना दिया। तुम्हीं हमारे हृदय का सन्ताप थे और तुम्हीं हमारी आँखों से आँसू बन कर ढलक पड़े। आज हमारे नेत्रों में तुम्हारी कृपा-कोरों की झड़ी है। हमने संकल्प कर लिया है कि चाहे सफलता हो और चाहे असफलता, हम अब आगे ही आगे बढ़ेंगे। भोजन मिले या न मिले; अन्न पास हो या न हो; शरीर शक्त हो या अशक्त;

मस्तिष्क तथा हृदय साथ दे या न दे, हम ज्ञानी हों या अज्ञानी; हमारा अन्न तुम्हीं हो, हमारा बल हे अग्नि-देव ! तुम्हीं हो, और हमारी ज्ञान-ज्योति भी, जीवन-याग के अग्रणी ! तुम्हीं हो। हमारे मंगल-स्तोत्रों के सर्वस्व तुम्हीं हो। जब हमारी भावना लाचार होकर शब्दों का रूप धारण करती है तो उसे साधन की, सामर्थ्य की, पथ-प्रदर्शक-बुद्धि की चिन्ता नहीं रहती। हमारा साधन आग है, हमारी सामर्थ्य भी आग ही है और रास्ता दिखानेवाली ज्ञान-ज्योति भी आग ही है।

अग्नि-देव ! सच तो यह है कि इन उद्गारों के जन्म-दाता भी तुम्हीं हो और इन्हें स्वीकार कर सफलता का वर देनेवाले भी तुम्हीं। हम तो तुम्हारी इस लेने-देने की लीला के उप-करण-मात्र हैं। अपनी लीला की लाज ! इसे सफल बनाना। अग्नि-देव ! शुद्ध खेल खेलना। सैनिकों के घोड़ों ने शत्रुओं की सेना पर आक्रमण कर उसे जीत लिया। आज हमारी तुम्हारी होड़ है। हम स्तुतियों के घोड़ों पर सवार हैं। यह घोड़े रुकते नहीं। बे-लगाम हो रहे हैं। सधे हुए घोड़ों को लगाम की आवश्यकता भी नहीं है। वे सवार को ले उड़ेंगे। इन्हें रोकने की आवश्यकता साधना के समय थी। अब तो हमारी साधना समाप्त हो चुकी है। लाखों अभ्यासों के पश्चात् आज हम समरांगण में आ खड़े हुए हैं। आज तो हमें तुम से जूझना है। अग्नि-देव ! तुम हमारे वृत्र हो। तुमने हमारा अन्न, बल, ज्ञान चुरा ही तो लिया है। देते जो नहीं हो। इन्द्र की एक हुङ्कार बादल को पानी-पानी किए

देती है। हमारा एक उद्गार—सच्ची स्तुति का एक उद्गार—तुम्हें झट अन्न-रूप, बल-रूप, ज्ञान-रूप बना देगा। धन आख़िर हमारा ही तो है। तुम रोकोगे कैसे? हम देव हैं। उससे खेलेंगे। वह तुम्हारे किस काम का?

***

विश्व-क्रन्दन

**आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रँ होतारँ सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरा तनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम् ॥७॥**

ऋषिः—वामदेवः=कमनीय द्युतिमान्।

हे मानव बन्धुओ! (वः) तुम (रोदस्योः) पृथिवी तथा द्युलोक में (सत्ययजम्) सत्य का यज्ञ करनेवाले (अध्वरस्य) सृष्टि-संयोग के (राजानम्) राजा (रुद्रम् होतारम्) रो रोकर पुकार रहे (हिरण्य-रूपं) ज्योतिः स्वरूप (अग्निम्) अग्नि-देव का (तनयित्नोः) शरीर को विकसित कर रही जीवन-विद्युत् के (अचित्तात्) अचेत हो जाने से (पुरा) पूर्व (अवसे) अपनी रक्षा के लिए (आ कृणुध्वम्) चारों ओर पहरा बैठा लो!

आज पृथिवी तथा आकाश दोनों से रोने की आवाज़ आ रही है। ज़मीन-आसमान व्यथा की तसवीर-सी बन रहे हैं। एक करुण क्रन्दन है जो पृथिवी तो पृथिवी, संपूर्ण ग्रहों, उपग्रहों पर छा रहा है। तारों की आँखों में आँसू हैं, कलियों के कपोल ओस से तर हैं। फूल की छाती पर घाव है। हवा के ओठों पर ठंडी साँसों का ताँता-सा बँध रहा है। बात क्या है? इस नाचते-कूदते ब्रह्माण्ड की हवेली में आज शोक-सभा का समारंभ क्यों है?

ब्रह्माण्ड की सत्ता ख़तरे में है ? अणु-अणु को संयुक्त कर संसार की सत्ता को यज्ञ का रूप देनेवाला "सत्ययज" अग्नि-देव आज रो रहा है। रो-रो कर हमें पुकार रहा है। उसका यज्ञ हमारी आहुति के विना आगे नहीं चलता। हमारी सत्ता कुछ बहुत बड़ी नहीं। विश्व में हमारी हैसियत ही क्या है ? परन्तु यज्ञ में तो छोटे से छोटे पदार्थ का भी एक विशेष महत्व है। यज्ञ किसी तुच्छ-से-तुच्छ सामग्री के विना भी अधूरा है। पूर्ण यजमान अपने यज्ञ को अपूर्ण रहता देख कर दुःखी है।

मानव बन्धुओ ! आओ। हम अग्नि-देव की इस दीन पुकार को सुनें। देखो तो सही। इस रो रहे खिलाड़ी का रूप कितना सुन्दर है। अत्यन्त रमणीय, अत्यन्त हितकारी। देख कर आँखों को तरावट मिलती है तो दर्शन-मात्र ही से हृदय को एक अपूर्व उत्साह प्राप्त होता है। इस ज्योति-स्वरूप की चित-चोर ज्योति हमें अपने वश में किए जा रही है। हित-रमणीय ज्योति का पुतला रो क्यों रहा है ? भला खेल में रोने का क्या काम ? इसका खेल बिगड़ा चाहता है। इसने सूर्य बनाया, तारे बनाए, चाँद बनाया, पृथिवी बनाई, इसलिए कि जीव-जाति इनमें रमण करे। जीव-जाति का शिरोमणि मनुष्य खेल से असहयोग कर रहा है। यह खेलता है पर इसकी क्रीडा की पुकार शुद्ध नहीं। अग्नि-देव अब खेले तो किसके साथ ? यज्ञ का राजा आज रंक है, क्योंकि प्रजा उससे विद्रोह कर रही है। राज्य-लीला में उसका साथ नहीं देती।

मनुष्य बन्धुओ ! अग्नि-देव का करुण-क्रन्दन तुम्हें सचेत नहीं करता। क्या तुम्हें यह भी पता है कि यदि तुम अग्नि की पुकार पर भी सचेत न हुए तो फिर सचेत होने का अवसर ही न रहेगा ? तुम्हारी जीवन-अग्नि अग्नि-देव ही की देन है। तुम्हारी त्वचा के नीचे वात-संस्थान है। इसमें अत्यन्त सूक्ष्म तन्तुओं का जाल है जो अन्दर-बाहर सारे शरीर पर छा रहा है। सूर्य के ताप की बिजली इन तन्तुओं को छूती है। इससे ये क्रमशः सिकुड़ते और फैलते हैं। इसी सिकुड़ाव और फैलाव का फल हृदय, जिगर, फेफड़ों आदि का सिकुड़ना और फैलना है। शरीर के सारे व्यापार उस विद्युत् ही की करामात है जो सूर्य की किरणों की कृपा से हमारे शरीर में प्रवेश करती है। अग्नि-देव "रुद्र" है। यह रो क्या रहा है, हमारे रुलाने का सामान कर रहा है। सब लोक-लोकान्तर हमारी आनेवाली मृत्यु का पहिले से शोक कर रहे हैं। विश्व-याग में आहुति न देने से विश्व की तो क्षति होगी या न होगी, हमारी जीवन-विद्युत् अवश्य अचेत हो जायगी। यह चिनगारी जहाँ आग से अलग हुई, वहाँ बुझ जायगी।

मानव भाइयो ! आओ। इस विद्युत् के विलुप्त होने से पूर्व हम अपने जीवन की तार का सम्बन्ध अग्नि-देव के बिजली-घर से कर लें। हम अपनी चिति की चिनगारी आग के बीच ही में रख दें। फिर उसकी आभा सर्वथा सुरक्षित है।

जीवन-ज्योति विलीन तो बिजली की तरह एकाएक हो

जायगी। हम उस अशुभ घड़ी से पूर्व अभी से अपनी अमरता का उपाय ही क्यों न कर लें। अमर जीवन का नुसखा है—यज्ञ। आओ। हम यज्ञ की आग को चमकाएँ। हमारे आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे—सब तरफ आग-ही-आग हो अर्थात् याग-ही-याग। यही आग सुहाग है। इसी आग से शरीर की वृद्धि, मन का विकास, आत्मा का उद्धार होता है।

* * *

राजा का नमो-नैवेद्य

इन्धे राजा समर्यो नमोभिर्यस्य प्रतीकमाहुतं घृतेन।
नरो हव्येभिरीडते सबाध अग्निरग्रमुषसामशोचि ॥८॥ ७०

ऋषिः—वसिष्ठः=अत्यन्त विशाल।

वह (अर्यः) सम्पत्ति-शाली (राजा) राजा (नमोभिः) नमो-नैवेद्य द्वारा (सम्-इन्धे) यज्ञाग्नि को प्रदीप्त कर रहा है, (यस्य) जिसकी, (घृतेन) घृत के रूप में (प्रतीकम्) उपलक्षण-मात्र (आहुतम्) आहुति दी जाती है। (सबाधः) विघ्न-बाधाओं के उपस्थित होने पर तो (नरः) नर-नारी (हव्येभिः) हवियों द्वारा (ईडते) इसकी स्तुति करते ही हैं। पर (अग्निः) अग्नि-देव (उषसाम्) उषाओं से (अग्रम्) पूर्व (अशोचि) प्रदीप्त किया गया है।

यज्ञ करने का अधिकार राजाओं का है। जिनकी संपत्ति अपनी हो, जो अपने धन-वैभव पर अधिकार रखते हों, वही इस आग को प्रदीप्त कर सकते हैं जो धन के

दास हों, यज्ञ का रास्ता उनके लिए निषिद्ध है। यज्ञ तो है ही—घर फूँक तमाशा देख। अपने फुँकते हुए घर का तमाशा देख सकने के लिए दिल चाहिए। वही दिल यजमान की संपत्ति है। धन चाहे थोड़ा हो और चाहे बहुत, दिल दरिया चाहिए। सच्चे हृदय से दी हुई कौड़ी का यहाँ वही मूल्य है जो कुबेर के अनगिनत ख़ज़ानों का। इस मार्ग में तो भावना ही की बाज़ी है।

यज्ञ ऐंठ से नहीं किया जा सकता। धन दे और समझे कि मैंने लिया है। लेनेवाले का अनुगृहीत हो। पाहुना तेरे घर भोजन करने आया है—यह उसकी कृपा है। भोजन तो उसके भाग्य में बदा ही था। अन्न-राजा ने उस अन्न पर उसी का नाम अङ्कित कर रखा था। तुझे मुफ़्त का श्रेय देने के लिए उसने अपने भाग्य का अन्न तेरे चौके में ग्रहण किया। तू इस कृपा के लिए उसका आभारी हो। देता जा और झुकता जा। लज्जित हो कि पूरा नहीं दे रहा। कवि के शब्दों में

जान दी ही हुई उसी की थी
सच तो यह है कि हक़ अदा न हुआ।

रहिमन की उक्ति है—

देनेवाला और है, जो देता दिन रैन।
लोग मुझे दानी कहें, इसविध नीचे नैन॥

हाथ उठा हुआ और आँखें झुकी हुईं—यज्ञ की मुद्रा यही है। अन्न-दान, वस्त्र-दान, विनय दान—यह तीन प्रकार का नमो-नैवेद्य यज्ञाग्नि की भेंट है। यजमान राजा

होकर झुकता है या झुक-झुक ही कर राजा बनता है। यजमान का राज्य इसी नमो-नैवेद्य में है। यही उसकी बड़ी संपत्ति है। इसी का वह "अर्य" है—धनी, संपत्ति-शाली राजा।

मनुष्य पर जब भी भीड़ पड़ती है, वह अग्नि-देव को पुकारता है। आपत्ति के समय कौन अपना धन-धान्य न्यौछावर करने को तैयार नहीं हो जाता? वह तो वास्तव में आपत्ति-देवता की पूजा है। आई बला टालने के लिए जप-जाप, यज्ञ-याग सभी करा लेते हैं। और यदि बिना धन के काम चल सके तो और भी ग़नीमत है। जहाँ भावना से काम चल सकता हो, वहाँ धन को काहे को हवा लगानी? पर ख़ैर! कुछ ख़र्च आ जाए तो वह भी इच्छा से, अनिच्छा से कर लिया जाता है। संकट के समय कृपण भी अतिव्ययी हो जाते हैं। पर अतिव्ययिता यज्ञ नहीं। यजमान थोड़ा दे अधिक दे, वह अतिव्ययिता नहीं करता। उसे इसकी अनुभूति ही नहीं होती।

यज्ञ तो उपलक्षण है। अग्नि-देव का प्यारा आहार घृत है। यज्ञ-याग में इसी की अधिक आहुति चलती है। परन्तु यह एक प्रतीक है—बाहर का चिह्न है। वास्तविक घृत तो हृदय का स्नेह है। यज्ञ श्रद्धा से किया जाए, प्रेम से, प्यार से। घृत की सच्ची आहुति वही है। डर के मारे कुछ दे भी दिया और फिर रोते रहे—यह यज्ञ नहीं। चोर बनिए से लाख रुपया रखवा ले—इसे दान कौन कहेगा? आपत्ति के समय के यज्ञ-याग डाकू के सम्मुख नमो नैवेद्य-रूपी धन की भेंट ही तो है।

वास्तविक यज्ञ तो दिन होने से पूर्व हो लेता है। उषा अग्नि-देव की पुत्री है। अग्नि प्रज्वलित होती है। हमारी यज्ञ-भावना का सूर्य हृदय के क्षितिज से ऊपर उठ गया। हमारे अध्यात्म के उदयाचल में अरुणाई-ही-अरुणाई छा गई। तब कहीं यह भौतिक उषा आध्यात्मिक उषा का स्वागत करने के लिए पूर्व दिशा में प्रकट हुई। संसार के व्यवहार में हमें सफलता हो या असफलता। हमारे भाग्यों में भौतिक व्यवहार की भाषा में लक्ष्मी के दर्शन हों या अलक्ष्मी के। हमारी यज्ञ-श्री: दिन के उदय होने से पूर्व की ही हमारे मस्तक पर आध्यात्मिक राज्य का मोरछल झुला रही। हम आर्य हैं। पुश्तैनी "अर्य"। हमारे रास्ते में जो विघ्न-बाधा आती है। वह हमारे पावों के आगे सिर झुकाने के लिए, हमारी प्रगति का क़दम और तेज़ करने के लिए ही आती है। हमारे पैर ऊँचे-ही-ऊँचे उठते हैं और सिर नीचे-ही-नीचे होता चला जाता है। प्रत्येक सफलता अग्नि-देव की देन है—यह सोच कर हम जहाँ आगे बढ़ते हैं, रुकावटों से घबराते नहीं, वहाँ साथ-साथ विनम्र भी होते जाते हैं। सच तो यह है कि हमारा आर्यत्व ही अग्नि-देव की उपासना का फल है। देवता की देन देवता के अर्पण कर देने में श्रेय की बात ही क्या है ?

***

महतो महीयान्

प्र केतुना बृहता यात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥६॥ ७१

ऋषिः—मधुच्छन्दाः=मीठी भावनावाला ।

(अग्निः) अग्नि-देव (बृहता) बड़ी (केतुना) ध्वजा के साथ (प्र-याति) आगे-आगे जा रहा है। (वृषभः) वर्षण-शील प्रभु (रोदसी-आ) पुकार रही पृथिवी तथा द्युलोक के चारों ओर से (रोरवीति) अपने दिव्य नादों द्वारा आप्लावित कर रहा है। (चित्) जब (दिवः) द्युलोक के (अन्तात्) परले छोर से [वह देवाधिदेव] (उपमाम्) हमारे निकट (उत्-आनट्) आ गया तो (अपाम्) हमारी तरंगों की (उपस्थे) गोदी में पड़ कर (महिषः) उस महतो महीयान् को (ववर्द्ध) वृद्धि ही हुई।

अग्नि-देव आगे-ही-आगे बढ़ता जा रहा है। विश्व-याग की आग प्रति-क्षण भड़कती चली जाती है। मानव-जाति की प्रत्येक पीढ़ी इस आग में अपनी आहुति दिए जाती है। उस आहुति से इस आग को और अधिक भड़का जाती है। प्रत्येक आनेवाली पीढ़ी अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के परिश्रम से, त्याग से, अनुसन्धान से लाभ उठाती है। आध्यात्मिक अनुभवों की हमारी यह बपौती प्रति-दिन बढ़ रही है। कोई जाति उन्नत होती है तो, और अवनत होती है तो, संसार के रंगमंच पर वह अपने पद-चिह्न छोड़ ही जाती है। मानव-इतिहास के पन्नों में हमेशा वृद्धि-ही-वृद्धि हो रही है।

विश्व का इतिहास आखिर क्या है? अग्नि-देव की लीला का इतिवृत्त। व्यक्ति व्यक्तियों के साथ, जातियाँ जातियों के साथ मिलकर मानव आचार तथा विचार की प्रगति ही का बीड़ा उठाती रही हैं। विश्व की जातियों का सहयोग कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके सिद्धान्त का ही ज्ञान आज हुआ हो। सनातन-काल से संस्कृतियों का विकास जातियों के पारस्परिक मेल-जोल से, भिन्न-भिन्न देशों में आने-जाने से, आचार तथा विचार के पारस्परिक विनिमय से ही होता रहा है। भिन्न-भिन्न देशों के बीच में न कभी पहाड़ ही कोई स्थिर दीवार बन सके हैं और न ही समुद्र कभी ऐसी खाड़ी का रूप धारण कर सके हैं जिसे मानव उत्साह तथा उद्योग पाट न सके। ज्ञानाग्नि की लाटें समुद्रों को तर गई हैं, पहाड़ों पर से गुज़र गई हैं। यह विजयी देव अपनी ज्वालाओं के झंडे लेकर सम्पूर्ण संसार पर छा गया है। स्वार्थियों ने इस आग पर पानी फेंकने का यत्न किया है, परन्तु पानी के छींटों से इसकी लपटें और तेज़ हुई हैं। राक्षसों की प्रत्येक पराजय ने देवताओं के हाथ में एक और विजय-पताका पकड़वा दी है। मानव-इतिहास देवताओं की विजय ही की लम्बी कहानी है।

ज़मीन-आसमान इस निरन्तर चल रहे सुरासुर संग्राम का विशाल क्षेत्र हैं। परमाणुओं में संघर्ष है, किरणों में, लहरों में, हवा के झोकों में संघर्ष है। इस संघर्ष का स्वाभाविक परिणाम है शोर। कलह बिना कोलाहल के कैसे हो सकता है? विश्व अशान्ति का घर है। राक्षसों को

और कुछ आए या न आए, वे रोना खूब जानते हैं। कोई और ज़्यादती करेगा तो भी रोयेंगे और यदि ये स्वयं किसी पर ज़्यादती कर लेंगे तो भी रोयेंगे। अत्याचारी सताता है पर रोने नहीं देता।

देवों और दानवों के इस व्यापक युद्ध में अग्नि-देव का शङ्ख बज रहा है। कृष्ण के पांचजन्य शङ्ख की आवाज़ कुरुक्षेत्र के कोण-कोण में पहुँच रही है। उस शङ्ख की शक्ति पांचजन्य होने ही में है। वह केवल चार वर्णों ही का नहीं, अवर्णियों—अतिशूद्रों—का भी है। उसकी ध्वनि विश्व-हित की ध्वनि है। वह संसार की संपूर्ण जातियों को यज्ञ का आवाहन है। कृष्ण युद्ध-मात्र के विरुद्ध लड़ रहे हैं। वे विश्व-प्रेम का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। अग्नि-देव के इस नाद में विश्व-व्यापकता की स्वाभाविक शक्ति है। वह ज़मीन पर छा रहा है, आसमान पर छा रहा है। सच तो यह है कि ज़मीन-आसमान का यह अपना राग है। आग का राग, याग का राग।

संसार में संग्राम का नहीं, सहयोग का राज्य हो जाए—यह अवस्था हम पार्थिव प्राणियों को अत्यन्त दुःसाध्य प्रतीत होती है। हम इसे एक दिव्य दशा कह कर टाल देते हैं। हम लोगों का कहना है कि जब ज़मीन पर मनुष्यों के स्थान में देवताओं का वास होगा, तभी इस पृथिवी के प्राणियों में यज्ञ का व्यवहार चलेगा। द्युलोक के भी किसी दूर के छोर पर विशुद्ध सहयोग का आधिपत्य हो तो हो। इस दिखाई दे रहे द्युलोक में तो वैसी ही जीवन-होड़ है जैसी पृथिवी

के तल पर। यज्ञ-ही-यज्ञ में मगन रहनेवाले विशुद्ध हव्य-भोजी देवताओं की बस्ती कहाँ है ?

अग्नि-देव की कृपा से आध्यात्मिक आसमान हमारी इस पृथिवी के तल पर ही विद्यमान है। माता की गोद में बच्चा खेल रहा है। पत्नी के हृदय में पति के अंग-अंग का प्रति-बिम्ब है। बहिन की छाती सदा भाई के अर्पण है। पृथिवी के तल पर ये तीनों स्थल यज्ञ के हैं। इनमें दिव्य भावनाओं ही का निवास है। यहाँ विशुद्ध निष्कामता का राज्य है। स्वार्थ ने इन छातियों को छुआ तक नहीं। यहाँ दूसरे का हित आलस्य का दूसरा नाम नहीं बन सका। इन गोदियों में पर-हित और परिश्रम गले मिल रहे हैं। यही यज्ञ का सार है।

प्रेमिक प्रियतम, प्रियतम प्रेमिक ?
यह उलटा व्यवहार !
एक व्यथा की दो लहरें उठ,
गले मिलीं बन प्यार।
रति का पारावार
इत उत रस रति-सार,
दोनों ओर मची यह रार
प्रियतम ! करो न हम से प्यार।

अग्नि-देव देवों का देव है। उसकी महत्ता के क्या कहने ? वह "महतो-महीयान्"—बड़ों से भी बड़ा है। उसमें महत्ता की पराकाष्ठा हो गई है। उसका यज्ञ महान् है। जो शक्ति सारे विश्व की सृष्टि कर उसका संचालन कर

रही है, उसमें वृद्धि की गुंजाइश ही कहाँ है ? है, गुंजाइश है जैसे आग में ज्वाला की, समुद्र में वीचि-माला की। विना ज्वालाओं के आग क्या ? विना वीचि-मालाओं के समुद्र क्या ? हमारे यज्ञ विश्व-याग की ज्वालाएं हैं, संसार-सागर की हिलोरें हैं—गागरें हैं। वह विभु अपने बाहर नहीं, अपने अन्दर बढ़ रहा है। आग प्रदीप्त हो रही है। पृथिवी द्युलोक का अंग तो है ही। आज उसमें एक दिव्य छटा छा रही है। सूर्य की पुत्री माता बन सूर्य की छाती पर लटकने लगी है। सूर्य बढ़ रहा है—अपने फलते-फूलते परिवार के रूप में।

***

हस्तामलक

अग्निं नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्।
दूरेदृशं गृहपतिमथर्व्युम् ॥१०॥ ७२

ऋषिः—वसिष्ठः=अत्यन्त विशाल।

(नरः) नर-नारियों ने (दीधितिभिः) निरन्तर कर्म द्वारा (अरण्योः) काठ के सूखे टुकड़ों में से निकालकर (प्रशस्तम्) सधे-सधाए, अपनी प्रशंसा के पात्र (अग्निम्) अग्नि-देव को (हस्तच्युतम्) हस्तामलक-सा (जनयत) बना लिया। (दूरेदृशम्) दूर-दूर दिखाई देनेवाले (अथर्व्युम्) फेरी दे रहे अगम्य राही को (गृहपतिम्) घर-गिरस्ती का रखवाला कर लिया।

आग अरणियों में—काठ के दो सूखे टुकड़ों में—छिपी हुई थी। उन्हें रगड़ा गया। एक बार, दो बार, तीन बार—बार-बार, निरन्तर रगड़ा गया। आग प्रकट हो गई।

संसार का हर एक पदार्थ अरणी है। उसे काफ़ी ज़ोर

से रगड़ा जाए सही, उससे आग पैदा होती ही है। और तो और, पानी सामान्यतया तो आग को बुझा ही देता है। परन्तु जब पानी की बूँदों में पर्याप्त संघर्ष हो जाए तो उनसे भी बिजली पैदा हो जाती है। संसार बिजली का घर है। जो विद्युत् हमें बादलों में बस रही प्रतीत होती है, वास्तव में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान है, पानी की बूँद-बूँद में, पृथिवी के कण-कण में उपस्थित है। मनुष्य पुरुषार्थ करे तो उसे झटपट प्राप्त कर सकता है। आवश्यकता केवल कर्म की है—पूरी तन्मयता से क्रिया-शील होने की। अग्नि-देव की कृपा का मूल्य है पुरुषार्थ, प्रयत्न, परिश्रम।

ज़मीन-आसमान अग्नि-देव की अरणियाँ हैं। उन्हें जहाँ चाहो घिसा लो। ज्ञान की, भावना की, कर्म की रगड़ से, प्रसुप्त अग्नि झटपट जग जायगी। वह अग्नि जो विचार से भी दूर थी, कोशिश करने से झटपट हस्तामलक-सी हो जायगी। ज्ञान-पूर्वक प्रयत्न करने से एक सधे-सधाए सेवक की तरह झट तुम्हारी अधीनता स्वीकार कर लेगी, सेवा के जादू से तुम्हारी प्रशंसा की पात्र बन जायगी।

जो अवस्था भौतिक अग्नि की है, वही आध्यात्मिक आग की भी। भक्ति से स्वयं भगवान् भी वश में आ जाते हैं। ध्यान लगाओ और आत्माग्नि को झटपट अपने अधिकार में कर लो। ध्यान से मनुष्य के हृदय में एक विशेष ज्योति प्रबुद्ध होती है। मस्तिष्क से एक चमकता कमल-सा प्रकट हो जाता है। भ्रकुटि के आगे ज्योति का एक पुंज-सा दिखाई देने लगता है।

यों तो अग्नि-देव एक संन्यासी-सा ही है। वह देव, हम मनुष्य। वह यज्ञ का देवता, हम स्वार्थ के पुतले। हमारे हृदयों में उस देवाधिदेव का स्थान ही कहाँ है? उस का कर्तव्य है—मानव-जाति के द्वारों पर फेरी लगाना। पर हमारे घर तो इस योग्य ही नहीं कि इनमें उसे निमन्त्रण दिया जा सके। उससे दूर हटे हुए चाहे हमीं हों परन्तु दूर दिखाई वही देता है। कहीं ठहरे भी तो उसे रोक लें। वह तो निरन्तर चल ही रहा है, फिर ही रहा है। एक क्षण भी तो कहीं ठहर नहीं पाता। सारा अन्तरिक्ष विद्युत् से भर रहा है परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि विद्युत् हमसे दूर ही दूर है। कोई रगड़े तो बिजली प्राप्त है। आध्यात्मिक ज्योति भी सर्वत्र फैल रही है। कोई उसे घर-बार में बसाए तो बे-घर-घाट की आग घरवाली हो जाए। अग्नि-देव का घर यज्ञिय-जीवन है। इसका अवलंबन करो और अग्नि को अभी अपने घरों में बसा लो। लो! वह तुम्हारा घर-वाला हुआ, रखवाला हुआ।

मानव-जाति सृष्टि के आरम्भ से जहाँ भौतिक आग से भाँति-भाँति के व्यवसाय चलाती आई है, वहाँ इस आध्यात्मिक—यज्ञिय-जीवन की—आग को भी अपनी गृहाग्नि बनाती आई है। हम उन आदिम नेताओं की सन्तान अपने पुराने पूर्वजों के पद-चिह्नों पर चलने का यत्न करेंगे। गृहाग्नि की पूजा, यज्ञिय जीवन के इस सातत्य को क़ायम रखने ही के लिए है।

सूर्य-सरोज

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् ।
यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सस्रते नाकमच्छ ॥१॥

ऋषिः—बुध=ज्ञानी, गविष्ठिरः=ज्ञान में स्थिर ।

(धेनुम् इव) दुधेल गाय-जैसी (आयतीम्) आ रही (उषासम् प्रति) उषा का स्वागत करने के लिए (अग्निः) अग्नि-देव (जनानाम्) जनता की जीवन-ज्योतियों की (समिधा) समिधा पाकर (अबोधि) जाग उठा है। यज्ञ की भावनाएँ (भानवः) बाल-भानु बन कर (नाकम् अच्छ) पीड़ा-हरण के द्युलोक की ओर (प्र सस्रते) इस प्रकार प्रसरित हो रहे हैं (इव) जैसे [नन्हीं-नन्हीं कोंपलें] (वयाम) तने से (उत्-जिहानाः) फूटते-फूटते (यह्वाः) स्वयं महान् तनों का रूप धारण कर रही हों।

प्रातःकाल हो गया है। पूर्व दिशा में उषा देवी के दर्शन होनेवाले हैं। आसमान से ज़मीन की ओर एक दूध की गंगा-सी अवतीर्ण होने को है। उदित हो रहे सूर्य की किरण-किरण दूध की धार-सी प्रतीत होती है—शुभ्र श्वेत दूध की धार। दूध का मानो एक दरिया-सा उमड़ रहा है।

मैं इस दरिया का स्वागत कैसे करूँ? यजमान ने गौ के स्तनों को दूध से भरा देखा और उसके जी में झट यज्ञ करने की समाई। उसकी दृष्टि में दूध का उपयोग है ही यही कि उसे यज्ञ की आहुति बना दिया जाय। यास्क के शब्दों में याज्ञिकों के लिए "गौः" तथा "धेनुः" शब्द का अर्थ

ही "घर्म-धुक्"—यज्ञ की गौ है। दूध छलका रही इस ज्योतिष्मती उषा-रूपी गौ का स्वागत मेरे हृदय में जाग उठा अग्नि-देव स्वयं कर रहा है। आज प्रभात होते ही मेरी आत्मा की वेदी पर यज्ञ-याग की तैयारियाँ होने लगी हैं। आग जल रही है। मेरे अंग-अंग ने अपने-आप को समिधा बना लिया है। मेरे रोम-रोम से आवाज़ उठ रही है—"अयन्त इध्म आत्मा"—मैं सर्वात्मना तुम्हारा ईंधन हूँ। अग्नि-देव ! मुझे ग्रहण करो।

फिर अब क्या है ? मेरी नस-नस से, नाड़ी-नाड़ी से ज्वालाओं का जन्म हो रहा है। ये महान् ज्योतियाँ मेरे शरीर से निकल-निकल कर फैल रही हैं। इसका प्रसार हो रहा है। मेरी यज्ञ-भावना मेरे शरीर तक ही परिमित नहीं रही, परिवार तक, घर-गाँव तक, देश-विदेश तक ही परिमित नहीं रही, सारे विश्व पर व्यापक हो रही है। प्रत्येक नाड़ी सारे संसार को अपने प्रेम-पाश में बाँध लेना चाहती है—ज्योतिर्मय पाश में। मुझ में इतनी ज्योति किस प्रकार आ गई ? शाखा तने से निकलती है और अपने-आप एक नया तना-सा बन जाती है। छोटी-छोटी कोंपलें आज महान् वृक्ष हैं। चिनगारियों की मेरी इस फुलझड़ी को तो वृक्ष बनते इतनी भी देर नहीं लग रही है। मेरे शरीर से आज स्फुलिंग-से उठते हैं और झटपट सूर्य बन जाते हैं। एक नहीं, अनेक बाल-भानु प्रौढ़-भानु बन रहे हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥ गीता

छाया हृदय-प्रदीप की, उषा कहे नौ रोज।
व्योम-ताल में खिल उठे, लाखों सूर्य-सरोज॥

झटपट उग रही, झटपट प्रौढ़ हो रही, झटपट आकाश-पाताल में छा रही इन ज्योतियों से एक नये द्युलोक की सृष्टि हो रही है। वह द्युलोक दूध की गंगाओं का है, निर्मल क्षीर-नीर की गंगाओं का। वह एक अपूर्व आनन्द-लोक है। वहाँ दर्द है सहानुभूति के रूप में, पीड़ा है मर्म-वेधी प्रेम की, वेदना है लोकोपकार की हसरत की। जी चाहता है—किसी पर न्यौछावर हो जाइए। सेवा करते जी नहीं भरता। बलिदान की भूख शान्त होने में आती ही नहीं है। एक जान क्या, हज़ार जान वार दो, जान वारने की कसक क़ायम है, क़ायम है। किसी ने कहा है—

सेवा सा मेवा नहीं, नहीं भोग सम रोग।
साजन! स्वर्ग न जाइए, जहाँ भोग ही भोग॥

कैसा मीठा दर्द है? "नाक" का अर्थ है "अ-क" अर्थात् दुःख को "न" रहने देना। किसी का दुःख मिटा दे—यही सन्त का सुख है। इसी यज्ञ-भावना का जाग उठना अग्नि-देव का जाग उठना है। यज्ञ की दुधेल गौ की शुभ्र-श्वेत दूध की धार यही है, यही है। अध्यात्म के उदयाचल पर उषा-देवी का सुनहला स्वागत यही है। मेरी आत्मा में एक नहीं, हज़ार बाल-भानुओं के दर्शन एक साथ हो रहे हैं। क्या सचमुच मैं कृष्ण हूँ—अपने विश्व-रूप में प्रकट हो रहा कृष्ण?

***

विनाश तथा निर्माण

प्रभूर्जयन्तं महां विपोधां मूरैरमूरं पुरां दर्माणम् ।
नयन्तं गीर्भिर्वना धियं धा हरिश्मश्रुं न वर्मणा धनर्चिम् ॥२॥

ऋषिः—वत्सप्रिः=बच्चों से प्रेम करनेवाला ।

[हे मेरे मन !] (महां) महान् (जयन्तम्) विजय-शील (विपोधाम्) मेधावियों के रक्षक, (पुराम्) नगरियों के (मूरैः) मूल-सहित (दर्माणम्) नष्ट तथा निर्मित करनेवाले (अमूरम्) अमर [अग्नि-देव] पर (प्रभूः) प्रभाव पैदा कर। (गीर्भिः) उद्गारों द्वारा (वना) सब कमनीय पदार्थों को (नयन्तम्) प्राप्त करानेवाले [उस देवता को इस प्रकार लक्ष्य में रख कर] (धियम्) ज्ञान, कर्म तथा उपासना का (धाः) अनुष्ठान कर (न) जैसे (वर्मणा) कवच द्वारा (धनर्चिम्) स्तुति के पात्र बन रहे (हरिश्मश्रुम्) तेजस्वी मूछों से युक्त [सैनिक] को ।

मेरे मन ! तेरे अन्दर एक अमर ज्योति है—महान् ज्योति है। मेधावियों की मेधा इसी ज्योति के सहारे स्थित है। हम जो भी क्रिया करनी चाहें, इसी ज्योति की सहायता से करते हैं । तेरे संकल्प-विकल्प सब इस ज्योति ही की कृपा से उठते हैं और फिर इसी में विलीन हो जाते हैं। तू प्रति-क्षण नए-नए भवन तैयार कर उन्हें ढा रही है। संसार में कई नई संस्थाएँ निर्मित हो-हो कर टूट गईं। कितने नए-नए रिवाज चले और फिर हट गए। आज उनका कुछ भी

अवशेष नहीं है। रीति-रिवाज बाहर का खोल है। जब तक इसके अन्दर कोई सार रहता है, इसका कुछ लाभ है। जब सार ही न रहा तो खोखले खोल को रख कर क्या करना है? वृक्ष अपना जीवन-रस जड़ों से पाता है। जब वह भावना ही न रही जो किसी रूढ़ि की जड़ थी तो रूढ़ि को अग्नि-देव के अर्पण ही कर देना चाहिए। अग्नि-देव यज्ञ का देवता है। यज्ञ की जान वह भावना है जो बाहर के क्रिया-कलाप का आधार है। जब कोई क्रिया-कलाप बे-जान हो जाए, उससे यजमान को स्फूर्ति मिलनी बंद हो जाए तो वह क्रिया-कलाप हटा देना चाहिए। ऐसी रूढ़ि को हटाना भी उतना ही यज्ञ है जितना किसी नई रूढ़ि को चलाना। अग्नि-देव विजय-शील देव है। वह पुरानी बे-कार हो गई रीतियों के कोट मूल-सहित गिरा देता है और उनके स्थान पर नए पक्के साधार दुर्ग बनाता है। उसकी अमरता इसी में है कि रूढ़ियों के अदलते-बदलते रहने पर भी वह स्थिर रहता है। यज्ञ-याग की प्रक्रिया बदल जाए पर यज्ञ की भावना बनी रहे—अक्षुण्ण बनी रहे। यह अजेय भावना ही जातियों तथा व्यक्तियों के जीवन का हेतु है।

मेरे मन! तू अग्नि का उद्गार बन जा। तू यज्ञ ही की ज्वाला का रूप धारण कर ले। नाश तथा निर्माण की तेरी शक्ति विश्व की वेदी पर आहुति ही का काम दे। फिर देख, तेरी कौन-सी कामना है जो पूरी नहीं होती? विश्व की आग तो विश्व के यज्ञ के लिए ही जलाई गई है। व्यक्ति

उसकी कोई-कोई चिनगारी ले कर अपने वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति कर लेते हैं। परन्तु स्थिर सफलता उन्हीं लोगों के हिस्से आती है जो इस आग से चिनगारी लेते ही नहीं, किन्तु स्वयं उसकी ज्वाला-से बन जाते हैं। उनका ज्ञान, उनका कर्म, उनकी धारणा, ध्यान, समाधि—सब अग्नि-देव का उद्गार हो जाती है। वे यज्ञ की ही सोचते, यज्ञ पर ही मरते—मरते-जीते यज्ञ ही कर गुजरते हैं।

किसी बाँके वीर ने कवच धारण किया और झट रण-स्थली में उतर आया। कवच उसकी वीरता का उपलक्षण है। यदि उसके शरीर में शक्ति न हो, भुजाओं में बल न हो, हृदय में साहस न हो तो कवच उसकी रक्षा नहीं कर सकता। राजपूत की वास्तविक शूरता उसकी मूछों में है—फड़क रही मूछों में। इन मूछों पर कवच कभी नहीं आया, परन्तु कवच की सारी शक्ति उसके अस्त्र-शस्त्र की सारी करामात, इन फड़क रही मूछों ही में है। मूछें सजीव कवच हैं। ये मन्यु-रूप अग्नि की ज्वाला हैं। निरन्तर तपस्याओं ने इस बाँकुरे की आकृति को भूरा कर दिया है। इस भूरे रंग में तेज है—हरियाली है। वह तेज, वह हरियाली उसकी मूछों में विद्यमान है। वीर की मूछ आग की तरह लपकती है। इस दिव्य कवच की कृपा से उसे अमोघ शक्ति प्राप्त है। जगत् में उसकी स्तुति है, कीर्ति है, यश है।

मेरे मन! जैसे वीरता का कोई अवसर आने पर वीर की मूछ फड़क उठती है, उसकी आत्माभिमान की ज्वाला नैसर्गिक उद्गार के रूप में प्रकट होती है, यही अवस्था तेरी

यज्ञाग्नि की हो। सैनिक न विनाश से झिझकता है न निर्माण से। मेरे मन! तू मेधावी है अर्थात् यज्ञ-बुद्धि से सम्पन्न। तेरी यज्ञ-बुद्धि अमर हो इसमें कोई शिथिलता न आने पाए। यह विजय-शील बुद्धि सब विघ्न-बाधाओं को हटाती जाए। बेकार हो गए पुराने साधनों को मिटाती जाए, नई शक्ति से शक्त, नए साधनों को जुटाती जाए। उपकरण आखिर उपकरण है। यज्ञ तो उपकार का नाम है। उपकरण का नहीं। जिस उपकरण से उपकार नहीं होता, वह तो वास्तव में उपकरण रहा ही नहीं। जयं उपकार की होनी चाहिए—यज्ञाग्नि की।

यज्ञाग्नि की जय हो! विश्वाग्नि की जय हो!!

***

आँख-मिचौनी

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावन् भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु॥

ऋषिः—भरद्वाजः=ज्ञान से पुष्ट।

(अहनी) दिन-रात की तरह (विषुरूपे) तुम्हारे दो भिन्न-भिन्न रूप हैं। (ते) तुम्हारा (अन्यत्) एक रूप (शुक्रम्) शक्ल—प्रत्यक्ष है। (ते) तुम्हारा (अन्यत्) दूसरा रूप (यजतम्) संगति करने के लायक़—परोक्ष है। (द्यौः इव असि) तुम द्युलोक की तरह हो। (विश्वाः हि) इन सभी (मायाः) रंगों-रूपों की (स्वधावन्) हे शक्ति-शाली देव! (अवसि) तुम्हीं रक्षा करते हो। (पूषन्) हे पुष्टि देनेवाले प्रभो! (इह) यह (ते) तुम्हारी (भद्रा) मंगल (रातिः) दान-लीला (अस्तु) बनी रहे। हमेशा बनी रहे।

अग्नि-देव ! हम पृथिवी हैं तो तुम द्युलोक। हममें जितना प्रकाश है, जितना ताप है, वह सब तुम्हारी देन है। सच तो यह है कि हमारी वर्तमान सत्ता के कारण ही तुम्हीं हो। पृथिवी द्युलोक की उपज ही तो है। और फिर अब उसका संपूर्ण व्यवहार द्युलोक की कृपा से ही चलता है। प्रकाश द्युलोक से आता है, ताप द्युलोक से। और तो और, जल की वृष्टि भी तो द्युलोक ही के प्रताप से होती है। सूर्य की किरणें ही तो जल को पहिले भाप का रूप दे कर बादल बनाती हैं और फिर अन्तरिक्ष की चलनी में छान कर विशुद्ध पानी के सोते बहा लाती हैं। अग्नि-देव ! हमारे पाप की कीचड़ को तुम्हीं सुखाते हो और फिर पश्चात्ताप की चलनी में छान कर विशुद्ध प्रेमाश्रुओं के रूप में हमारी आँखों से ढलका भी तुम्हीं देते हो। यह जल-वृष्टि कैसी पवित्र है ? अग्नि-देव ! वस्तुत तुम्हीं हमारे द्युलोक हो।

द्युलोक दो रूपों में हमारे सम्मुख आ रहा है। दिन को उसके शुक्ल-रूप का दर्शन हो रहा है, रात को कृष्ण रूप का। दिन-रात के, शुक्ल-कृष्ण पक्ष के, दक्षिणायन-उत्तरायण के, सृष्टि-प्रलय के, रूप में ज्योति और अन्धकार का एक निरन्तर चक्कर-सा चल रहा है। अचम्भा है तो यह कि ये शुक्ल और कृष्ण दोनों अग्नि-देव ही के विभिन्न रूप हैं। एक रूप प्रत्यक्ष है, दूसरा परोक्ष। एक हमारी इन्द्रियों के साथ संगत है—हमें उसका साक्षात्कार हो रहा है। दूसरे को अभी हमारी ज्ञानेन्द्रियों से संगत होना है। वह यजनीय है—देखने के, देख-देख कर पूजने के योग्य। सृष्टिकर्ता

की स्तुति तो हम नित्यप्रति कर ही रहे हैं। प्रलय-काल के देवता महादेव की पूजा करने के लिए अधिक ज्ञान की आवश्यकता है। आपत्ति में अग्नि-देव का ध्यान रहे, लाख विघ्न-बाधाओं के रहते हम यज्ञ के मार्ग से विचलित न हों—हमारे सच्चे यजमान होने की परख यही है।

अग्नि-देव! तुम स्वधा के स्वामी हो। सच्ची स्वाधीनता तुम्हारी है। हमारी स्वधा यही है कि हम परिस्थिति के अधीन न हों। अवस्थाएँ अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल, हम जब एक बार तुम्हारे हो लिए तो फिर क्या? हम तो हमेशा के लिए तुम्हारे प्रति समर्पित हो गए। कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष दोनों तुम्हारी माया हैं। तुम प्रकट हो गए, संसार में ज्योति का प्रधान्य हो गया। तुम छिप गए, संसार में अँधेरा छा गया। यह तुम्हारी लुक-छिप ही तो है। सफलता तथा असफलता, सम्पत्ति तथा विपत्ति—दोनों तुम्हारे खेल हैं। तुम न तो हमसे सृष्टि-काल ही में दूर हो और न प्रलय के अवसर पर ही दूर हो सकोगे। तुम्हारा व्रत है—हमारी रक्षा करना। तुम आधार हो, विश्व तुम्हारा आधेय है। सब अवस्थाओं में तुम्हें इसका रक्षण करना ही है। आँखें न देख सकें पर बुद्धि पुकार-पुकार कर कह रही है कि अंधकार का देखा जाना ही इस बात की साक्षी है कि यह ज्योति ही का रूपान्तर है। प्रलय सृष्टि ही की भूमिका है। रात-दिन की, कृष्ण पक्ष शुक्ल पक्ष की।

हे विश्व के पालन कर रहे प्रभो! यह खेल खेलते जाओ, खेलते जाओ। संसार तुम्हारा रमणागार है। इसमें

तुम्हारी मंगल-क्रीड़ा चलती रहे, चलती रहे। निर्माण तथा प्रलय—तुम्हारे ये दोनों रूप भद्र हैं। तुम मिटाते हो बनाने के लिए। प्रलय की दशा में सृष्टि लीन ही तो हो जाती है। अत्यन्त अभाव तो किसी वस्तु का हो ही नहीं सकता। संसार के पदार्थ विलुप्त ही तो होते हैं। वे अग्नि की ज्वालाओं में भस्म होते हैं इसलिए कि उनकी राख के आधार पर एक नया भवन तैयार हो सके। वस्तुएँ रूप बदल रही हैं, नए-नए चोलों में प्रकट हो रही हैं। थोड़ी देर के लिए कृष्ण यज्ञ का रूप धारण कर फिर अपने शुक्ल वेष में आ जाती हैं। चोलों के इस परिवर्त्तन का साधन है—अग्नि के भूषा गृह में से गुज़र जाना। जो अग्नि की वेदी पर से गुज़र गया, वह प्राणी यज्ञिय है। वह काली कराली का उपासक होकर यदि पहिले लोहा था तो सोना बन गया है, सोना था तो कुन्दन हो गया है।

यजमान अग्नि-देव के इन दोनों रूपों की पूजा करता है। रात उसे इसलिए प्यारी है कि इसमें अग्नि-देव आँखें मीच लेता है। यजमान सोता इसलिए है तुम्हारे मिचे हुए नयनों का गहरा चिन्तन कर सके।

सखे! तुम्हारे नयन में, खेल रहे दिन-रात।
नयन मीच दो रैन है, खोलो नयन प्रभात॥

***

यजमान की सन्तति

इडामग्ने पुरुदंससं सनिं गोः ।
शश्वत्तमं हवमानाय साध ।
स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ४ ॥

ऋषिः—विश्वामित्रः=सबका मित्र ।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (हवमानाय) मुझ यजमान के लिए (शश्वत्तमम्) निरन्तर (गोः सनिम्) दूध देनेवाली (पुरुदंससम्) अधिक-से अधिक यज्ञ संपादित करानेवाली (इडाम्) विद्या-धेनु रूपी (साध) सिद्धि प्रदान कीजिए। (नः) हमारी (सूनुः) सन्तान (तनयः) यज्ञ का विस्तार कर (विजावा) सफल हो। (अग्ने) हे अग्नि-देव! (ते) तुम्हारी (सा) यह (सुमतिः) कृपा (अस्मे) हम पर (भूतु) बनी रहे।

अग्नि-देव! मै तो तुम्हारा ही उपासक हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरा जीवन यज्ञ ही के अर्पण होकर सफल हो सकता है। चाहने को तो मुझे अन्न भी चाहिए, राज्य भी चाहिए, विद्या भी चाहिए। ये सब इडाएँ हैं—अघ्न्याएँ हैं। परन्तु इन इडाओं को लेकर मैं क्या करूँ यदि ये गाएँ दूध ही न दें। ये गाएँ दूध तभी देती हैं जब ये तुम्हारे अर्पण हों।

अन्न से भूख मिट जाए पर संतुष्टि नहीं होती। मैं कितना भी मिताहारी होऊँ, भोजन-छादन को नियमित कर अपने स्वास्थ्य में त्रुटि न भी आने दूँ, पर आखिर जीवन का लक्ष्य केवल खाना-पीना ही तो नहीं है न। खा-पी तो पशु भी लेता है। उसके यहाँ अन्न के भाण्डार नहीं हैं। वह

अधिक खाने से अजीर्ण का भी शिकार नहीं होता। उसके लिए न तो अन्न का अभाव ही है और न अतिशय, और न ही अतिशय से पैदा होनेवाला दुरुपयोग। मनुष्य का जीवन भी यदि इसी प्रकार संयत हो जाए तो उसका शरीर भी सुखी हो सकता है। उसे अन्न-रूपी इडा मिल गई—उसका भोजन प्रशस्त हो गया। परन्तु मानव-हृदय केवल शरीर के स्वास्थ्य से भी प्रसन्न नहीं होगा। किसी को पेट-भर खाना तो मिल जाए पर स्थिति दासों की-सी रहे—इस जीवन में गौरव कहाँ है ? मनुष्य को गौरव चाहिए। अन्न का दूध यही है—स्वतन्त्रता, स्वाधीनता।

चलो राज्य भी अपना हो। हमारे देश पर हमारा ही अक्षुण्ण अधिकार हो। न किसी अन्य जाति का हम पर अंकुश हो और न ही हममें से ही कोई दल-विशेष राज्य-अधिकार से हमारा बहिष्कार कर दे। राष्ट्र के शासन में हम केवल वोट देनेवाले ही नहीं, किन्तु राज-काज के कर्णधार ही हमीं हों। संभव है, इससे हमारी महत्वाकांक्षा को एक छोटा-सा ग्रास मिल जाए परन्तु वह इन ग्रासों की लालसा में पड़ कर सन्तुष्ट थोड़ी होती है। इस आग में जितना घी डालोगे, उतना ही और अधिक वह भड़केगी। अन्त तो राजनैतिक नेतृत्व का भी निराशा ही है।

संसार में राज्य की बाग-डोर ऐसे लोगों के हाथ में भी रही है जो जड़-मूढ़ थे। इस समय ऐसा होना शायद सम्भव न हो। विद्वान् का राष्ट्र उसकी विद्या है—वाणी-विलास है। साहित्य के क्षेत्र में उसका मन नित-नई सृष्टि

करता रहता है। कुछ समय के लिए वह क्रीडा-प्रिय बालक-सा इस क्रीडा से सन्तुष्ट भी प्रतीत होता है। परन्तु स्थिर खुशी साहित्यिक को भी प्राप्त नहीं। अधिक पढ़ने से भी जी ऊब ही जाता है।

अन्न इडा है, पृथिवी इडा है, वाणी इडा है। ये सब कामधेनुएँ ही तो हैं। परन्तु दूध दें, तब। मनुष्य की वास्तविक सन्तुष्टि यज्ञ करने ही से होती है। यज्ञ मन के विस्तार का दूसरा नाम है। जब मनुष्य अपनी सत्ता इस छः फ़ीट के शरीर से बाहर भी समझता है, तो उसकी प्रवृत्ति यज्ञ-मार्ग की ओर होने लगती है। जब पिता-माता, भाई-बहिन, लड़का-लड़की उसकी आत्मा के अंग बन जाते हैं, तो समझना चाहिए कि वह यजमान हो चला है। परिवार की इस परिधि से निकल कर वह अड़ोस-पड़ोस से, अपने जन्म के ग्राम से, देश से, और इससे भी आगे बढ़ कर सम्पूर्ण विश्व से प्यार करने की सोचता है तो सचमुच वह यज्ञाग्नि का उपासक हो जाता है।

यह अग्नि आलस्य की दुश्मन है। स्वार्थ परिश्रम का प्रेरक अवश्य है। स्वार्थ की भावना हट जाए तो सम्भावना यही होती है कि मनुष्य कार्य करना ही छोड़ दे। कोई रुपए के, कोई मान के, कोई यश के, कोई प्रतिष्ठा के लोभ से काम करता जा रहा है। स्वार्थ ही के ये सब विभिन्न रूप हैं। स्वार्थ-वश मनुष्य काम खूब करता है, परन्तु इस काम में आनन्द नहीं मिलता। आनन्द तभी मिलता है जब स्वार्थ का स्थान यज्ञ ले ले। यजमान निरन्तर काम करता

जाता है और उससे ऊबता नहीं। उसकी सन्तुष्टि इसी से होती है कि उसने अपना कर्त्तव्य पालन किया। स्वार्थ के त्याग से वह भिखारी न रह कर राजा हो जाता है। यही "इडा" के दूध की "शाश्वत" धारा है। "पुरुदंस" धारा कर्म की अनवरत धारा है।

यजमान के लिए जहाँ देश-विदेश की दीवारें नहीं रहीं, वहाँ काल का भेद भी मिट गया है। वह अकाल काल का वासी हो गया है। जिस विश्व-व्यापक अग्नि को उसने अपनी यज्ञ की भावना द्वारा प्रज्वलित किया है, उसे वह अनन्त काल तक प्रज्वलित रखना चाहता है। सन्तानोत्पत्ति का उसका यही लक्ष्य है। उसकी दृष्टि केवल वर्तमान पीढ़ी तक परिमित नहीं है। उसने मानव-जाति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को एक ही सतत समय कें सूत्र में पिरो लिया है। वह अपने पूर्वजों का ऋणी है—ऋषियों का, देवों का, पितरों का ऋणी। वह अपने-आप इन ऋणों को चुका रहा है और आगे के लिए ऋण की भावना को स्थिर कर अपने द्वारा जलाई गई विश्व-याग की आग को हमेशा के लिए जलती रखने का सामान कर रहा है। मानव जीवन की सिद्धि इसी सतत अमरता में है।

अग्नि-देव ! हमारे यज्ञ-याग तो तुम्हीं हो। तुम्हीं हमारे आराध्य हो, तुम्हीं हमारे उपास्य। अमर इडा के—शाश्वत संस्कृति के—साधक तुम्हीं हो। हमें अपनी यह सतत संस्कृति-रूपी सिद्धि प्रदान करो। यही हमारी जननी हो और यही फिर हमारी सन्तति। प्रभो ! हमें "हवमान"

बना दो—अपने यज्ञ के यजमान। हमारा जीवन तुम्हारी अमर आग की आहुति हो जाए। इसी में हमारा सन्तोष है, इसी में हमारी स्थिर सफलता है। जीवन-धेनु का दूध यज्ञ ही तो है। मानव-जाति की अमर सन्तति यज्ञ के सिवा और क्या है ?

*
* *

संयम का साधन

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्मा सीददपां विवर्त्ते ।
दधद्यो धायि सु ते वयाᳬंसि यन्ता वसूनि विधते तनूपाः॥

ऋषिः—वत्सप्रिः=बच्चों से प्रेम करनेवाला।

(नभोवित्) सम्पूर्ण आकाश में व्यापक (महान्) महान् [अग्नि-देव] (होता) यज्ञ सम्पादक (जातः) बन कर (नृषद्मा) मनुष्यों में बैठा (अपाम्) कार्यों के (विवर्त्ते) विविध प्रकार के व्यवहार में (प्रसीदत्) प्रसन्न होता है। (यः) जिसे [तूने] (सु-धायि) अच्छी तरह धारण किया है और जो (ते) तुझे (वयांसि) अन्न तथा बल (दधत्) दे रहा है, वह [तुझे] (यन्ता) नियम में रख (तनूपाः) [तेरे] शरीर को पुष्ट करनेवाला [अग्नि-देव] (वसूनि) तुझे सब प्रकार की जीवन-सामग्री (विधते) वितरण कर रहा है।

अग्नि-देव व्यापक है, विभु है। उसका परिणाम अल्प नहीं, महान् है। जहाँ आकाश है, किसी भी पदार्थ के ठहरने का स्थान है, वहाँ अग्नि है। व्यापक पदार्थ के दर्शन नहीं हो सकते—वह भासता नहीं। इन्द्रियों के सम्मुख आने के लिए उसे परिमित होना चाहिए। यही कारण है कि अग्नि का महान् रूप देखा नहीं जाता, वह

परोक्ष है। ऊपर इसी रूप को "शुक्रम्" के मुक़ाबले में "यजतम्"—पूज्य कह आए हैं। "महान्" का भी यही अर्थ है—पूज्य।

वह अपाद् प्रभु चतुष्पाद् हो जाता है। **पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।** उसके एक पाद से इस संपूर्ण भौतिक संसार की सृष्टि हुई है। तीन पाद अमर-ज्योति के रूप में विद्यमान हैं। विश्व-याग का सम्पादक बन कर वह विभु अग्नि-देव अल्प परिमाण के पदार्थों में प्रकट हो रहा है। उसकी एक झाँकी मनुष्य में है। मेरे शरीर की प्रत्येक चेष्टा में अग्नि-देव की झाँकी है। जिस अणु में अग्नि-देव न हो, वह ठण्डा पड़ जाए—मर जाए। मेरे हृदय में भावनाओं का दरिया उमड़ रहा है। ये ठाठें—ये ज्वालाएँ—अग्नि-देव ही की हैं। मेरा मन अनुभूतियों का भाण्डार है—ज्योतियों का क्रीडा-स्थान है। ये ज्योतियाँ अग्नि-देव की हैं। मेरे विचार में, व्यवहार में—जीवन के सम्पूर्ण व्यापार में—आग-ही-आग भरी है। इन तरंगों के बीच में पड़ कर अग्नि-देव प्रसन्न हो रहा है।

मेरी जान! तूने इस महान्, व्योम की तरह विभु, अग्नि-देव को अच्छा स्थान दिया है। वह तेरे अणु-अणु में अपना दिव्य आसन लगाए विराजमान है। तुझे अन्न मिलता है—यह अग्नि-देव की कृपा है। अन्न बल का रूप धारण करता है—यह भी अग्नि-देव ही की कृपा है। बल अन्त को ज्ञान बन जाता है—यह भी अग्नि-देव ही का अनुग्रह है।

मेरी जान ! अग्नि-देव ने तुझे बल प्रदान कर यज्ञ की मनोवृत्ति दे दी है। अग्नि-देव की सबसे बड़ी देन यही है। इस मनोवृत्ति ने तुझसे स्वाभाविक संयम करा दिया है। युवती को तपस्विनी बनाने के लिए धूनी रमाने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ उसने यज्ञ किया और माता बनी, उसका जीवन अपने आप तपोमय हो जाएगा। विद्योपार्जन यज्ञ है। घर-गिरस्ती यज्ञ है। स्वार्थ से ऊपर उठ कर कोई भी कार्य किया जाए, वह यज्ञ है। यज्ञ की मनोवृत्ति, भोग-विलास की मनोवृत्ति का राम-बाण इलाज है। मज़ा यह है कि इस इलाज में कटुता नहीं, कठोरता नहीं। उलटा, आनन्द ही आनन्द है। बालक के लिए कठोर-से-कठोर कष्ट सहने में माता का हृदय एक विशेष मिठास अनुभव करता है। यह मीठा संयम अग्नि-देव की कृपा का फल है —यज्ञ-संपादक अग्नि-देव ही की कृपा का।

हम संपूर्ण प्राणी अग्नि-देव के मेहमान हैं। उसके घर में उतरे हुए हैं। अग्नि-देव नेहमारे ठहरने का, खाने का, पीने का, जीवन-यात्रा की पूर्ण आवश्यकताओं का प्रबन्ध कर दिया है। हमारे चारों ओर "वसु" ही "वसु" विद्यमान हैं। ये सब वास की—जीवन की—सामग्रियाँ हैं। प्रभु इन्हें खुले हाथों बाँट रहा है परन्तु वास्तव में इन्हें हस्तगत वही करता है जो इनका उपभोग संयम-पूर्वक करे। संयम से ही शरीर की रक्षा होती है। असंयत जीवन शरीर का और उसके साथ-ही-साथ मन का, हृदय का, आत्मा का नाश कर देता है। फिर संयम विना यज्ञ के सूखा

है। वह सफल ही नहीं होता। वह संयम ऊपर-ऊपर ही रह कर मन को छूता तक नहीं। मन का संयम यज्ञ द्वारा ही हो सकता है।

तो हे अग्नि-देव ! हमारी आत्मा को संयत कर हमारे तीनों शरीरों की पुष्टि तुम्हीं करो। हमें "वसु" दो—संपूर्ण जीवन-सामग्री दो। हमारे ज्ञान में, कर्म में, भावना में तुम्हीं बस जाओ। हमारा समूचा जीवन यज्ञमय हो जाए।

***

विनयी प्रभु

प्र सम्राजमसुरस्य प्रशस्तं पुंसः कृष्टीनामनुमाद्यस्य।
इन्द्रस्येव प्रतवसस्कृतानि वन्दद्वारा वन्दमाना विवष्टु ॥६॥

ऋषिः—वसिष्ठः=अत्यन्त विशाल।

(कृष्टीनाम्) कर्म की खेती कर रहे मनुष्यों को (अनुमाद्यस्य) आनन्दित कर फिर स्वयं आनन्दित होनेवाले (असुरस्य) जीवन-प्रद (पुंसः) वीर पुरुष के (सम्राजम्) चारों ओर चमक रहे (प्रशस्तम्) प्रशस्त स्वरूप की (प्र विवष्टु) [मनुष्य] ऐसी प्रबल कामना करे (इव) जैसी [भक्त] (तवसः) शक्तिशाली (इन्द्रस्य) प्रभु के (वन्दमाना) वन्दना कर रहे (कृतानि) कृत्यों की (वन्दद्वारा) सन्ध्या-वन्दन द्वारा (प्र) बल-पूर्वक कामना करता है।

संन्ध्या हमारे नित्यकर्मों में है। हम प्रातः-सायं उसका नियम-पूर्वक अनुष्ठान करते हैं। इस सन्ध्या का अभिप्राय क्या है? यही कि हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु शक्तिशाली है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड उसकी शक्ति का चमत्कार है। हम उस विभु

की विभूति का दर्शन करते हैं। उसे अपने चिन्तन का विषय बनाते हैं। हमने उस विभु की वन्दना क्या की? उसकी संपूर्ण विभूतियाँ हाथ बाँध कर हमारे सम्मुख आ गई। प्रभु के कृत्य मानो हमारी वन्दना की वन्दना कर रहे हैं। झुकना महत्ता का आवश्यक अंश है, गुण है। माता दूध पिलाने के लिए झुक जाती है। फल से लदी शाखा अपने-आप नीची हो जाती है। पानी से भरे बादल लटक जाते हैं। प्रभु की कृपा भी लटकी हुई है। हमारी वन्दना का फल हमें नम्रता सिखाना—हमें वस्तुतः महान् बनाना—है। हमने प्रभु की प्रार्थना क्या की कि प्रभु का समूचा प्रभुत्व हमारा आज्ञाकारी सेवक हो गया। अब इधर हम प्रार्थना के रस के प्यासे हैं, उधर ब्रह्माण्ड सारा अपनी शक्तियों-समेत हमारी सेवा के लिए उद्यत है। उपासक-उपास्य में होड-सी लग रही है। देखें—शालीनता की बाजी कौन ले जाता है? विनम्रता में जीत किसकी होती है?

खड़े मूक उपहार-सम, भक्त और भगवान्।
भक्त मूर्त अर्पण बना, देव मूर्त वर-दान॥

प्रभु के आगे नम्र हो जाना तो भक्त का काम ही है। भक्ति की वास्तविक परख तो अन्य मनुष्यों से व्यवहार करने ही में हो सकती है। साधारण जन प्रभात से साँझ तक खून-पसीना एक करते हैं, उन्हें एक समय का पूरा अथवा अधूरा भोजन प्राप्त होता है—उनके साथ हमारा कैसा वर्ताव है? प्रभु हमसे महत् है, उसकी खुशी इसी में है कि वह हमें खुश रखे। क्या अपने से छोटों के प्रति हमारी भी यही

मनोवृत्ति है कि उनके आनन्द से हम आनन्दित हों ? यह मनोवृत्ति वीरों की हैं। असली मर्दानगी यही है।

मानव-जाति के हृदयों का सम्राट् वही होगा जो साधारण मनुष्यों के साथ एक हो जाए, आपत्ति में उनके आड़े आए। पहिले उन्हें सुखी करे, फिर स्वयं सुखी हो। किसानों और मज़दूरों का सेवक हो। लोक-सेवा इसी का नाम है।

नेतृत्व, लोगों की वन्दना का पात्र बनने में नहीं, स्वयं वन्दना करने में है। मनुष्य कृपा करे, परन्तु इस भाव से कि वह कर्त्तव्य था। जो देखने में हमारा कृपा-पात्र है, वास्तव में वह स्वयं हम पर कृपा कर रहा है। हमें कृपा का अवसर देना कुछ कम कृपा नहीं है।

हम न होते, प्रभु दया किस पर करते ? दीन न हों, हम दया किस पर करें ? सच तो यह है कि हमारी सारी दया हमारे अपने ऊपर ही होती है। आत्मैवात्मनो बन्धुः।

सन्ध्या का असली रहस्य यही है कि मनुष्य प्रभु की निर्मम दया को देखे और स्वयं निर्मम दयालु बन जाए। यही विनय-भाव ही अध्यात्म-जगत् का साम्राज्य है।

जीत पराजय सी नहीं, नहीं विजय सी मात।
विनय विजय पर्याय हैं, यही पते की बात॥

***

कोख में

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत्सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवेदिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥७॥ ७९

ऋषिः—विश्वामित्रः=सबका मित्र।

जैसे (अरण्योः) अरणियों में (जातवेदाः) विश्वाग्नि (निहितः) छिपी हुई है, (इव) जैसे (गर्भिणीभिः) गर्भिणियों द्वारा (इत्) ही (गर्भः) गर्भ सुरक्षित रहता है, [इन उपमाओं को लक्ष्य में रख कर] (हविष्मद्भिः) हवि हाथ में लिए हुए (जागृवद्भिः) जाग गए (मनुष्येभिः) मनुष्यों को (अग्निः) अग्नि-देव की (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (ईड्यः) स्तुति करनी चाहिए।

सोए हुए मनुष्य को अग्नि के जागने का ज्ञान ही कहाँ है? उसके लिए सम्पूर्ण संसार सो रहा है। आप मरे जग परलो। ज्ञान तो जागृति के साथ ही आता है। प्रमादी की आँखें यों भी बंद हैं, यों भी। देखनेवाले को आँख खोलनी चाहिए—अन्दर की खोले या बाहर की। गुप्त तत्त्वों का ज्ञान मानसिक चक्षु के खोलने से होता है।

साधारण जनों को बिजली की सत्ता का पता ही तभी लगता है जब वह प्रकाश के रूप में प्रकाशित होती है। उनके लिए वह कहीं बाहर से आती है। वैज्ञानिक जानता है कि बिजली हर समय हमारे चारों ओर विद्यमान है। आग अरणियों में पहिले से ही विद्यमान थी। किसी ने उन्हें रगड़ दिया, वह प्रकट हो गई। यों तो वह "जातवेदाः"

है अर्थात् प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में उपस्थित है। विना अग्नि-तत्त्व के उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। ताप का अभाव विनाश है, मृत्यु है। परन्तु अज्ञानियों को इसका ज्ञान कहाँ है ?

अग्नि अरणियों की कोख में सुरक्षित है। यदि विना रगड़ के प्रकट हो जाए तो संसार की कोई वस्तु सुरक्षित न रहे। हर जगह आग की लपटें-ही-लपटें दिखाई दें। जन्म से पूर्व बालक की रक्षा माता के गर्भ में ही हो सकती है। प्रत्येक सन्तान को नौ मास माता के गर्भ का आश्रय लेना आवश्यक है। फिर चाहे बच्चा ब्राह्मण बन जाए और चाहे योद्धा या बनिया। उसकी पहिली चटसाल माता की कोख ही है। यही अवस्था भौतिक ताप की है। यदि यह ताप परोक्ष न रहे तो कभी प्रत्यक्ष भी न हो सके। यदि विश्व-भर की अग्नि एक-दम ज्वाला का रूप धारण कर ले तो संसार भस्म की मुट्ठी के सिवा कुछ न रहे। फिर ताप का स्थान कहाँ हो ?

जिस वैज्ञानिक ने भौतिक विज्ञान के इस गुर को समझ लिया है, वह बादलों में, पहाड़ों में, प्रपातों में, बह रही नदियों में विद्यमान अग्नि से यथेच्छ लाभ उठाता है। बिजली उसकी भौतिक आँखों के सामने हर समय खेल नहीं रही परन्तु उसके अन्तःकरण को विश्वास है पानी की बूँदों के परदे में यह वाडवानल अपनी ज्वालाओं समेत छिपी-छिपी ताण्डव-नृत्य कर रही है।

यही धारणा भक्त की है। भक्त ने हवि अपने हाथ में में ले ली है। वह यज्ञ करता जा रहा है। उसकी प्रत्येक

क्रिया आहुति-सी है। वह आँख मीच कर उसे विश्व-याग की वेदि पर छोड़ रहा है। कोई उसे कहता रहे कि वेदि आग से खाली है, उसका आहुति डालना वृथा है। उसकी चरम-चक्षु ने अग्नि-देव के परोक्ष रूप के दर्शन कर लिए हैं। वह इस आग के शुक्र रूप का नहीं "यजत" रूप का उपासक है। उसके लिए रात, सूर्य की उतनी ही सन्तान है जितना दिन। किए कर्म का फल इस समय दिखाई न दे, उसकी अल्प बुद्धि के सम्मुख संभव है कभी फल प्रकट हो ही नहीं। परन्तु किया हुआ परिश्रम निष्फल नहीं जाता—इसका उसे पूर्ण विश्वास है। यह खेती पक कर रहेगी। आज पके, कल पके, बरस-दिन में पके, पकेगी अवश्य। यज्ञ-भाव से किया हुआ प्रत्येक कार्य अग्नि-देव की ज्वाला-रूपी झोली में जा पड़ता है। यजमान इसी श्रद्धा से हवन करता है। वह दिन-रात इसी भावना को स्रुवा बना अपने जीवन के क्षण-क्षण की आहुति देता जा रहा है। यजमान के द्वारा अग्नि-देव की स्तुति का यही प्रकार है। उसका शरीर चाहे सोए चाहे जागे, उसका जीवन हवि बन चुका है। यज्ञ-भावना ने उसकी अन्दर की आँख खोल दी है। यज्ञ-भावना से किया गया कर्म स्वयं एक रगड़ है जो आग को पैदा करता है। यजमान की श्रद्धा, जननी की वह कोख है जिसमें अग्नि-देव जात-कर्म से पूर्व शयन करता है। वह वहाँ सुरक्षित है। अग्नि-देव को गर्भ में लिए-लिए यजमान की श्रद्धा, गर्भिणी स्त्री की तरह संसार में विचर रही है। उसके सामने भावनाओं का नया लोक है। वह माता होने चली है।

उसकी गोद में कोई आ रहा है जो उसे 'माँ' कह कर पुकारेगा।

बचपन नीका, यौवन नीका।
सफल हुआ जीवन जननी का॥

आग हृदय यजमान के, रही रात-दिन जाग।
श्रद्धा का सुत याग है, ज्यों अरणी-सुत आग॥

* * *

अमरता की मार

**सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षाꣳसि पृतनासु जिग्युः।
अनुदह सहमूरान् क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥८॥**

ऋषिः—पायुः=रक्षक।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! तुम (सनात्) हमेशा से (यातुधानान्) कष्ट देनेवालों का (मृणसि) नाश कर देते हो। (त्वा) तुम्हें (रक्षांसि) राक्षसों ने (पृतनासु) संग्रामों में (न) कभी नहीं (जिग्युः) जीता। तुम इन (क्रव्यादः) मांस खा जानेवालों को (सहमूरान्) समूल (अनुदह) पीछे से ही भस्म कर दो। (ते) तुम्हारी (दैव्यायाः) दिव्य (हेत्याः) मार से वे (मा) न (मुक्षत) छूट सकें।

अग्नि-देव! हमारे हृदय में या तो तुम्हीं रहो या यातु—कष्ट—रहे। तुम्हारे रहते आपत्ति आपत्ति ही नहीं रहती। संसार में हमारे लाख शत्रु रहें। वे पीड़ा-पर-पीड़ा देते चले जाएँ। हमें उनके दुःख देने से दुःख होता ही नही। हृदय में यज्ञ-भावना के उदय होते ही अत्याचारियों का संसार-भर से नाश हो जाता है। संपूर्ण विश्व आत्मीय-सा दिखाई देने लगता है। अपने ही किसी अंग ने किसी दूसरे अंग को

कष्ट दे दिया तो यह उसकी भूल ही है। अंगी का काम है उन अंगों को मिला देना। शरीर का एक अवयव दूसरे अवयव पर आक्रमण क्यों नहीं करता ? इसी लिए कि उनमें अवयव होने की भावना विद्यमान है। यही यज्ञ-भावना है। यजमान अवयवी है। वह संसार का आत्मा है। उसके लिए संसार के सभी व्यक्ति एक महान् सृष्टि के अंग हैं।

यही देव-भाव है। राक्षस-भाव इसका ठीक उलटा है। ब्राह्मणों के कथानक के अनुसार जहाँ देव एक दूसरे के मुंख में भोजन का ग्रास डालते हैं, राक्षस सब अपना-अपना पेट पालते हैं। इसमें यदि एक-दूसरे से छीना-झपटी भी करनी पड़ जाए तो वे निस्संकोच कर लेंगे। करनी पड़ क्यों जाए? इसके बिना उनको आनन्द ही नहीं आता।

संसार में निरंतर सुरासुर संग्राम चल रहा है। एक ओर अग्नि-देव है जो खाता है इसलिए कि अन्य देवताओं को तृप्ति मिले। उसके लिए लेना-देना पर्याय है। त्याग ही उसका भोग है। दूसरी ओर राक्षस हैं जो भर्तृहरि के "ते के न जानीमहे"—इस वाक्य को अपने ऊपर चरितार्थ कर रहे हैं—

पर-हित श्रेष्ठ, स्वहित अधम, मध्यम स्वार्थ परार्थ।
सो नर क्या जो स्वार्थ बिन, करे पाप धर्मार्थ॥

इस सुरासुर संग्राम में विजय हमेशा देवताओं ही की होती आई है। कुछ समय के लिए स्वार्थ की शक्ति प्रबल हो जाए तो हो जाए। कुछ काल तक ऐसा प्रतीत होना संभव

है कि धर्म की पराजय हो रही है और अधर्म के दल-बल की विजय। परन्तु यह स्थिति देर तक क़ायम नहीं रह सकती। यज्ञ की शक्ति अन्न को प्रभुत्व-शालिनी सिद्ध होती ही है। विजय अग्नि-देव ही की होती है।

प्रभो! स्वार्थ, कृपणता, संकीर्णता, हिंसा, क्रूरता, निर्दयता—ये सभी अयज्ञिय भाव हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार—ये पाँचों राक्षस नहीं तो क्या हैं? मानव-जीवन के ये सब शत्रु हैं। मन तो मन, ये शरीर तक को कच्चा खा जाते हैं। धर्म-भावना स्वास्थ्य है, अधर्म-भावना रोग। शरीर को सुखी रखने के लिए भी आवश्यक है कि मनुष्य का हृदय अच्छी भावनाओं का क्रीडा-क्षेत्र बना रहे। अच्छी भावनाएँ अमृत हैं। इनकी प्रतिनिधि यज्ञ की अग्नि है। यह आग काम-क्रोध के कृमियों को जला देती है। पहिले से ही यह आग विद्यमान हो तो इन्हें पास फटकने नहीं देती। और यदि किसी प्रकार इनकी सृष्टि मनुष्य के मन में हो ही जाय तो यह आग पीछे से आकर भी इन्हें भस्मीभूत कर देती है। यज्ञ की सच्ची भावना सचमुच आग का स्नान है जो मनुष्य का काया-कल्प कर देता है। इसकी अलौकिक मार से कोई मानसिक शत्रु छूटता नहीं। मनुष्य को पता ही नहीं लगता और अपने-आप सभी राक्षस ढेर होकर रह जाते हैं।

प्रभो! तुम हमारे लिए वही आग बन जाओ। हमारी पाप की प्रवृतियों के लिए तुम्हारा ध्यान-मात्र ही प्रलयानल है। तुम आओ! हमारे हृदय को पवित्र बनाते हुए

आओ। हमारे शरीर को स्वास्थ्य का सुन्दर सदन बना दो। तुम्हारी दिव्य हेति हमारे मानसिक तथा कायिक सभी रोगों का समूल नाश कर दे। यज्ञ की आग की मार हमारी अमर सँवार हो।

सुनहरी कुदाल

अग्ने ओजिष्ठमाभर द्युम्नमस्मभ्यमध्रिगो ।

प्र नो राये पनीयसे रत्सि वाजाय पन्थाम् ॥१॥ ८१

ऋषिः—गमः=गतिशील ।

(अध्रिगो) हे बिना आधार के स्वतन्त्र गति करनेवाले (अग्ने) अग्नि-देव ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिए (ओजिष्ठम्) अत्यन्त ओज-भरा (द्युम्नम्) तेज (आभर) लाइए । (नः) हमारे लिए (पनीयसे) स्तुति के योग्य (राये) रमणीय (वाजाय) अन्न, बल तथा ज्ञान-रूपी रत्नों का (पन्थाम्) रास्ता (प्र-रत्सि) खोद निकालिए ।

अग्नि-देव ! तुम्हीं सबके आधार हो । संसार के सभी पदार्थ तुम्हारे आश्रय से स्थित हैं । तुम सर्वाधार देव हो । अन्य संम्पूर्ण पदार्थ तुम्हारे आधेय हैं, तुम उनके आधार हो । सर्वाधार को और आधार की आवश्यकता नहीं है । तुम्हारा सम्पूर्ण क्रिया-कलाप तुम्हारी अपनी शक्ति से संपन्न होता है । यही तुम्हारी सर्वशक्तिमत्ता है । तुम्हें अपनी गति तथा मति के लिए न साधन की आवश्यकता है न आश्रय की । तुम निःशेष संसार को चला रहे हो । उसे गति देते हो । यही तुम्हारी गति है । तुम हिलते नहीं और हिलाते हो । तुम्हारी दी हुई गति को और किसकी गति कहा जाए ?

प्रभो ! हमें भी कुछ ऐसी गति दो कि हम वही गति औरों तक पहुँचा सकें । यही ओज है—गति देनेवाली

गति है। इस ओज से पूर्ण कान्ति हमें प्रदान करो। हमारे विचार में, वाणी में, कर्म में कान्ति हो—तेज हो। ऐसा तेज हो कि उसका संसार की गति पर प्रभाव हो। हमारा तेज ओजस्वी हो। अग्नि का-सा? तेज हो—अगुआओं का-सा, नेताओं का-सा।

विरोधी तो हमारे इस तेज का विरोध करेंगे ही। पर हमारे ओज के कारण यह तेज अपने-परायों—सबके दिलों में घर कर जाए।

अन्न-दाता! हमें अन्न दो नहीं, अन्न का रास्ता दिखा दो। बल-दाता! हमें बल दो नहीं, बल का रास्ता दिखा दो। ज्ञान-दाता! हमें ज्ञान दो नहीं, ज्ञान-प्राप्ति का रास्ता दिखा दो। हमारा ओज इन तीन विभूतियों के कारण हो। विश्व में हमारे अन्न की, बल की, ज्ञान की प्रशंसा हो। विरोधी के मन में भी हमारी इन तीन सिद्धियों का सिक्का बैठ जाय।

हम अन्न खाएँ और उसे बल का रूप देते जाएँ। हमारा अंग-अंग बलवान् हो, बल की खान हो। परन्तु हमारा यह बल गँवारू-पन का दूसरा नाम न हो। हमारे बल में ज्ञान की केवल पुट ही न हो, प्रत्युत हमारी शारीरिक शक्ति स्वयं ज्ञान में रूपान्तरित होती जाए। हमारी शक्ति का उपयोग ही आध्यात्मिक अनुभवों के संचय में हो। हमारी प्रत्येक इन्द्रिय शक्तिशालिनी होकर ज्ञानोपार्जन का प्रबल साधन बन जाए। हम अपने संपूर्ण सामर्थ्य का व्यय उपकार में, सेवा में, पर-स्वत्व की रक्षा में करें। इससे हमारी

आत्मा का निरन्तर उद्धार हो। परोपकार के बहाने हम सदैव अपना वास्तविक उपकार करते चले जाएँ।

अग्नि-देव ! हमें अपनी इसी यज्ञ की ज्वाला का धनी बनाओ। हमें अन्न, बल, ज्ञान—ये तीनों रत्न प्राप्त करा, उन्हें औरों में वितीर्ण करने की आग-सी लगा दो। हमें "रयि" दो—रमणीय रयि,—खिलाड़ी धन।

वास्तविक धन तो यही तीन पदार्थ ही हैं। तृप्ति अन्न, से, रक्षा बल से और संतुष्टि ज्ञान से प्राप्त होती है। ये तीनों पदार्थ सच्ची संपत्ति हैं। यज्ञ के अर्पण होकर ये, "रयि" बन जाते हैं—रमणीय रयि। रा दाने, रमु क्रीडा-याम्। धन दान कर। अपनी सभी विभूतियों से खेल। यही यज्ञ है।

अग्नि-देव ! क्या कहा ? इस "रयि" का रास्ता कठिन है ? कँटीला है ? उसमें पत्थर हैं ? चट्टानें है ? तो लो ! हम उसे खोदे लेते हैं। हम अपना रास्ता आप बनाएँगे। प्रभो ! तुम्हारे हाथ में कुदाल तो है ही। सुनहरी वज्र तो है ही। जरा इस रास्ते को खोद कर दिखा दो ! फिर हम तुम्हारे कुदाल को स्वयं सँभाल लेंगे। तुम्हारी ज्वाला कुदाल नहीं तो क्या है ? हमारा ओज, तेज—सब कुदाल बन जाए। यज्ञ-भावना का ओज, यज्ञ-भावना का तेज स्वयं सुनहरी कुदाल बन जाए। तुम्हारा कुदाल भी तो यही तेज और ओज ही है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि
ओजोऽस्योजो मयि धेहि।

तेज-रूप प्रभु ! तेज दीजिए, बल-स्वरूप ! बल दान कीजिए।
वीर्य-रूप ! हम वीर्यवान् हों, बल-स्वरूप ! हम बल-निधान हों।
मूर्त मन्यु हों सहन-शील हों, वीर-धीर बाँके निधड़क सुशील हों।

*
* *

देव-लोक

यदि वीरो अनु स्यादग्निमिन्धी मर्त्यः ।
आजुह्वद्धव्यमानुषक् शर्म भक्षीत दैव्यम् ॥ २ ॥ ८२

ऋषिः—वामदेवः=कमनीय देव ।

(यदि) यदि (मर्त्यः) मनुष्य (अग्निम्) यज्ञ की आग (इन्धीत) प्रदीप्त कर ले (अनु) तो वह झट (वीरः) वीर (स्यात्) हो जाए। और फिर यदि (आनुषक्) निरन्तर (हव्यम्) हव्य पदार्थों की (आजुह्वत्) आहुति देता जाए तो (दैव्यम्) देवताओं के (शर्म) लोक का (भक्षीत) उपभोग करे ।

मनुष्य मर रहा है, इसलिए कि वह स्वार्थी है, भीरु है। अपना भला चाहता है, समाज का नहीं। उसे यह पता ही नहीं कि उसका वास्तविक हित समाज के हित ही में है। वह समाज से डरता है, समाज का वास्तविक उद्धार करने को तैयार नहीं। लोग क्या कहेंगे ?—यह विचार उससे लाख कुरीतियों का अनुष्ठान कराए जाता है। समाज में कितने प्रत्यक्ष दुराचार रूढ़ हो चुके हैं। उन्हें बिरादरी छोड़ने को तैयार नहीं। कोई व्यक्ति छोड़ना चाहे तो उसे छोड़ने देने को भी तैयार नहीं। जान बची लाखों पाए— इस जाप के जपनेवाले बड़े धनी-मानी लोग समाज-सुधार तो

क्या अपने निजू सुधार से भी कन्नी कतराते हैं। प्रतिशतक निनानवे मनुष्य इस प्रकार एक जड़-यन्त्र का-सा जीवन व्यतीत करते चले जाते हैं। यह उनकी आध्यात्मिक मृत्यु है।

मरते जा रहे इन, जड़ रूढ़ियों के शिकारों के लिए क्या कोई जी उठने की संभावना है? जीवन नाम ही वीरता का है। जो अपने लिए सोच नहीं सकता, दिल में आई बात कह नहीं सकता, कहता है पर कर नहीं सकता, वह मनुष्य जीता दिखाई ही देता है। वास्तव में वह कभी का मौत के घाट उतर चुका है।

जीवन तो नाम ही यज्ञ का है। क्या समाज रास्ते में बाधक है? क्या बिरादरी विघ्न रूप बन रही है? तो तू उसका और अपना—दोनों का एक-साथ रास्ता साफ़ कर ले। तू अपनी आत्मा के प्रति सत्य का व्यवहार कर। कभी-कभी बैठ कर अपने मन में सोचा कर—जो क्रिया-चक्र तेरे दिन और रात को घुमाए जाता है, उसमें क्या कुछ सत्यता भी है? खाया, पिया, हँसे, खेले, सो रहे। इच्छा से, अनिच्छा से एक यान्त्रिक-से क्रिया-क्रम की चक्की में पिसते रहे—यह जीवन चेतन जीवन नहीं। चेतना स्रष्ट्री शक्ति है। इससे किसी कृति का निर्माण होना चाहिए। और नहीं तो आत्म-चिन्तन ही सही। अपनी स्वाधीन सत्ता पर दृष्टिपात ही सही। उसके उपयोग की पड़ताल ही सही। मैं विश्व के लिए क्या कर रहा हूँ? इस प्रश्न का कोई क्रियात्मिक उत्तर ही सही।

यही उत्तर यज्ञ है। धन्य है वह जो इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करता है। यह विचार स्वयं एक आहुति है। और जिसके लिए इस विचार की धारा-सी बह पड़ी, वह तो वास्तव में यजमान होने चला ही है। जीवन की सफलता आहुति बनने में है। जो क्षण-क्षण में यह आहुति दे रहा है, जिसकी प्रत्येक क्रिया परार्थ है, वह केवल यजमान ही नहीं रहा प्रत्युत स्वयं देव-पद को प्राप्त हो गया है। यज्ञ ही जीवन है तो निरन्तर यज्ञ निरन्तर जीवन है। इस जीवन में मृत्यु के लिए स्थान ही नहीं है। मरने चला मनुष्य यज्ञ के रास्ते पर पड़ जाए तो वीर बन जाता है। और यदि इस वीरता में दृढ़ता धारण कर ले, अपने यज्ञ-भाव की इस दिव्य धारा को कभी टूटने न दे तो वह एका-एक देव हो जाता है। यही अमर-पद की प्राप्ति है। इसी स्थिति का नाम देव-लोक है।

***

दृष्टि-चोर

त्वेषस्ते धूम ऋण्वति दिवि संछुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ३॥ ८३

ऋषि:—भरद्वाजः=ज्ञान से पुष्ट।

अग्नि-देव! (ते) तुम्हारी (त्वेषः) ज्योति का (धूमः) धुआँ (आततः) व्यापक (शुक्रः) प्रकाश (सन्) बन कर (दिवि) द्युलोक में (ऋण्वति) गति कर रहा है। (पावक) हे पवित्र करनेवाले अग्नि-देव! (त्वं) तुम (कृपा) अपनी कृपा

से (रोचसे) इस प्रकार शोभायमान हो रहे हो (न) जैसे (सूरः) सूर्य (द्युता) अपने प्रकाश से।

अग्नि-देव ! क्या यह तुम्हारा ही तेज है जो सूर्य में, चाँद में तथा तारों में प्रकाशित हो रहा है ? ये जो ज्योति के पुंज द्युलोक में घूम रहे हैं—भिन्न-भिन्न प्रकार से गति कर रहे हैं, क्या ये अनन्त ज्योतियाँ तुम्हारे प्रकाश ही की चिनगारियाँ हैं ?

किस अमित ज्योति के अमित खण्ड
बन गए ग्रहोपग्रह प्रचण्ड ?
धर फुलझड़ियों में तुला-दण्ड
दिग्बालाएँ करतीं विहार।
हे दिग्दिगन्त के तुलाधार !

तत्त्वदर्शियों का कहना है कि ये भौतिक ज्योतिया आध्यात्मिक ज्योति के सम्मुख धुआँ-सी हैं। गीता-कार कहते ही हैं—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ॥

छाया हृदय-प्रदीप की कहे उषा नौ रोज़।
गगन-ताल में खिल उठे, लाखों सूर्य-सरोज ॥

पावन प्रभो ! तुम चमक रहे हो। भौतिक प्रकाश तो तुम्हारी ज्योति के सम्मुख धुआँ-सा है। फिर भी तुम चमक रहे हो। अपनी अधीर कृपा-द्वारा चमक रहे हो। ये भौतिक ज्योतियाँ अकारथ नहीं हैं। इनका कुछ उपयोग है। संसार का अणु-अणु तुम्हारी कृपा-लहरी का कण है, बिन्दु

है। वह अपने-आपमें कुछ हो, न हो। उसका महत्त्व उसकी उपयोगिता के कारण है। और जहाँ महत्त्व का प्रश्न आया, वहाँ आत्मा का प्रसंग अनिवार्य है। महत्त्व होता ही आत्मा की दृष्टि से है। कोई उपयोगिता न हो तो कंकरी और किरीट में भेद ही क्या है? मोती का स्थान किसी ताजदार के ताज ही में है। पर कंकरी को लोग ठोकर से भी सम्मानित नहीं करना चाहते। कोई ताजदार न हो, ठोकर लगानेवाले की, सिरे से सत्ता ही न हो तो फिर मोती और कंकरी में भेद ही क्या है? कंकरी से भी उपयोग लिया जाता है। किसी की दृष्टि में उसका मूल्य मोती से अधिक है। पर पहिले किसी की दृष्टि हो, तब ना। आँकनेवाला ही न हो तो फिर मूल्य क्या? मूल्य तो नाम ही दृष्टि का है।

उपयोग है तो रचना भी हुई है। उपयोग आकस्मिक नहीं हो सकते। किसी की कृपा ने उपयोग के रूप में अवतार लिया है। संसार में रोग भी है, औषध भी। आँख भी है, रूप भी। कान भी हैं, राग भी। प्राण भी हैं, सुगन्ध भी। ये सभी दिव्य संबन्ध हैं। किसी सर्वज्ञ चिकित्सक ने एक-एक रोग की अनेक दवाइयाँ बना दी हैं। वैद्यक का आविष्कार यही है कि उनका अनुसंधान कर दे। विज्ञान स्वतन्त्र निर्माण तो कर ही नहीं सकता। सृष्टि स्रष्टा की है। धुएँ में ज्योति झलक रही है। अग्नि-देव की कृपा इस धूप-छाँव में अपनी मनोहर झाँकियाँ दे रही है।

इतनी कृपा? धूलि का कण-कण उपयोगिता का भाण्डार है। पत्ती-पत्ती लाखों जन्तुओं के जीवन का आधार है।

अग्नि-देव की कृपा का वास्तव में पार ही नहीं है। कृपा झलक नहीं, चमक रही है। भड़क रही है। आध्यात्मिक ज्योति के एक व्यापक झरने की तरह चारों ओर से उमड़ रही है, बरस रही है।

प्रभु परोक्ष में कहाँ हैं? स्पष्ट प्रत्यक्ष हैं। सूर्य क्या कभी अपनी ज्योति में ओझल हो सकता है? उसका प्रकाश हमारी आँख को उसका पूरा सुराग़ दे जायगा, दे जायगा। प्रभु की कृपा प्रभु को गुप्त नहीं रहने देगी। वह चमकेगा। चीज़ों के उपयोग में चमकेगा। उस कृपालु की मोहिनी उँगली बन-बन कर आँखों में घुस रही है। कोई न देखे, कैसे?

किरण-किरण के हाथ पर, रखे प्रदीप अनूप।
दृष्टि-चोर दिनकर अहो! रहा छिपा निज रूप॥

***

आधार-आधेय

त्वꣳ हि क्षैतवद्यशोऽग्ने मित्रो न पत्यसे।
त्वं विचर्षणे श्रवो वसो पुष्टिं न पुष्यसि॥४॥

ऋषिः—भरद्वाजः=वाज=ज्ञान, अन्न आदि से पालन करनेवाला।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (त्वम्) तुम (यशः) यशःस्वरूप मनुष्य को (हि) ऐसे (पत्यसे) प्राप्त होते हो (न) जैसे (मित्रः) सूर्य (क्षैतवत्) चराचर के निवास-स्थान आकाश को। (विचर्षणे) हे सर्व-द्रष्टा! (वसो) हे सबको [आकाश की तरह) वास देनेवाले! (त्वं) तुम (श्रवः) हमारी दिव्य श्रुति को (पुष्यसि) इस प्रकार पुष्ट करते हो (न) जैसे (श्रवः) अन्न (पुष्टिम्) पहिले से वर्तमान पुष्टि को।

हम अपने आप यशस्वी हों न हों, हमारी ज़बान पर दूसरे लोगों का यश ही रहता है। दूसरों के दोष नहीं, गुण देखते हैं। अपने सहकारियों से ईर्ष्या का वर्ताव न कर प्रीति ही का व्यवहार करते हैं। हमें इस गुर का ज्ञान हो गया है कि यज्ञ सहयोग का दूसरा नाम है। देव-पूजा यज्ञ है, संगति-करण यज्ञ है, दान यज्ञ है। ये तीनों क्रियाएँ निन्दा की मनोवृत्ति के रहते नहीं हो सकतीं। हम पूजा उसी की करेंगे जिसका यश हमारे हृदयों पर अंकित हो। किसी द्वेष के पात्र की पूजा ही क्या ? संगति-करण भी किसी प्रेम के पात्र के साथ ही हो सकता है। ऐसे ही दान। अपने साथ काम करनेवालों का यश गाना यज्ञिय-जीवन का श्रीगणेश ही है।

सूर्य प्रकाश का भाण्डार है। तापादि सभी शक्तियों का स्रोत है। संसार में कोई छोटी-से-छोटी क्रिया ऐसी नहीं हो रही जिसका प्रेरक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सूर्य न हो। परन्तु सूर्य को कोई स्थान चाहिए जिसमें वह अपनी शक्तियों को क्रीडा का अवसर दे सके। आकाश की आवश्यकता पहिले है; उसमें बसनेवालों की पीछे। यही अवस्था यज्ञ के अधिष्ठाता अग्नि-देव की है। यज्ञ-भावना का आधार यज्ञ की —अन्य सभी सहकारियों के प्रति स्तुति की—मनोवृत्ति है। जो सम्बन्ध सूर्य और आकाश का है, वही अग्नि-देव और प्रशंसा की मनोवृत्ति का। आकाश के रहते सूर्य अपने प्रकाश का प्रसार रोक नहीं सकता। ऐसे ही मनुष्यों में एक दूसरे का यश फैलाने का स्वभाव हो जाए तो उनकी क्रियाओं

में अग्नि-देव का प्रतिबिम्ब होना अनिवार्य है। ऐसे लोग अपने-आप यजमान बन जाते हैं। न विना एक दूसरे की प्रशंसा के यज्ञ ही हो सकता है, और न विना यज्ञ की भावना को जागृत किए यश फैलाने की मनोवृत्ति ही रह सकती है। यज्ञ का निवास यश में है और यश का यज्ञ में।

वास्तव में सबको निवास देनेवाला अग्नि-देव ही है। अग्नि-देव सर्व-व्यापक है। इसी से वह सर्वज्ञ है—सर्व-द्रष्टा है। हमें जबसे इस व्यापक देवता की अनुभूति हुई है, एक दिव्य रागिणी-सी मन के कानों में गूँजती है। यह दिव्य नाद अत्यन्त सुरीला, अत्यन्त नशीला है। अग्नि-देव का दर्शन इस रागिणी को और अधिक मधुर बना रहा है। अग्नि का दर्शन स्थिर है, स्थायी है, ऐसे ही वह दिव्य नाद भी।

यह नाद एक बार हृदय की तह में उठ खड़ा हो सही। फिर यह ऊँचा-ही-ऊँचा उठता जायगा। इसकी शक्ति बढ़ती ही जायगी। इसका प्रभाव उत्तरोत्तर अधिक विस्तीर्ण होता जायगा।

अन्न बल का मूल-कारण है, परन्तु निर्बलों के लिए नहीं। निर्बल अन्न खायगा तो अपनी निर्बलता को और अधिक बढ़ा लेगा। पुष्टि उसी की की जा सकती है जो पहिले से ही कुछ पुष्ट हो। रोगियों को बल-प्रद भोजन देने से उलटा विकार ही होगा।

भक्तों को दिव्य शब्द सुनाई देते हैं। और तो और, उनके अपने शरीर की बनावट, उसकी नपी-तुली चेष्टाएँ एक

मनोहर आलाप ही तो हैं। जब भक्त के कान में यह आलाप पड़ने लगे तो मान लो कि अब वह ऋषि बन जाने के रास्ते पर है। यह राग पहिले साधक के अपने हृदय ही से फूट निकलता है। फिर अन्दर-बाहर से वही अलौकिक गीत सुनाई देने लगते हैं। ये गीत प्रभु के हैं। प्रभु ने अपनी आवाज़ मानो हमारी आवाज़ से मिला दी है। गीत में जान आ रही है। आवाज़ उत्तरोत्तर पुष्ट—सुर से, ताल से, आन्तरिक प्रभाव से समृद्ध—होती जा रही है।

प्रभो ! तुम सूर्य हो तो हम आकाश, तुम आकाश हो तो हम उसका सुरीला, नशीला शब्द। तुम हमारे लिए निवास-स्थान हो, हम तुम्हारे लिए। हमारा तुम्हारे बिना निर्वाह नहीं, तुम्हारा हमारे बिना। तो हम एकीभूत क्यों न हो जाएँ ? हम आकाश की तरह झोली पसार दें। तुम सूर्य की तरह उसमें प्रकाश उँडेल दो। हम श्रुति हों, तुम श्रावक। हमारे अंग-अंग में बज रहे अनाहत नाद का स्रोत तुम्हीं हो। तुम गायक हो, हम गान। तुम वंशी हो, हम तान। कैसा अटूट आधार-आधेय सम्बन्ध है ?

तुम निशिचर प्रभु हम निशा, तुम रवि हम आकाश।
तुम इकले बिन भक्त ज्यों, बिन आकाश प्रकाश ॥

***

प्र+अतः

प्रातरग्निः पुरुप्रियो विशः स्तवेतातिथिः ।
विश्वे यस्मिन्नमर्त्ये हव्यं मर्त्तास इन्धते ॥५॥ ८५

ऋषिः—मृक्तवाहो द्वितः=दो को प्राप्त खोजी ।

(यस्मिन्) जिस (अमर्त्ये) अमर देव में (विश्वे) सब (मर्त्तासः) मरण-शील मनुष्य (हव्यम्) अपनी आहुति को (इन्धते) प्रदीप्त करते हैं । वह (विशः) जनता के हृदय में घर कर चुका (अतिथिः) फेरी लगानेवाला (पुरुप्रियः) लोक-प्रिय (अग्निः) अग्रणी (प्रातः) प्रातःकाल [प्र+अतः] आगे बढ़ने की (स्तवेत) स्तुति करे ।

अगुआ अग्नि-देव का स्थानापन्न ही होता है । उसके अगुआ होने का कारण ही उसका यज्ञ है । उसने अपने-आपको समष्टि के लिए समर्पण किया है, इसलिए अब वह जनता के हृदय में विराज रहा है । प्रजा अग्नि-देव ही की पूजा करती है । प्रत्येक मनुष्य को यज्ञ की भावना प्यारी लगती है । यह भावना झट उसके दिल में घुस जाती है । कोई आत्म-त्याग करे सही, लोग उसे तुरन्त सिर-आँखों पर बैठा लेते हैं ।

अग्रणी का काम घर पर बैठ रहना नहीं । नेता का घर जनता के हृदय हैं । उन्हीं की उसे फेरी लगानी होती है । जलती आग को एक छोटी-सी परिधि में बंद कैसे कर लिया जाए ! वह आग है, इसलिए लपकेगी । अन्य पदार्थों

में गति उसी के कारण है तो वह स्वयं गति-रहित कैसे हो जाए। यज्ञ की भावना का मस्ताना द्वार-द्वार पर अलख पुकारेगा। उसकी अपनी जागृति इसी में है कि वह जनता को जगाए।

और जब जनता ने उसे नेता स्वीकार कर लिया तब तो उसका काम ही वही हो गया जो उषा देवी का है। जब लोगों ने अपने जान-माल उसके अर्पण कर दिए, तो अब उसका कर्त्तव्य ही यही है कि उसकी आहुति को सफल करे। यज्ञ की सफलता आगे बढ़ने में है। यही प्रत्येक प्रभात का संदेश है। यज्ञ का समय है प्रातःकाल। प्रातः का अर्थ ही है प्र+अतः—यहाँ से आगे। जो भी समय पर सन्देश दे, वह प्रातःकाल है। जो भी भावना इस मार्ग पर डाले, वह प्रातःकाल की भावना है। जिस देवता के दर्शन से आगे बढ़ने की भावना अपने-आप जागृत हो, वह प्रातःकाल ही का देवता है।

यजमान प्रातःकाल होते ही अपनी संपूर्ण सामग्री अग्नि-देव के अर्पण करने को प्रस्तुत है। सामग्री तो उसके पास पहिले ही से उपस्थित है। उस सामग्री को आखिर संसार ही के काम में लगाना है। चाहे दान करो, चाहे उपभोग करो और चाहे वह चोरी जाए। यज्ञ की आहुति बना देने से द्रव्य आग की तरह चमक उठता है। वह स्वयं आग बन जाता है। प्रभु के अर्पण जो भी पदार्थ किया, वह प्रभु का हो गया। उस पर अब एक दिव्य छटा-सी छा जाती है। उसका दुरुपयोग नहीं हो सकता।

यजमान का कर्त्तव्य है कि अपना सर्वस्व यज्ञ की वेदि पर डाल दे। जनता का जान-माल नेता के अर्पण हो जाना अनिवार्य है। फिर नेता तो स्वयं ही मूर्त प्रातःकाल है। उसके सम्मुख होते ही दर्शकों के हृदय में एक नई स्फूर्ति का उदय हो जाता है। उसकी स्वाभाविक "अलख" में एक जादू है, जो बोलता नहीं, पर हृदयों की गाँठें खोल के रख देता है।

अग्नि-देव का सन्देश है—प्र+अतः। बढ़े चलो!

***

रानी

यद्वाहिष्ठं तदग्नये बृहदर्च विभावसो।
महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजा उदीरते ॥ ६ ॥ ८६

ऋषिः—वसूयवः=धनाभिलाषी-गण।

(यत्) जो [स्तुति] (वाहिष्ठम्) अधिक-से-अधिक स्फूर्ति देनेवाली है (तत्) वह (अग्नये) अग्नि-देव की है। (विभावसो) हे ज्योतिर्धन! (बृहद्) बहुत बड़ा (अर्च) नैवेद्य ला। (त्वत्) तेरी (रयिः) खेल रही सम्पत्ति (महिषी+इव) रानी-सी है। (त्वत्) तुझ से (वाजाः) अन्न, बल तथा ज्ञान का (उत्-ईरते) स्वाभाविक विकास हो रहा है।

उस स्तुति का लाभ ही क्या जिससे स्फूर्ति न मिले। प्रभु का नाम लिया और वह ओठों ही पर रह गया। ऐसा नाम लिया न लिया बराबर है। जाप का फल यही तो है कि उससे जीवन में एक नई जागृति-सी आ जाती है। मनुष्य में काम के लिए एक नया उत्साह पैदा हो जाता है। अग्नि-

की स्तुति हो और उससे तन-मन में एक आग-सी न लग जाए। वह स्तुति ही क्या हुई? अग्नि-देव कार्य-वाहक है—संसार-भर के कार्यों को प्रेरित करता है। यही बात उसके गुण-गान में है। अग्नि का स्तोत्र "वाहिष्ठ" है। इस के समान प्रेरणा की, कार्य-संचालन की, शक्ति के संचार की शक्ति किसी भी और वस्तु अथवा क्रिया में नहीं है।

अग्नि "विभावसु" है। उसकी संपत्ति प्रकाश है। और प्रकाश का धर्म है फैलना। अग्नि जैसा उदार देव और कौन है? अपने मुँह का ग्रास दूसरों के मुँह में डाल रहा है, जो अपना रंग, वही उपासक का। यज्ञ की वेदि पर हव्य कीजिए वह झटपट आग बन जाएगा। यही अवस्था यजमान की है। यजमान का जीवन-धन यही अग्नि-देव का प्रकाश ही तो है। प्रभु के भक्त के पास अपने भक्ति-धन के सिवा कोई और संपत्ति है ही कहाँ? भक्ति-रस संचारी रस है। वह अपने तक परिमित रह ही नहीं सकता।

भक्त केवल अपने-आप ही दरिया-दिल नहीं। उसके संपूर्ण धन-धान्य की यही स्थिति है। वीर की संपत्ति स्वयं खेलने को दौड़ती है। वह महिषी-सी है। भक्त राजा है और उसकी संपत्ति पट-रानी। इस संपत्ति का महत्त्व रुपयों-पैसों में नहीं आँका जाता है। खेल रही कौड़ी "रयि" है—रमणीय रयि। और सँभाल कर रखा हुआ कुबेर का कोष भी कंकरों का ढेर-सा है। भक्तराज का भक्ति-भरा नैवेद्य थोड़ा भी हो तो बहुत है। उसका वास्तविक मूल्य निवेदक की श्रद्धा है। भक्त अपना सर्वस्व वार रहा है।

इस वारने में जो स्वयं अग्नि का स्वभाव है, वही यजमान का। अग्नि संपूर्ण हव्य का "वाहन" कर रही है—उसको आगे पहुँचा रही है। उसने अपने मुख में ग्रास लिया ही इसी लिए है कि उससे समूचे देव-समुदाय की तृप्ति हो। सच तो यह है कि अग्नि ने अपने उपासक को अपनी मस्ती के रंग में इतना शराबोर-सा कर दिया है कि अब यजमान, यज्ञ तथा यज्ञाग्नि में भेद रहा ही नहीं। यजमान स्वयं भी तो 'विभावसु" हो गया। अब यह पता लगाना कठिन है कि अर्चना कौन कर रहा है? भगवान् या भक्त? किस का नैवेद्य बड़ा है? परिमाण में भक्त की अर्चना अल्प हो परन्तु समर्पण की भावना में वह स्वयं भगवान् बन गया है।

बने मूक उपहार से, भक्त और भगवान्।
भक्त मूर्त अर्चन बना, देव मूर्त वर-दान॥

भगवान् का धन अन्न बन कर, बल बन कर, ज्ञान बन कर उमड़ रहा है, उबल रहा है, उछल रहा है। वही उसमें रयित्व है—रमणीय रयित्व। लक्ष्मी को विष्णु की पत्नी इसी लिए ही तो कहते हैं कि वह विष्णु की अर्धाङ्गिनी होकर यज्ञ कर रही है—देव-लीला में लग रही है।

अहो! आज तो भक्त ने भी भगवान् ही का वेष धारण कर लिया है। वह अपनी रयि से खेल रहा है। नहीं, उसे खेलने का ध्यान ही कहाँ है? खिलाड़ी की विभूतियाँ उसे साधन बना स्वयं लीला में लग रही हैं। भक्त ने अपने धन को "वाज" का रूप दिया है—अन्न का, बल का, ज्ञान का। यह अन्न, बल तथा ज्ञान अब कोई उसके रोके

रुक सकता है ? उसमें तो वह जाने की बाढ़-सी-आ गई है।

प्रभु ने कभी कहा नहीं कि मैं देता हूँ। परन्तु कहीं हवा, कहीं पानी, कहीं तिनका, कहीं पत्ता, कहीं फल और कहीं प्रकाश की किरण बन-बनकर अत्ताओं के अंग-अंग में पहुँच रहा है। अन्न बल बना जाता है, बल ज्ञान। यह प्रभु की स्वाभाविक दान-लीला का फल है। आज भक्त की वृत्ति भी यही हो रही है। उसके भाण्डारों के मुख अपने-आप खुल रहे हैं।

ज्यों रानी छवि सच की, रही रावरी खेल।
सन्त साधना में मगन, छवि-रस रही उँडेल॥

*
* *

भिखारी

विशो विशो वो अतिथिं वाजयन्तः पुरुप्रियम्।
अग्निं वो दुर्यं वचः स्तुषे शूषस्य मन्मभिः ॥७॥ ८७

ऋषिः—गोपवनः=रक्षाभिलाषी।

(विशः विशः) प्रजा-प्रजा के (पुरुप्रियम्) जन-प्रिय (अतिथिम्) अतिथि (वः वः) तुम्हे (अग्निम्) अग्नि-देव को, (दुर्यं) द्वार पर दी जा रही (वचः) आवाज़ के रूप में (वाजयन्तः) हम अन्न, बल तथा ज्ञान की कामना करनेवाले (शूषस्य) परम आनन्द की (मन्वभिः) भावनाओं से (स्तुषे) अपने-अपने मन में स्तुति करते हैं।

आज प्रातःकाल से मेरे द्वार पर किसी ने अलख जगाई है। कैसी प्यारी आवाज़ है ? मीठी, सुरीली और फिर तेज़। किसी के दिल से निकलती है और दिल-ही-दिल में

घर करती जा रही है। इस आवाज़ में ओज है, तेज है। इसकी प्रेरणा के आगे कोई निठल्ले-से-निठल्ला पुरुष भी शन्ति से नहीं बैठ सकता। इसमें उत्साह है, उकसावट है। आलस्य पर, प्रमाद पर एक कोड़ा-सा पड़ता है। यजमान इस मीठे कोड़े का मज़ा लेता है।

यह आवाज़ किसकी है? किसी फेरीवाले की? फेरीवाला स्वयं तो दीखता नहीं। भटक रही आवाज़ का रूप धारण किए द्वार-द्वार पर पहुँच रहा है। जोगी स्वयं अलख-सा बन रहा है—न रुकनेवाली अलख-सा।

हम अन्न चाहनेवाले, बल चाहनेवाले, ज्ञान चाहनेवाले इस आवाज़ को सुनते हैं और इसकी सुरीली लय पर मुग्ध हो जाते हैं। अन्न का, बल का, ज्ञान का सार यही आवाज़ है। कैसी मीठी और फिर कैसी कड़ी आवाज़ है?

इस आवाज़ में आलस्य था नहीं, पुरुषार्थ था, अनथक परिश्रम का, निरन्तर यज्ञ करते जाने का, विना ग्लानि के कर्त्तव्य पालन कर उसके फल से उपेक्षा कर देने का आनन्द है।

मेरे मन! यह आवाज़ तो अग्नि-देव की है—लोकप्रिय अग्नि-देव की। जनता का प्यारा देवता अग्नि-देव है। सर्व-साधारण प्रेरणा से, पुरुषार्थ से, आत्म-त्याग से, आत्माहुति से प्यार करते हैं। व्यक्ति निठल्ला बैठ सकता है, समुदाय नहीं। जमघट को तो जहाँ भी इकट्ठा करोगे उपद्रव का भय रहेगा। जनता तो एक आग है जिसे यदि यज्ञ में न लगाया गया तो स्वयं अपने घर को भस्म कर देगी।

इस आग को वेद के मन्त्रों की सुरीली रागिणी सुनाओ। इसे हव्य दो। आत्माहुति की गाथाओं के साथ अपने बलिदान का पुण्य दृश्य दिखाओ। लोकाग्नि इसी दृश्य पर मस्त हो जाती है। फिर उससे जितना यज्ञ चाहो करा लो। जनता में आत्म-त्याग की भावना जगते देर नहीं लगती। वे कुछ भी त्याग करने को तैयार रहते हैं। उन्हें कोई अलख सुना दे। अलख स्वयं आग है—न दीखने-वाली आग।

मैं इस अलख पर मस्त हूँ, फेरी दे रही अलख पर, हृदय-हृदय में आग लगा रही अलख पर, अन्न की, बल की, ज्ञान की आहुति ले-लेकर उसे ज्वालाओं के मुख में दे रही अलख पर। मेरे मन की शान्ति इसी अलख में है। मुझ यजमान का यज्ञ अलख है। कोई मेरे द्वार पर अलख पुकारता है, मैं उसे सुनता हूँ और प्रातःकाल का उदित हुआ अग्नि-देव मान कर उसका स्वागत करता हूँ।

तुम प्रभु ! प्रेम-भिखारी।

जिनके पग पर लछमी लोटे, सो याचक, बलिहारी !
द्वार-द्वार पर अलख पुकारें, लख न सकें संसारी॥
भाँति-भाँति के कौतुक रच कर, बैठा खोल पिटारी।
दर्शक-हृदय मुग्ध लीला पर, माँगे भीख मदारी॥
जिनकी सुध खो लोक-लोक में, ढूँढ-ढूँढ मति हारी।
सो प्रभु आँचल गहें भिक्षु बन, बलिहारी "महतारी॥"

***

अमानत

बृहद्वयो हि भानवेऽर्च्चा देवायाग्नये ।
यं मित्रं न प्रशस्तये मर्त्तासो दधिरे पुरः ॥ ८ ॥ ८८

ऋषि:—पूरुः=पालक महान् ।

(यम्) जिसे (मर्त्तासः) मनुष्य (प्रशस्तये) शिक्षा लेने के लिए (मित्रम् न) मित्र की तरह (पुरः) अपने सामने (दधिरेः) रखते हैं, उस (भानवे) प्रकाशमान (अग्नये देवाय) अग्नि-देव के अर्पण (वृहद् वयः) अपनी लंबी आयु (हि) ही (अर्च्च) कर ।

मित्र वह है जो आड़े समय काम आए । जिसे हमसे प्रेम हो, जो हमारा हित करे, वही मनुष्य हमारा मित्र हो सकता है । कई मित्रताएँ सहवास से, कई वार्त्तालाप से, कई प्रेम-पूर्ण व्यवहार से आरम्भ होती हैं । अधिक आश्चर्य-जनक वे मित्रताएँ हैं जो विना बातचीत के, विना किसी सहवास के अपने-आप स्थापित हो जाती हैं । संसार की दृष्टि से एक महानुभाव ने दूसरे को कोई लाभ भी नहीं पहुँचाया, परन्तु इन दो महानुभावों में मित्रता हो गई है । कभी-कभी एक सज्जन दूसरे सज्जन को जानते भी नहीं, परन्तु फिर भी ये उनके प्रेम के पात्र हैं । इनकी कोई बात उन दूसरे महाशय को पसंद आ गई है । स्थिरतम प्रभाव सदाचार का होता है । यदि किसी का आचरण इतना अच्छा हो कि विना जाने हम उसका अनुकरण करने लग जाएँ तो

हमारे मन में उसके लिए अनुराग पैदा हो जाना स्वाभाविक है। जो आचार से पतित हो जाए, वह चाहे घनिष्ठ संबंधी ही क्यों न हो, हमारे हृदय में उसके लिए मैत्री का भाव क़ायम नहीं रह सकता। धड़ाबंदी और स्वार्थ के अभाव में मित्रता का आधार सदाचार ही होगा। सदाचारी से शिक्षा प्राप्त होती है। यह उसकी सबसे बड़ी कृपा है। वास्तविक मित्र वह है जिसे आदर्श के रूप में अपने सामने रखा जा सके।

अग्नि-देव ! तुम ऐसे ही मित्र हो। तुम्हें संपूर्ण संसार मित्र समझता है, यही नहीं, तुम्हें आचार में, व्यवहार में अपना आदर्श मानता है। आदर्श-वादी का मित्र आदर्श ही होता है। वह अन्य व्यक्तियों से प्यार इसी लिए करता है कि उनमें वह आदर्श पूर्ण अथवा आंशिक रूप में मूर्त हो गया है। आचार की पराकाष्ठा उदारता है और वह अग्नि-देव में अपनी परम सीमा में विद्यमान है। अग्नि-देव कृपण देव नहीं। दूसरे देवों से एकीभूत होने की शिक्षा यदि किसी से लेनी हो तो वह अग्निदेव से ही लेनी चाहिए। अग्नि-देव इसमें सबका पुरोहित है, अगुआ है। अनुग्रह करता है और जताता यह है कि उसने अनुग्रह नहीं किया। खिला औरों को रहा है पर दिखाता ऐसे है जैसे स्वयं खा रहा है। ऐसा मित्र और कौन हो सकता है ?

यही ख़ूबी सूर्य में है। वह प्रकाश-स्वरूप है। प्रकाश के स्वभाव में है—फैलना। किरण गति करेगी ही। ज्योति अपने अन्दर बन्द नहीं रह सकती। अग्नि आध्यात्मिक हो या भौतिक, आत्माहुति उसका स्वाभाविक गुण है।

ऐसे प्रकाश-स्वरूप देव के लिए, जिसकी सत्ता ही यज्ञ है, जो आहुति देता है और उस पर "इदन्न मम" कह छोड़ता है, जो बलिदान करता भी है और फिर कहता है कि नहीं किया —ऐसे उदार अग्नि-देव के लिए, हे मेरी जान! तेरे पास क्या है जो पुरस्कार के रूप में पेश करे। आज चिउँटी के घर भगवान् आए हैं। चिउँटी! तू क्या भेंट करेगी? अपने इस छोटे-से शरीर को, उसके अन्दर मचल रहे मन को, इस नन्हें-से शरीर और इस नन्हें-से मन की लीला की सूत्र-धार अपनी नन्हीं-सी आत्मा को—इस छोटे-से अपने-आप को—भगवान् के अर्पण कर दे।

यह तुझे किसने कहा कि शरीर छोड़ दे—आग में या पानी में या किसी घातक की छुरी की धार पर अपनी बलि दे दे? समर्पित शरीर तेरा नहीं, अग्नि-देव का है। अब तेरे पास तो यह शरीर अमानत के रूप ही में है। इसकी रक्षा कर। जी-जान से रक्षा कर। यह शरीर अग्नि-देव का है, इसलिए पवित्र है। इसे मैला न कर। किसी अनुचित काम में न लगा। अग्नि-देव की अमानत में ख़यानत न कर। तू अपनी आयु बढ़ा। तेरी आयु तो अब अपनी रही ही नहीं। तू इसका संरक्षक है—अग्नि-देव की एक देन का संरक्षक। अग्नि-देव के अर्पण जब आयु ही करनी है तो फिर लंबी आयु कर। इसे बढ़ा। इसका क्षण-क्षण अग्नि-देव की भेंट कर दे। अग्नि-देव खरा व्यापारी है। उसका हिसाब बना रहे। उसकी अमानत चलती रहे। खरे व्यापारी के साथ साहूकारे में

क्या आपत्ति ? यह व्यापार तो आनन्द की लीला है। लेने-वाला भी खुश, देनेवाला भी खुश।

***

ऋषि-पुत्र

अगन्म वृत्रहन्तमं ज्येष्ठमग्निमानवम्।
यः स्म श्रुतर्वन्नार्क्षे बृहदनीक इध्यते ॥६॥ ८६

ऋषिः—गोपवनः=ज्ञानशाधक।

हम (वृत्रहन्तमम्) पाप-ताप के सबसे अधिक विनाशक (ज्येष्ठम्) महान् (आनवम्) मानव जनों में विद्यमान (अग्निम्) उस अग्नि-देव को (अगन्म) प्राप्त हुए हैं (यः) जो (श्रुतर्वन्) श्रुति के घोड़े पर सवार (आर्क्षे) ऋषि-पुत्रों में (बृहत्+अनीकः) एक महान् ज्योतिर्व्यूह के रूप में (इध्यते स्म) प्रदीप्त रहा है।

आज हमें अग्नि-देव के दर्शन हो रहे हैं। क्या मैं वही हूँ जो पहिले था अर्थात् मनुष्य ? मेरे आगे से आवरण हट रहे हैं। पाप-ताप दूर हो गए हैं। अब तो मुझसे पाप से कुछ सम्बन्ध ही नहीं। मेरी अन्दर की आँख खुल गई है। कोई पर्दा रहा ही नहीं। मैं तत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन करता हूँ। धर्म का साक्षात्कार कर रहा हूँ। क्या मैं अभी मनुष्य हूँ ?

ऋषि होकर भी मेरी मनुष्यता क़ायम है। जिस आग की एक चिनगारी मुझे चुँधिया-सी रही है, उसका तो दर्शन होता ही मनुष्य को है। किसी और शरीर में उसकी उपलब्धि नहीं। मनुष्य के अंग-अंग में, नाड़ी-नाड़ी में, नस-नस में, रोम-रोम में यह आग विद्यमान है। विद्यमान तो पशु-पक्षी में, पेड़-

पौधे में, और तो और, पत्थर तथा पानी में भी है, परन्तु इसकी अनुभूति जैसी पौधे को है, पत्थर को नहीं, जैसी पशु को है, पौधे को नहीं, और फिर जैसी मनुष्य को है या होनी सम्भव है, वह तो चीज़ ही कुछ और है। आज मुझे वही अनुभूति हो रही है—वृद्ध अग्नि की अनुभूति, उस पुरातन आग की जिससे पुराना कोई पदार्थ हो ही नहीं सकता।

वह आग एक ज्योतिर्व्यूह है। प्रकाश की सेना की एक विशेष रचना है, यात्रा है, जलूस है, प्रोसैशन है। अनादि काल से चल रहा "अनीक" है—प्रोसैशन है। एक महान् प्रोसैशन है। एक आग है जिसका न आदि है और न अन्त। जल रही है और चल रही है। यह सृष्टि सब उसी आग की है।

यह आग सम्पूर्ण संसार में जल रही है पर उसकी विशेष वेदि "श्रुतर्वा" का हृदय है—श्रुति के घोड़े पर सवार तत्त्वदर्शी ऋषि का हृदय। जो एकान्त में बैठा गुह्य ध्वनियों को सुनता है और फिर उन पर सवार हो जाता है। जिसके लिए वह शरीर-भरा संसार एकान्त हो गया है। जो अपनी श्रुति के घोड़े पर चढ़ा इस कोलाहल-पूर्ण जगत् की, शान्त हृदय से सैर कर रहा है। वह ऋषि-पुत्र है, सात ऋषियों का और उसका वंश एक है। वह तारों के नीचे खड़ा उनका दिव्य सन्देश लेता है। यही उसकी श्रुति है जो उसे घोड़े का काम दे रही है—बाप के घोड़े का। गुरु-जनों के दिए हुए इस श्रुति के घोड़े पर सवार यह मानव-बालक इस

विशाल ब्रह्माण्ड की यात्रा कर रहा है। जहाँ उसकी दृष्टि पड़ती है, वहीं उसे आग जलती दिखाई देती है। तारों में आग है, चाँद में आग है, सूर्य में आग है। ग्रह-उपग्रह सब अग्नि के पुंज हैं। संसार के जिस अणु को ज़रा-सा रगड़ दो, झट आग उगल देता है।

चारों तरफ़ जाज्वल्यमान इस ज्वाला-मुखी से उसकी ओर एक अपना हृदय ही तो था। पर वहाँ भी, ज्यों ही उसकी हृदय की आँख खुली, अनादि अनन्त सर्वतोमुख जीवनाग्नि की यात्रा ही तो थी। इस आग के मुक़ाबिले में बाहर की आग धुआँ-सी है।

आज मुझे इस आग के दर्शन हो रहे हैं—इस "आर्च" —आर्ष आग के, मानव आग के। अकेले मुझे नहीं, ऋषियों की परम्परा में मुझे; श्रुति के घोड़े पर चढ़े वेद-वीरों में मुझे; अनादि-अनन्त आत्माग्नि की ज्योतिर्यात्रा में चल रहे ऋषि-पुत्रों में मुझे; हम सबको; मनुष्य-मात्र को; संपूर्ण ऋषि-सन्तान को।

***

ऋषियों का जन्म

जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः।
पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥१०॥

ऋषिः—वामदेवः=कमनीय देव, मनुः=मननशील।

(यत्) यह जो तू (सवृद्भिः) साथियों में (सह आभुवः) आ मिला है, यह (परेण) परम (धर्मणा) धर्म द्वारा (जातः)

तेरा जन्म हुआ। इस परम धर्म का स्वरूप यह है (यत्) कि (कश्यपस्य) तत्व-दर्शी ऋषि का (पिता) पिता (अग्निः) अग्नि-देव होता है, (माता) माता (श्रद्धा) श्रद्धा होती है और (मनुः) उसका मन (कविः) क्रान्तदर्शी हो जाता है।

ऋषि-दृष्टि प्राप्त होने के पश्चात् मनुष्य अनुभव करता है कि उसका दूसरा जन्म हो गया है। संसार उसे परिवर्तित-सा प्रतीत होता है। पहिले जो वस्तुएँ जड़ थीं, गूँगी थीं, वह अब बोलने लग पड़ती हैं। उसे सब ओर से सन्देश आने लगते हैं। वह इस संसार में अकेला नहीं है, अजनबी नहीं है। वह साथियों में है—सखाओं में। वह एक परिवार का सदस्य है—याज्ञिक परिवार का। सूर्य यज्ञ कर रहा है, वायु यज्ञ कर रही है, बादल यज्ञ कर रहे हैं, नदियाँ यज्ञ कर रही हैं। ब्रह्माण्ड का अणु-अणु यज्ञ कर रहा है। यह यज्ञ एक साम है—गीत है। नपे-तुले स्वर और ताल के साथ इस यज्ञ में मन्त्र-गान हो-हो कर आहुतियाँ डाली जा रही हैं। आज इस लय में इस नए यजमान की लय भी मिल गई। यह अब बाँधवों में है—यजमान बाँधवों में। कभी का बिछड़ा हुआ आज अपने परिवार में आ गया है।

यजमान का यह एक नया जन्म है—धर्म के हाथों जन्म, परम धर्म के हाथों जन्म। आख़िर जन्म पाकर मनुष्य एक नए घर में आँख ही तो खोलता है। यही दशा इस नए ऋषि की है। ऋषियों की श्रृङ्खला सनातन काल से चली आती थी। संसार था ही ऋषियों का। सृष्टि की सैर-गाह में प्रति-क्षण लाखों नए यात्री आ रहे हैं और लाखों आँखें

मूँदे चले जा रहे हैं। यह वाटिका इन मुँदें नयनोंवाले के लिए क्या है ? वे तो जैसे यहाँ आए और जैसे न आए। उनका यहाँ आना न आना बराबर है। यह घर तत्त्व-दर्शियों ही का है—ऋषियों ही का। ऋषि इस घर को जानते हैं। वे यहाँ एक परिवार में हैं—खेल रहे, यज्ञ कर रहे परिवार में। यह परिवार हमेशा आनन्द-मंगल मनाने-वालों का है। आज इनमें विशेष मंगल है क्योंकि इनमें एक नया परिवार-बन्धु सम्मिलित हुआ है। आज इनके यहाँ जन्मोत्सव है।

ऋषि का जन्म श्रद्धा की कोख से होता है। सत्य को स्वीकार करनेवाली—स्व अर्थात् अपना अंग बना लेनेवाली—बुद्धि का नाम श्रद्धा है। यह बुद्धि दिव्य है। सत्य रिवाजी नहीं, वास्तविक। किसी पुस्तक का, पन्ने का, बिरा-दरी का, परिवार का स्वीकार किया हुआ सत्य नहीं, किन्तु अपनी आत्मा का माना हुआ, साक्षात् देखा हुआ सत्य। इस सत्य की प्रतीक्षा में बैठने के लिए—इसकी भावना-मात्र अपने में पैदा होने देने के लिए लाखों आवरण अपने हृदय से हटा देने होते हैं। जिस संसार में हम रहते है, उसके संस्कार अत्यन्त दृढ़ हैं। उन्हें कोई हटाए भी तो कैसे ? जब तक वह अपना जीवन नए सिरे से आरम्भ करने को तैयार न हो, इस बे-लाग सत्य के संसार में जन्म ही कैसे ले ? वास्त-विक बालक ऋषि होता है। उसका जन्म श्रद्धा-देवी की गोदी में होता है।

ऋषि का पिता तो है ही अग्नि-देव। जिसने विश्व-याग

के इस आग्नेय रहस्य को पा लिया, वही ऋषि है। ऋषि-दृष्टि यज्ञ-दृष्टि का दूसरा नाम है। ऋषि आग का बेटा है। बे-लाग आग का—यज्ञ की बे-लाग आग का।

वह प्रभु-पुत्र है। उसकी मन की आँख खुल गई है। निरन्तर मनन के फल-स्वरूप उसका मन अब सचमुच मनु बन गया है। वह सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक को देखता है। आरम्भ से यज्ञ की एक शृङ्खला-सी चली आती है जो अनन्त काल तक इसी प्रकार चलती चलेगी। इस यज्ञ पर न देश की परिधि है न काल की। उसके क्रान्त-दर्शी मन ने उसे यह रहस्य बता दिया है। इस रहस्य के खुलते ही वह ऋषि हो गया है—ऋषियों के परिवार में जा मिला है। लोक-लोकान्तरों ने उसे अपना लिया है। अब विश्व उसका अपना है। वह उसके पिता अग्नि-देव की यज्ञ की वेदी ही तो है, उसकी माता श्रद्धा-देवी का लालनागार ही तो है। उसके कवि मनु-देव का कविता-कलाप ही तो है।

मेरे मन! क्या तू सचमुच मनु हो गया है? श्रद्धा की कोख से तेरा जन्म हो लिया? क्या तू अब अग्नि-पुत्र कश्यप है? पश्यक? ऋषि? तेरे सखा सहवर्ती कौन हैं? धर्म के जाए? विश्व-याग के देवता? हाँ! मेरे मन! तू खेल! इन खिलाड़ियों के साथ खेल। दूसरा जन्म है ही इसी खेलने के लिए।

चिनगारियाँ

सोमꣳराजानं वरुणमग्निमन्वारभामहे ।
आदित्यं विष्णुꣳ सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥१॥ ६१

ऋषिः—अग्निः=अग्रणी, आगे ले जानेवाला ।

हम (राजानम् सोमं) राजा सोम का, (वरुणम्) श्रेष्ठ (अग्निम्) अग्रणी का, (आदित्यम्) अदिति-पुत्र (विष्णुम्) व्यापक (सूर्यम्) सूर्य का (च) और (बृहस्पतिम्) वाणी के अधिपति (ब्रह्माणम) ब्रह्मा का (अनु-आरभामहे) पल्ला पकड़ते हैं—अनुकरण स्वीकार करते हैं ।

ब्रह्माण्ड की यज्ञ-शाला में यज्ञ करने के अनेक प्रकार हैं । चक्रवर्ती सम्राट् से लेकर दो पैसे के मजदूर तक सब अपने-अपने ढंग से यज्ञ कर सकते हैं । यज्ञ-भाव से कोई छोटा कार्य किया जाए या बड़ा, अध्यात्म की मण्डी में उसका भाव एक ही है । वहाँ क्रियाओं का मूल्य भावना की सत्यता से आँका जाता है, यज्ञ के बाह्य रूप से नहीं ।

राजा राज्य कर रहा है, यदि वह सोम है तो वह यज्ञ कर रहा है । सोम का अर्थ है—उत्पादक । राजा की राजनीति उत्पादक होनी चाहिए—अन्न की, बल की तथा ज्ञान की उत्पादक । उसके शासन में कला की, विद्या की, धन-धान्य की वृद्धि हो, तभी वह सचमुच राज्य करने का अधिकारी है । हम प्रजा-जन ऐसे ही राजा का पल्ला पकड़ते हैं ।

हम अनुयायी लोग ऐसे अग्रणी का पल्ला पकड़ेंगे जिसका आचार-व्यवहार अनुकरणीय हो । अगुआ श्रेष्ठ पुरुष होना

चाहिए। वह वास्तव में वरुण हो—मनुष्यों में वर, जैसे वधू वर के लिए अपना हृदयासन बिछा देती है, ऐसे ही प्रजा-जन राजा के लिए। अगुआ अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण अपने अनुयायिओं का दिल जीत ले, तभी वह अगुआ रह सकता है।

हम उस प्रेरक पुरुष का पल्ला पकड़ते हैं जो "अदिति-पुत्र" हो। अदिति "अदीना देव-माता" है। धर्म पर डट जाने की भावना अदिति है। धर्म के अटल नियमों का ज्ञान प्राप्त कर उन पर दृढ़ता से आरूढ़ हो जानेवाले पुरुष आदित्य कहलाते हैं। जिनके अपने जीवन में स्फूर्ति हो, वे दूसरों को भी स्फूर्ति प्रदान कर सकते हैं। वे सूर्य हैं—प्रेरणा करनेवाले सूर्य। उनकी इस स्फूर्ति का प्रभाव किसी संकुचित परिधि तक ही परिमित नहीं रहता। वे "विष्णु" हो जाते हैं। जनता के हृदयों में घर कर, प्रत्येक जन को अपने अनुरूप बना लेते हैं। उनकी शक्ति व्यापक होती है।

हम उस विद्वान् का पल्ला पकड़ते हैं जिसकी विद्या बोलती है—चतुर्मुख होकर बोलती है। जहाँ ज्ञान का धनी है, वहाँ वाणी पर भी उसका पूरा अधिकार है। उपदेश उसके मुख से इस प्रकार झड़ रहा है जैसे हिल रही फूलों के बोझ से झुक गई डाली से फूल।

संसार में कोई किसी भी पद पर खड़ा किया जाए, वह अपना कर्त्तव्य "इदन्न मम" कह कर पालन करता जाए। इससे उसे फल की आकांक्षा न हो। वह सोम हो—कला-वान्। कला उत्पादक धंधा है, भिखारी धंधा नहीं। शिल्पी

अपने शिल्प को भीख का साधन न बनाए। मनुष्य शिल्पी होकर राजा हो, श्रेष्ठ होकर अग्रणी हो। अदिति-पुत्र होकर व्यापक सूर्य हो—किरण-किरण के हाथ से प्रेरणा करनेवाला सूर्य। श्रेष्ठ ब्रह्म-वेत्ता होकर उपदेष्टा हो। ये सब अग्नि ही की भिन्न-भिन्न प्रतिमाएँ हैं। ये लोग लेते हैं देने के लिए। इनके पास शिल्प-धन है, आचार-धन है, विद्या-धन है—इन सब धनों को ये औरों में बाँट रहे हैं। शिल्प को कृतियों द्वारा, आचार को पथ-प्रदर्शन द्वारा, विद्या को उपदेश द्वारा जनता में बाँट रहे हैं, वितीर्ण कर रहे हैं।

प्रभो! हमने इन्हीं लोगों का पल्ला पकड़ा है। ये सब आप की विभूतियाँ हैं। हमने पीछे से इनका पल्ला पकड़ा है। हमें इनका अनुयायी बना दो। इनके अनुसरण से हमारा भी कल्याण हो जाए। हम सोम बनें, अग्नि बनें, विष्णु बनें, ब्रह्मा बनें। अपने गुणों की श्रेष्ठता से संसार-भर में श्रेष्ठ हों। हम मुखिया हों—सेवा में, शुश्रूषा में, पथ-प्रदर्शन में। हमारी श्रेष्ठता यही हो।

अग्नि-देव! हमें अपनी चमक की एक चिनगारी-सी दे दो। हमें पल्ला पकड़वा दो इस चिनगारी ही का। ये यजमान जन सब तुम्हारी चिनगारियाँ ही तो हैं।

***

स्वर्ग की सीढ़ी

इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठाण्यारुहन् ।
प्रभूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ॥२॥

ऋषिः—वामदेवः=संमजर्नीय प्रकाश ।

(एते) ये देवता (इतः) इस लोक से (उत् आरुहन्) ऊपर चढ़े। (दिवः) द्युलोक की (पृष्ठानि) भूमिकाओं पर (आरुहन्) चढ़ गए। (यथा पथः) जिस रास्ते से (अङ्गिरसः) अङ्गियों में रमण करनेवाले (भूर्जयः) यज्ञाग्नि प्रदीप्त कर (द्याम्) द्युलोक को (प्रययुः) प्राप्त हो गए।

सोम और वरुण, आदित्य और ब्रह्मा—ये सब देवता हैं—अति-मानव हैं। परन्तु ये उठे इसी मानव-लोक ही से हैं। साधारण जनों में से ही तो असाधारण व्यक्ति बन गए हैं। द्युलोक की इन भिन्न-भिन्न भूमिकाओं पर चमक रहे हैं। वे भी दिन थे जब इन मानवों की दृष्टि भौतिक थी। पर अब ये अध्यात्म के आसमान के तारे हैं। इस आसमान का केवल एक लोक नहीं—केवल एक मंजिल नहीं। कोई एक मंजिल पर है, कोई दूसरी पर। पर हैं सभी इस आध्यात्मिक द्युलोक ही में।

इस आध्यात्मिक द्युलोक की सीढ़ी है—"अंगिरा" बनना। अंग होते हुए अंगी के मज़ों का मज़ा लेना। अपनी सत्ता अलग न मान कर अपने-आपको किसी अवयवी का अवयव मानना। संसार अवयवियों का घर है।

अकेला कोई पदार्थ यहाँ न जी ही रहा है और न मर ही। जैसे हमारे शरीर के किसी अंग का अलग जीवित रहना असंभव है, ऐसे ही संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अंगों का। हाथ जी सकता है, हाथवाले के साथ। हम ज़रा विचार कर देखें। हमारा वैयक्तिक जीवन समुदाय के जीवन पर, समुदाय का किसी बृहत् समाज के, उस बृहत् समाज का अन्त को जाकर समूची मानव-जाति के जीवन पर निर्भर प्रतीत होगा। राष्ट्र राष्ट्रों के साथ बँध रहे हैं, जातियाँ जातियों के साथ। समूचे मानव-संसार का अन्तिम हित एक ही है।

इस अंगी-दृष्टि को ज़रा ौर अधिक विस्तृत कर लो। तब मनुष्य, पशु, पौधे, हवा, पत्थर और पानी एक ही संस्थान के विविध भाग प्रतीत होंगे। प्रत्येक सजीव पिण्ड दूसरे सजीव पिण्डों के साथ अपने जीवन के सूत्र द्वारा संबद्ध है। फिर सजीव पिण्ड निर्जीव पिण्डों ही के जीते-जागते रूप हैं। सजीव-निर्जीव का एक दिव्य बन्धुत्व-सा प्रतीत होता है। आत्मा शरीर का और शरीर आत्मा का भाई है। इस शरीर के नाते, आत्मा का, संपूर्ण जड़-संसार के साथ एक अलौकिक नाता-सा हो गया है।

जिसे इन अलौकिक नातों का आनन्द आ गया है, वह इस लोक से ऊपर उठ गया है। उसकी दृष्टि अंगी-दृष्टि है। वह इसी दृष्टि में रमण करता—इसका खूब आनन्द लेता है। वेद की भाषा में वह "अंगिरा" हो गया है।

यह अंगी-संसार अग्नि-देव ही की दिव्य रचना है। संबन्ध सभी अग्नि-देव के द्वारा ही होते हैं। कोई पदार्थ

किसी अवयवी का अवयव बनता ही तभी है, जब दो अवयवों में अग्नि की—ताप की—लहर दौड़ जाए। अंगी-दृष्टि वास्तव में अग्नि-दृष्टि है—दूसरे शब्दों में यज्ञ की दृष्टि।

मनुष्य अपने-आपको किसी अंगी का अंग मान कर इसी अंग-भाव का आनन्द ले—इसी को यज्ञ-भावना कहते हैं। जहाँ व्यक्ति ने अपने-आपको समष्टि के समर्पण कर दिया, वह वहीं यजमान हो गया। वह आग में पड़ कर उसकी ज्वाला बन गया—विश्वाग्नि की ज्वाला। वेद ने ऐसे ही मनुष्यों को "भूर्जयः" कहा है—विश्व-याग की आग जलानेवाले हुतात्मा। इन लोगों ने सचमुच भूलोक को जीत लिया है। ये पृथिवी से ऊपर उठ गए हैं। अब तो ये देवता हैं, द्युलोक में रहते हैं—आध्यात्मिक द्युलोक में।

इस द्युलोक की सीढ़ी विश्व-याग की आग है। आध्यात्मिक स्वर्ग का स्थान विश्व-याग की ज्वालाओं में है—अंगियों के अंगित्व में, इस पृथिवी लोक को जीत चुके यजमानों की यज्ञ-भावनाओं में।

***

अग्नि-होत्र

राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहे।
ईडिष्वा हि महे वृषं द्यावा होत्राय पृथिवी ॥३॥ ९३

ऋषिः—वामदेवः=कमनीय व्यवहारी।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (महे) महान् (राये) रमणीय (दानाय) दान के लिए हम (त्वा) तुम्हें (समिधीमहे)

प्रदीप्त करते हैं। (वृषन्) हे दान की वृष्टि करनेवाले! (महे) महान् (होत्राय) यज्ञ के लिए तुम (द्यावा+पृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी की (ईडिष्व हि) प्रशंसा करो ही।

आज हमने आग जलाई है—इसलिए कि हम दान करें। छोटे-मोटे दान तो विना श्रद्धा के "ह्रिया भिया"—लोक-लाज से, धर्म-भीरुता से भी हो सकते हैं। हम मानें न-मानें, कुछेक टके तो बिरादरी अपने बल से भी रखवा ही लेती है। थोड़े-से पैसों के लिए हम समाज से लड़ने नहीं जाते। इसको चाहे समाज का भय समझा जाए या बिरादरी की लाज। हम इतना दान तो अपने दिल की कमज़ोरी से भी दे ही देते हैं। आज हम चाहते हैं कि हमारा दान महान् हो। उस दान के महत्त्व का—उसकी पूजा का—भाव स्वयं हमारे हृदयों में अंकित हो जाए। जब हम यह दान कर रहे हों, हमारा हृदय इसकी गम्भीरता को अनुभव करे, इसे एक पवित्र कार्य समझे। यह अनुभूति विना यज्ञ की भावना के नहीं हो सकती। इसके लिए धूनी रमाने की—आग जलाने की, अग्नि-देव की उपासना करने की—आवश्यकता है। जब तक कि हम अपने-आपको विश्व का अंग नहीं समझते हम यज्ञ नहीं कर सकते। जब तक हमारा रोम-रोम इस भावना से शराबोर नहीं हो जाता कि हम उसी आग की चिनगारी हैं जिसके द्वारा ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण परमाणु एक हो रहे हैं, तब तक इस महान् दान के हम अधिकारी ही नहीं हैं। भौतिक संसार को भौतिक ताप ने और फिर इस भौतिक को आध्यात्मिक अग्नि ने ही आश्रय प्रदान कर रखा है। योगी

के हृदय में इस अग्नि की लपटें उठ रही हैं। बाहर की धूनी अन्दर की आग का केवल धुआँ ही है। आज हमने अपने अन्दर आग जलाई है।

आज हमें एक महान् अग्नि-होत्र करना है। भगवान् का अग्नि-होत्र, दसों दिशाएँ कर रही हैं। विश्व-याग की आग में सब ओर से आहुति पड़ रही है। हर क्षण आहुति पड़ रही है। कितना बड़ा, विशाल, व्यापक यज्ञ हर समय हो रहा है?

अग्नि-देव! मैंने तुम्हें एक छोटे-से कुण्ड में तो बहुत दिनों प्रदीप्त किया ही है। प्रतिदिन प्रदीप्त करता ही हूँ। तुम्हारी इस छोटी-सी ज्वाला में मुझे एक आध्यात्मिक ज्योति के दर्शन होते हैं। मैं इस लुक-छिप के रूप में प्रकट हो रही ज्योति की झाँकियों पर मुग्ध भी बार-बार हुआ हूँ। पर एक कसक है जो दिल-ही-दिल में रही जाती है। या तो ये सिरे से झाँकियाँ ही न होतीं। मेरे लिए केवल आग होती। लकड़ी लकड़ी ही रहती। पर मैंने तो हमेशा पढ़ा है—"अयन्त इध्म आत्मा"—यह आत्मा तेरा ईंधन है। मेरी आत्मा ईंधन बनी हो, न बनी हो, अग्नि-देव यह तो तुम्हीं जानो कि तुम मेरे सूखे काठ से भी प्रदीप्त हुए या नहीं। पर इतना ज्ञान तो मुझे भी है कि मैंने जल रही लकड़ी को तुम्हारी आत्मा समझा है। जो आग मैंने जलाई है, उसके पीछे कोई आत्मवान् अग्नि-देव था। मेरे मानस नेत्रों को उसकी झाँकियाँ मिली हैं। वे झाँकियाँ न होतीं तो यह यान्त्रिक क्रिया प्रतिदिन कैसे हो पाती?

इन झाँकियों ने मुझे बेचैन कर दिया है। आत्मवान् अग्नि-देव की लपटें एक झाँकी में कैसे समा जायँ ? उसका जाज्वल्यमान रूप देखने की इच्छा है। पूरा स्पष्ट दर्शन करने की अभिलाषा है। ये झाँकियाँ भी तो मुझे दर्शन का प्रलोभन दे रही हैं। अग्नि-देव ! वेद ने ब्रह्मचारी के हाथों तुम्हें दो समिधाएँ दिलवाना चाही हैं—एक पृथिवी लोक की, दूसरी द्युलोक की। क्या ये दो समिधाएँ मैं तुम्हारे अर्पित कर सकता हूँ। यह लोक और परलोक दोनों फूँक दूँ, शरीर दे दूँ, आत्मा दे दूँ, जमीन फूँक दूँ, आसमान फूँक दूँ।

पहिले यह जमीन आसमान मेरे हों भी। मैं इन्हें अपना बना तो लूँ। सम्पूर्ण विश्व पहिले मेरा घर बने भी। तब कहीं "घर फूँक तमाशा देख" की नौबत भी आ सके।

अग्नि-देव ! तुम्हारी झाँकी अब मेरे हृदय में समा नहीं सकती। यह आग मेरे अंग-अंग में छा रही है, मेरी नस-नस, नाड़ी-नाड़ी को अपना ईंधन बना रही है। यह आग भड़केगी। इस उछलती आग को मैं अपने हृदय के कुण्ड में बंद कैसे रखूँगा। इसकी ज्वालाएँ अभी से बाहर लपकने लगी हैं। वे तो अपने-आप एक व्यापक जीभ-सी बनी जाती हैं। उन्हें द्युलोक से परे चैन ही नहीं पड़ती। वे जमीन-आसमान दोनों को अपने सुवर्णीय संकेतों में समेट रही हैं। उन्हें यही दो समिधाएँ पसन्द हैं। अपनी मूक भाषा में वे इसकी प्रशंसा कर रही हैं। आज मेरी आँखों में विश्व से कोई छोटी चीज जँचती ही नहीं। मुझे विश्व प्यारा है। इसके अणु-अणु से मुझे प्रेम है। यह प्रेम

मेरे प्यारे की भेंट है। आज मैंने एक महान् अग्नि-होत्र किया है—इस लोक का अग्नि-होत्र, पर-लोक का अग्नि-होत्र। मैंने ये दोनों लोक विश्वाग्नि की भेंट कर दिए हैं। शरीर भेंट कर दिया है—यह मेरी पृथिवी है। आत्मा भेंट कर दी है—यह देश द्युलोक है। परमात्माग्नि में ये दोनों लोक स्वाहा कर दिए हैं। यह दान रमणीय दान है—"रयि" है। दान की लीला आज हुई है। दे रहा हूँ और ले रहा हूँ। आत्मा दे दी है। किसे ? विश्व को। विश्व दे दिया है। किसे ? आत्मा को। लेने में लोभ नहीं, देने में अभिमान नहीं। देना लेना हो गया है, लेना देना।

अग्नि-देव ! यह सब तुम्हारी कृपा है। यह सब तुम्हारा ही महान् "होत्र" है—अग्नि-होत्र। महान् अग्नि-होत्र ! रमणीय अग्नि-होत्र !! अदन (भोजन) दान है और दान अदन (भोजन)।

* * *

कविताग्नि

दधन्वे वा यदीमनु वोचिद्ब्रह्मेति वेरु तत् ।
परि विश्वानि काव्या नेमिश्चक्रमिवा भुवत् ॥४॥ ६४

ऋषिः—सोमः=नेतिज्ञानयुक्त ।

(यत्) जिस (ईं वा) भी यज्ञ को मनुष्य (दधन्वे) संपादित करे (अनु) उसके पश्चात् (वोचित्) कह दे (ब्रह्म इति) यह ब्रह्म की कृति है। (तव) वह (उ) वास्तव में (तत्) उस यज्ञ के तत्त्व को (वेः) जानता है। (विश्वानि) संपूर्ण

(काव्या) काव्यों को अग्नि-देव ने (परि-अभुवत्) इस प्रकार घेर रखा है (इव) जैसे (नेमिः) हाल ने (चक्रम्) पहिये को।

मनुष्य की शक्ति स्वल्प है। उसके प्रयोग के लिए भी वह ब्रह्माण्ड में कार्य कर रही अनेक शक्तियों पर आश्रित है। मनुष्य कोई काम भी तो केवल अपने बल से नहीं कर सकता। उसे साँस लेने के लिए हवा की, देखने के लिए रूप की, सुनने के लिए शब्द की, खाने के लिए भोजन की, रहने के लिए घर की, घूमने के लिए रास्ते की, बैठने के लिए जगह की आवश्यकता है। फिर इसे यह अभिमान ही क्यों हो कि मैं कर्त्ता हूँ।

किसी कुकर्म के सम्बन्ध में तो कहा भी जा सके कि इसमें बुराई का अंश मनुष्य की अपनी बुरी भावना ही के कारण आया है। भले कर्म का तो उसे अवसर मिला है। संसार में सारी सामग्री जुटी-जुटाई रखी है। किसी को भूख लग रही थी, तुमने उसे खाना खिला दिया। वास्तव में वह खाना था ही उसका। किसी पुराने सुकर्म द्वारा इसने उसे उपार्जित किया था। उसके सुकर्मों का सुफल तुम्हारे हाथों मिल गया। तुम्हारे हाथ बिना कमाई किए मुफ़्त का श्रेय ले रहे हैं। इसके लिए तुम उस भूखे के आभारी हो। जगत् ब्रह्म का है, उसकी सारी सामग्री ब्रह्म की है, तुम भी ब्रह्म के हो। फिर तुम्हें इसका अभिमान क्यों है कि तुम सुकर्म के कर्त्ता हो? सुकर्म करना और उनका श्रेय ब्रह्म को दे देना—यही यज्ञ का रहस्य है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता ।

सुकर्म ब्रह्म के अर्पण करें तो कुकर्म क्यों नहीं ? इस न्याय से तो मनुष्य अपने कर्मों का उत्तरदाता ही न रहे। नहीं ! यह बात नहीं ! संसार की सभी सरकारें इसी नीति से चल रही हैं। पुलीस का सिपाही अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए सरकार का प्रतिनिधि है परन्तु यदि अत्याचार कर बैठे तो उसका दण्ड वह स्वयं भुगतेगा, सरकार नहीं। ऐसे ही हमारी आध्यात्मिक सरकार।

यह भाषा कविता की है। हाँ ! यज्ञ है ही कविता। परमेश्वर कवि है। उसका बनाया ब्रह्माण्ड भी एक सुन्दर कविता है। यज्ञ-भावना से जो भी कार्य किया जाए, वह कविता है। यज्ञ में भावना की प्रधानता रहती है। यही काव्य का भी रहस्य है। काव्य रसात्मक वाक्य है, रसात्मक कार्य। बात एक ही है। यज्ञ कोई करे, उसका संचालक अग्नि-देव ही है। अपने हृदय की वेदि पर कविताग्नि जलाए विना यज्ञ नहीं हो सकता। दरख़्त उगाना और उसके फल से उपेक्षा कर लेना—इसके लिए माली को कवि होना चाहिए। वह अपनी सफलता दरख़्त लगाने की कला के विकास ही में समझे जैसे चित्रकार अपने चित्र की चारुता पर मस्त है। उसके चित्र का महत्त्व उन रुपयों-पैसों से नहीं आँका जा सकता जो मंडी में उसके मूल्य-रूप में प्राप्त होंगे। सच तो यह है कि कला वस्तु ही रुपयों-पैसों से ऊपर की है। यज्ञ के विषय में भी वस्तु-स्थिति यही है।

जो कर्म "इदन्न मम" कह कर किया गया, वही यज्ञ है। अग्नि याग के चक्र का हाल है। पानी से बादल, बादल से फिर पानी—संसार की सभी घटनाएँ इसी चक्र-रूप में ही चल रही हैं। पशु पौधों की उगली हुई हवा खाता है, पौधा पशुओं की उगली हुई। दाने से वृक्ष पैदा हो रहा है, वृक्ष से दाना। ये सब चक्र काव्य-रूप हैं। इनकी तह में किसी कवि की भावुकता काम कर रही है। इस समूची भावुकता का आधार—इन काव्य-रूप संपूर्ण चक्रों का हाल—अग्नि-देव है।

हमारे यज्ञ-याग का कर्त्ता-धर्त्ता वही है। हमारे सुकर्म का श्रेय उसी को है। ब्रह्म उसी अग्नि-देव ही का एक और नाम है।

हव्य आग घृत आग है, हैं समिधाएँ आग।
आग याग बन गा रही, 'इदन्न मम' का राग॥

* * *

यातुधान का बल

प्रत्यग्ने हरसा हरः शृणाहि विश्वतस्परि।
यातुधानस्य रक्षसो बलं न्युब्ज वीर्यम्॥५॥ ६५

ऋषिः—पायुः=रक्षक।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (विश्वतः परि) इस विश्व के चारों ओर से (यातुधानस्य) कष्ट देनेवाले के (हरः) तेज को (हरसा) अपने तेज द्वारा (प्रति-शृणाहि) हटा दो। (रक्षसः) अत्याचारी के (वीर्यम्) वीर्य तथा (बलम्) बल को (नि-उब्ज) भली प्रकार तोड़ दो।

आज विश्व विश्व नहीं है। इसमें व्यक्ति विद्यमान हैं, जातियाँ और राष्ट्र विद्यमान हैं, परन्तु समूचा विश्व कहीं है ही नहीं। इस समय विश्व में यदि किसी चीज़ का अभाव है तो विश्व-पने का। विश्व की, विश्व-रूप में कोई चिन्ता ही नहीं करता।

विश्व एक परिवार है। व्यक्ति तथा समूह सब उसके अंग हैं। यदि वे विश्व को अंगी मान कर अपने-आपको उसका अंग समझ लें, तब तो विश्व का विश्व-रूप क़ायम रह सकता है। अन्यथा वह एक यान्त्रिक मिश्रण है, रासायनिक मेल नहीं। और अंग-अंगी भाव तो इससे भी ऊँची चीज़ है। वह तो तब आता है जब अंगों का आपस में अभेद हो। एक अंग का सुख-दुःख सभी अंगों का सुख-दुःख माना जाए।

इस समय विश्व की यह अवस्था कहाँ है? व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों इसके अंग हैं, परन्तु इन अंगों में अभेद का भाव तो कहाँ, इसके विपरीत एक दूसरे को दुःख देने ही का भाव विद्यमान है। वर्त्तमान विश्व एक ऐसा शरीर है जिसके अंगों ने अपना हित एक दूसरे पर अत्याचार करने में समझा है। यह शरीर यातुधानों का मेल है। राक्षसों की लीला-स्थली है।

हमारी पृथिवी की यही दशा है, अन्य लोकों की परमेश्वर जाने। पृथिवी पर भी देवताओं का सर्वथा अभाव नहीं है। व्यक्ति-रूप में देवता विद्यमान हैं, परन्तु समूहों पर यातुधानों ही का प्रभुत्व है। जातियों तथा राष्ट्रों पर राक्षसों का

अधिकार है। जो बात व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार में अच्छी नहीं समझी जाती, जातियों के पारस्परिक बर्ताव में उसे उचित ही नहीं, आवश्यक मान लिया जाता है। राष्ट्रों का जीवन ही इसी में समझा जाता है कि अन्य राष्ट्रों को दबाएँ, उन्हें छल से, कपट से, अत्याचार से अपने अपने अधीन रखें। हमारे सामूहिक जीवन पर राक्षसी तेज काम कर रहा है। राष्ट्रिय बल का अर्थ ही आज बलात्कार की शक्ति है। वैयक्तिक वीरता दीनों-दुःखियों की रक्षा का दूसरा नाम हो तो हो, राष्ट्रों की वीरता का अर्थ तो है ही दूसरों को पादाक्रान्त करने की शक्ति।

इस वीरता को दबाने की, इस बल को नष्ट-भ्रष्ट कर देने की आवश्यकता है। राक्षसी तेज के स्थान में दिव्य तेज का प्रभुत्व स्थापित कर देने से ही विश्व का उद्धार हो सकता है। विश्व में परिवार-भावना तभी जगाई जायगी जब इसके अंग-भूत देश तथा राष्ट्र सभी एक-दूसरे के हित में अपना हित समझें। आचार के जो नियम आज व्यक्तियों पर लागू किए जाते हैं, वही राष्ट्रों पर भी लागू किए जाएँ। हमारी अन्तर्राष्ट्र नीति का सूत्र अविश्वास नहीं, प्रेम हो, सहयोग हो। हम विश्व-व्यापी यज्ञ करें। देशों के देश विश्व-याग की आग में अपने-आपको स्वाहा करने को उद्यत हों। जैसे संत वैयक्तिक वीरता से काम लेकर डाकुओं तक को अपने अजेय प्रेम की मोहनी से जीत लेता है, ऐसे ही यदि जातियों की जातियाँ संत बन जाएँ तो झट विश्व का कल्याण हो जाए। जो धन आज भारी-

भरकम जंगी बेड़ों, पन-डुब्बियों, घातक वायु-यानों, विषैली गैसों आदि के निर्माण में नष्ट हो रहा है, वह कहीं जनता की शिक्षा तथा रक्षा में लग जाए तो यह पृथिवी सचमुच देव-पुरी हो जाए। इस सुरासुर संग्राम में देवताओं को संघटित हो जाने की आवश्यकता है। इन्हें तो शत्रु से भी प्रेम ही करना है। उन्हें प्रेमी बनाना है। यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे राक्षसों से ही इन्हें यज्ञ की वेदि पर आत्माहुति दिलवानी है। यही देव-भाव का प्रभुत्व है। यही अग्नि वा वह तेज है जो आसुरी तेज के प्रभाव को हर लेगा।

अग्नि-देव! अपने इस शक्ति-हर तेज की शक्ति बढ़ाओ। दूसरों की ज्योति को बुझा देने की आवश्यकता नहीं। अपनी दीप्ति को और प्रदीप्त कर दो जिससे अन्य सब ज्योतियाँ तुम्हारी ज्योतियों में विलीन हो जाएँ। आसुरी बल दैवी बल के अधीन हो जाय—स्वयं दैवी बल बन जाय। वीरता, देवता की हो चाहे असुर की, चीज़ एक ही है। उपयोग के भेद से उसका व्यवहार विभिन्न हो जाता है। अग्नि-देव! वास्तविक वीर तुम्हीं हो। असुर, भटक गए देवता ही तो हैं। इन्हें फिर से देव बना दो। इनकी आसुरता के केवल 'अ' को भस्म कर दो। फिर यह सब "सुर" हो जाएँगे। इनका रमण सुन्दर होगा। सुख-प्रद होगा। विश्व असुरों के स्थान में सुरों की लीला-स्थली हो जायगी। सम्पूर्ण संसार स्वर्ग बन जायगा।

*
* *

त्वमग्ने वसूँरिह रुद्राँ आदित्याँ उत ।
यजा स्वध्वरं जनं मनुजातं घृतप्रुषम् ॥ ६ ॥ ९६

ऋषिः—प्रस्कण्व=प्रकृष्ट मेधावी ।

(अग्ने) हे अग्नि-देव ! (त्वम्) तुम (इह) इस संसार में (वसून्) धन के प्रतिनिधि वैश्यों को (रुद्रान्) बल के प्रतिनिधि क्षत्रियों को (उत) और (आदित्यान्) धर्म के प्रतिनिधि ब्राह्मणों को—सार यह कि (घृतप्रुषं) घृत सींच रहे (स्वध्वरम्) सुन्दर यज्ञ के स्वरूप प्रत्येक (मनुजातम्) मानव (जनम्) जन को (यज) संघटित कर विश्व-याग में लगाओ।

संसार में तीन ही तो शक्तियाँ हैं—धन, बल, और धर्म। इन तीन के सहारे संपूर्ण मानव-समाज स्थिर है। जीवन की सब तरह की सामग्री धन है। वेद इसे "वसु" कहता है। अन्न वसु है, वस्त्र वसु है, वास-स्थान तो वसु है ही। रुपया-पैसा, हीरा-मोती—ये सब वसु हैं। किसी भी प्रकार से इनका व्यवसाय करनेवाला मूर्त वसु है। शास्त्र की भाषा में उसे वैश्य कहते हैं।

धन का उद्देश्य है बल की उत्पत्ति। वह अन्न अन्न नहीं जो बल में परिवर्त्तित न हो जाए। धन किसी भी रूप में हो, उसका लक्ष्य शरीर को पुष्ट करना ही है। जाति का सबसे बड़ा धन नागरिकों के हृष्ट-पुष्ट शरीर हैं। धन बल को पैदा करता है और फिर उसी के सहारे से जीता है—

रहता है। वेद ने बल का नाम रखा है रुद्र, क्योंकि वह राक्षसों को सताता है। धनवानों में व्यवस्था ही न रह सके, यदि राज्य उनमें पारस्परिक न्याय की स्थापना न करे। क्षत्रिय दण्ड का—व्यवस्था का—प्रतिनिधि है। वह मूर्त नियम है।

दण्ड विकसित होकर धर्म बन जाता है। बल का उत्तम प्रयोग रक्षा है। शारीरिक बल काम की वस्तु है परंतु यदि उसकी पीठ पर आत्मा का बल न हो तो उससे लाभ होने की संभावना ही नहीं। शरीर बलवान् हो पर आत्मा में साहस न हो तो शारीरिक बल धरा-का-धरा रह जाता है। साहस का उत्कृष्ट रूप है धैर्य। वीरता उन्नति करते-करते धीरता बन जाती है। बलवान् उतावली नहीं करता। जिसको आत्मा की शक्ति का अनुभव हो गया है, वह अपने-आप तो आपे से बाहर क्या होगा, दूसरों को क्रोध में आता देख कर हँस देता है। यह हँसी उसका अमोघ अस्त्र है। वह अटल धर्म की चट्टान पर खड़ा है। उसने सहारा ही उन अटूट नियमों का लिया है जो विश्व-भर की सत्ता का आधार हैं। पहिले वे नियम टूटें, विश्व के नीचे का आधार खिसक जाए, तब कोई उसका बाल बाँका करे। ब्राह्मण अदिति-पुत्र है—अदीना देवमाता का लाल है। उसे वेद ने आदित्य कहा है। वह अटल न्याय—नियम की गोद में बैठा है। उसकी रक्षा का भार जगज्जननी पर है।

"वसु" मनुजात है—मानव है। "रुद्र" मनुजात—मानव है। आदित्य भी मनुजात अर्थात् मानव है। इन

मानवों की विशेषता यह है कि इनमें विश्व-स्नेह है। ये विश्व-याग को अपनी स्निग्ध आहुतियों से सींच रहे हैं। यजमान का स्वरूप आग में घृत का है। यज्ञ की वेदि पर पड़ कर वह स्वयं चमक उठता है और वेदि को अपनी जाज्वल्यमान ज्योति से चमका देता है।

अग्नि-देव ! तुम्हें यज्ञ के लिए तीन ही तो पदार्थ चाहिएँ —सामग्री, लकड़ी और घी—धन, तन और मन। वैश्य का धन लो, क्षत्रिय का तन लो और ब्राह्मण का मन। इन तीन शक्तियों को संघटित कर संसार को त्रिवेणी-तीर्थ प्रयाग बना दो—प्रकृष्ट याग। संघटन ही तो यज्ञ है।

शत्रु की शरण में

पुरु त्वा दाशिवाꣳ वोचेऽरिरग्ने तव स्विदा ।
तोदस्येव शरण आ महस्य ॥ १ ॥ ६७

ऋषिः—दीर्घतमाः=लम्बी आकांक्षाओंवाला ।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! मैं और फिर (तव) तुम्हारा (स्वित्) ही (अरिः) शत्रु? (दाशिवान्) आत्म-समर्पण कर (त्वा) तुम्हें (पुरु) बार-बार (वोचे) पुकार रहा हूँ। इस समय मेरी दशा ऐसी है (इव) जैसे किसी (महस्य) महान् (तोदस्य) शत्रु की (शरणे) शरण में (आ) आए [पराजित विपक्षी की]।

अग्नि! मुझे आश्चर्य है कि मैं क्या से क्या हो गया हूँ। मुझे विश्वास नहीं होता कि मैं कल तक तुम्हारा शत्रु था। मैं और तुम्हारा शत्रु? स्मृति कहती है—था। स्थिति कहती है—नहीं। अब तो नहीं रहा, पर पहिले था—इस सपने का अपलाप नहीं हो सकता। अभी थोड़ा ही समय हुआ था। एक क्षण ने एक के दो जीवन कर दिए हैं। कहाँ शत्रु और कहाँ समर्पित सेवक। अब विश्वास ही नहीं होता कि पहिले कुछ और रहा हूँ। प्रभो! मैं तो हमेशा से तुम्हारा हूँ। शत्रु था तो तुम्हारा, मित्र हूँ तो तुम्हारा। प्रभो! मैं तुम्हारा ही हूँ। पहिले यज्ञ का विरोधी था, आज स्वयं यजमान हूँ। एक पराजित विरोधी की तरह मैंने

अपने-आपको आपकी दया पर डाल दिया है। राक्षस-राज्य की काफ़ी स्थापना कर ली। उस से शान्ति नहीं मिली, सन्तोष नहीं हुआ। औरों को अशान्त करते-करते अपने-आप शान्ति उपलब्ध कर लेना असंभव ही तो था। यह सामान्य सचाई पहिले समझ में नहीं आई। परन्तु आज मुझे इसकी साक्षात् अनुभूति-सी हो रही है। शान्ति मिलती ही औरों को शान्त करने से है। शान्ति की स्थापना का संकल्प ही हृदय को शान्त कर देता है। प्रभो! मैंने तुम्हारे विरुद्ध कलह की अपनी प्रवृत्ति को ज़रा शान्त किया ही है और अब अपने-आपको मानो एक नए संसार-से में पाता हूँ। जो सन्तोष झूठ-मूठ की जय में प्राप्त नहीं होता था, वह आज सच्चे समर्पण द्वारा प्राप्त हो गया है। राक्षस-सेना कोलाहल अधिक करती है। विजय हो न हो, इसका उसे घमण्ड अधिक रहता है। शराब के नशे की तरह यह झूठ-मूठ की विजय का खुमार कुछ समय के लिए उत्तेजना तो दे ही देता है परन्तु इस नशे का उतार उतना ही भयंकर है जितना शराबी के खुमार का। स्थायी आनन्द का इन दोनों खुमारों में अभाव है। आज मेरा हृदय जानता है कि मैं पराजित हूँ। इस पराजय में आनन्द है, आह्लाद है। सच्ची विजय इस पराजय की अनुभूति से ही प्राप्त होती है। आज मुझे विजय प्राप्त हुई है घमण्ड पर, गुमान पर, झूठी कल्पनाओं पर, व्यर्थ की आत्म-प्रवंचनाओं पर। कल विजय थी झूठी, आज पराजय है सच्ची। स्वयं पराजय सच का आश्रय लेकर विजय हो रही है।

विजय पराजय-सी नहीं, नहीं विजय-सी मात।
विनय विजय पर्याय हैं, सुनो पते की बात ॥

अग्नि-देव ! मैं आज तुमसे पराजित हुआ हूँ। इस पराजय पर लाख विजयें न्यौछावर हैं। आज मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूँ—शत्रु की शरण में। देखना यह है कि अब तुम मुझसे कैसा व्यवहार करते हो ? क्या तुम सचमुच महान् हो ? लोग तुम्हें मित्र कहते हैं। कहा जाता है, तुम्हारे स्वभाव ही में मित्रता है। तुम शत्रुओं को भी मित्र बना लेते हो। मित्रता में एक आनन्द है—एक अलौकिक रस है। मुझे आज उस रस की प्यास-सी लग रही है। अग्नि-देव ! सच तो यह है कि इस प्यास ने ही मुझे तृप्त कर दिया है। तृप्ति प्यास में है। पानी हो, प्यास न हो; पानी नीरस-सा हो जाता है। पानी की सरसता प्यास के कारण है। आज मैं प्यासा हूँ।

मेरे महान् शत्रु ! मैंने आज अपने-आपको तुम्हारे अर्पण किया है। शत्रुता-समेत समर्पित हूँ। देखना यह है कि तुम्हारी शत्रुता बड़ी है या महत्ता ? मुझे आज अपनी महान् शत्रुता की शरण में ले लो। मेरी शत्रुता समर्पित होते ही मित्रता बन गई है। मित्रता-स्वरूप अग्नि-देव ! क्या यह तुम्हारा जादू है ? तुम्हारी लपक रही ज्वालाओं का जादू है ?

हे महान् शत्रु ! तुम्हारी इस शत्रुता की जय हो ! इस कल्याण-कारिणी शत्रुता की बार-बार जय हो !!

***

आग की बोली

प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत् ।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥२॥ ६८

ऋषिः—विश्वामित्रः=सबका मित्र ।

(होत्रे) यज्ञ का निमन्त्रण दे रहे (अग्नये) अग्नि-देव की भेंट (पूर्व्यम्) प्राचीन (बृहत्) महान् (वचः) वचन इस प्रकार (प्रभरत) करो (न) जैसे (विपां) ब्राह्मणों की (ज्योतींषि) सम्पूर्ण ज्योतियों (बिभ्रते) के मूल (वेधसे) उनके गुरु की भेंट उसका दिया ज्ञान किया जाता है।

ब्राह्मण ने ब्रह्म को जान लिया। वह अपने ज्ञान का संसार में प्रचार कर रहा है। जनता उसके उपदेश से खूब प्रभावित होती है। उसकी भक्त-मण्डली में दिन-प्रति-दिन उन्नति हो रही है। शिष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है। ज्ञान का यह यज्ञ चल रहा है। गुरु शिष्य-परम्परा को टूटने नहीं देते। जो दीपक एक गुरु ने प्रदीप्त किया है, उसकी ज्योति से सैकड़ों-हज़ारों और दीपक प्रदीप्त हो रहे हैं। विनीत शिष्य अपने सम्पूर्ण ज्ञान को गुरुओं की देन मानते हैं। आचार्य ने एक संप्रदाय की स्थापना कर दी। उसमें नए-नए मेधावी ब्राह्मण पैदा होते रहे। अपने ऊहापोह से नए-नए सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे। परन्तु संप्रदाय के साथ नाम प्रारम्भिक गुरु ही का लगा रहेगा। प्रारम्भिक गुरु उस संप्रदाय का विधाता है, ब्रह्मा है। आचार्य वही

है। उसकी ज्योति प्रभु की देन है। शेष ज्योतियों को उस प्रारम्भिक आचार्य की ज्योति ने प्रज्वलित किया है।

गुरुओं की परम्परा की तरह यदि हम संप्रदायों की परम्परा को पीछे की ओर ले जाएँ और यह देखने का यत्न करें कि ज्ञान-मात्र की प्रवृत्ति किस आचार्य की कृपा का फल है तो पता लगेगा कि इस ज्वाला का मूल-स्रोत वही अग्नि-देव है जिसने सृष्टि के याग में पहिली समिधा डाली थी। वह अग्रणी होता है। उसी के निमन्त्रण पर संसार का यह यज्ञ चल पड़ा। और उसी के उच्चारण से वाणी का प्रारम्भ हुआ। उसने आहुति के साथ-साथ वेद-मन्त्रों का पाठ किया। जो क्रिया की, ज्ञान-पूर्वक की और फिर उस ज्ञान को अपनी आलौकिक वाणी के वेष में ऋषियों के हृदय में झलका दिया। भाषा का सबसे पहिला जन्म तभी हुआ था।

सबसे पूर्व बोलने का श्रेय अग्नि-देव ही को देना चाहिए। वह बोली यज्ञ का आह्वान थी। प्रभु होता बना, आत्माएँ यजमान और सम्पूर्ण विश्व एक बृहत् अग्नि-होत्र था। यज्ञ महान् था, उसका निमन्त्रण भी महान् था और होता भी।

आजकल की सभी बोलियाँ उस महान् बोली की बेटियाँ-पोतियाँ ही हैं। हमारे नित्य-प्रति की वाग्व्यवहार की बोली मूलतः प्रभु की बोली है। प्रभु-द्वारा किए गए विश्व-याग के साथ-साथ उच्चारण की गई वेद-वाणी ही है। मेरी वाणी का वंश वेद-वाणी ही में जा मिलता है। हम सब बोलने-वालों का प्रथम आचार्य अग्नि-देव ही है।

हे मेरी ज़ुबान! अग्नि की बोली अग्नि ही की भेंट कर। तेरा सम्पूर्ण वाग्विलास यज्ञ की ज्वालाओं ही का वाग्विलास है। यज्ञ की उपज यज्ञ ही के अर्पण कर दे।

मेरी ज़ुबान! तू आग की बोली बोल। उज्ज्वल, निर्मल, ओजस्विनी, तेजस्विनी वाणी बोल। बे-लाग सत्य, हितकर और फिर रमणीय। सुन्दर और फिर सच्ची। ज्वाला की तरह चमकने और चमकानेवाली।

भाँति-भाँति की बोलिएँ, बोल रहा संसार।
विश्व-याग के राग की, रही गूँज गुंजार॥

*
* *

सहन-स्वरूप

अग्ने वाजस्य गोमत ईशानः सहसो यहो।
अस्मे देहि जातवेदो महि श्रवः ॥ ३ ॥ ६६

ऋषिः—गोतमः=अत्यन्त गौ अर्थात् सरलतम, अथवा सर्वश्रेष्ठ गति=ज्ञानगमनप्राप्तिमान्।

हे (सहसः) बल की (यहः) सन्तान (अग्ने) अग्नि-देव! तुम (गोमतः) संस्कृति से युक्त (वाजस्य) बल के (ईशानः) अधिपति हो। (जातवेदः) हे जीव-जात में विद्यमान जीवन-रहस्य के ज्ञाता! (अस्मे) हमें (महि) महती (श्रवः) श्रुति (देहि) प्रदान करो।

यज्ञ क्या निर्बलों का हथियार है? बल का प्रदर्शन क्या अत्याचार ही में हो सकता है? प्रेम का आश्रय क्या वही लोग लेते हैं जिनमें लड़ने की शक्ति नहीं होती?

इसमें सन्देह नहीं कि जब कोई भिखारी द्वार-द्वार पर

पुकारता हैं—'दया धर्म का मूल है, पाप-मूल अभिमान,' तो जी विवश होकर हँस देता है। तुलसी का दोहा एक मनुष्य के मुँह में आ पड़ा जिसका उपदेश भिक्षा का रूपान्तरित वेष है। उससे कौन दया की शिक्षा लेने लगा? दया की शिक्षा देने का अधिकारी वह है जो स्वयं दया का अधिकारी न हो। ऐसे ही प्रेम और सहयोग जो यज्ञ के दूसरे नाम हैं। ये अहिंसक हथियार उसी वीर के हाथ में शोभा देते हैं जिसे अपनी हिंसा का भय न हो।

मनुष्य शक्त होकर सहन कर जाए—यह बल की पराकाष्ठा है। पिता पुत्र की सहता है, आचार्य शिष्यों की सहता है। और फिर माँ तो है ही सहन-स्वरूप। क्या ये तीनों निर्बल है। लड़का जितना छोटा हो, उसकी उतनी अधिक सही जाती है। क्या वह अधिक बलवान् होता है? यज्ञ नाम ही सहन का है। दृष्टि-भेद का सहन, मन-भेद का सहन और यदि कोई सिद्धान्त की बात न हो तो कुछ हद तक अत्याचार का भी सहन। छुई-मुई बनने से संघटन नहीं हो सकता। संघटन तथा सहन पर्याय हैं। अग्निदेव! तुम सचमुच सहन की सन्तान हो—शक्ति-सहित सहन की। निर्बलता तुमसे कोसों दूर है। भय निर्बलता का एक रूप है तो क्रोध दूसरा। यज्ञ इन दोनों का विरोधी है।

मानव-जाति का विशेष अस्त्र तथा बल ज्ञान ही है। सामूहिक ज्ञान संस्कृति का रूप धारण करता है। जाति की विद्या, उसकी कला तथा विज्ञान में प्रकट होती है। धर्म, दर्शन, व्यवसाय, आचार-विचार—ये सब संस्कृति के अंग

हैं। इन सबका विकास यज्ञ ही का परिणाम है। मानव-सन्तान के ऐसे यज्ञ के कर्त्ता-धर्त्ता, हे अग्नि-देव ! तुम्हीं हो। कोई अकेला न विज्ञानी हो सकता है न कलाकार। यह खेती ही संघटन की है। अग्नि-देव ही इस खेती को बोता, उगाता और फिर पकाता है।

हे सब सत्य-विद्याओं के आदि-मूल ! हे उन सब पदार्थों के आदि-मूल जो विद्याओं से जाने जाते हैं ! हे जात-वेदा—सब प्रादुर्भूत पदार्थों में विद्यमान, सबके अन्दर-बाहर की जाननेवाले अग्नि-देव ! हमें तो तुम्हारा ही सन्देश चाहिए। हमारे कानों में तुम्हारी श्रुति पड़े। हमारे हृदय में तुम्हारी वह सूक्ष्म तीखी-सी आवाज़ जो सन्नाटे में बोलती है, हमेशा अपनी जल-तरंग उठाती रहे, उठाती रहे।

अग्नि-देव ! हमारे हृदयों में बोलो। तुम्हारे भक्तों का अन्न तुम्हारा सुरीला-नशीला नाद है। तुम्हारे उपासकों का बल तुम्हारी अलौकिक संगति है। तुम्हारे पुजारियों का ज्ञान तुम्हारी मूक, फिर सदा सुनाई दे रही श्रुति है। अग्नि-देव ! हमारी संस्कृति-रूप कामधेनु तुम हो। हम बछड़े हैं, तुम गाय। हम बालक हैं, तुम माता। तुम्हारी पुकार हमारा दूध है।

***

खिलाड़ी

अग्ने यजिष्ठो अध्वरे देवां देवयते यज।
होता मन्द्रो विराजस्यति स्रिधः ॥७॥ १००

ऋषि —विश्वामित्रः=सबका मित्र।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! (यजिष्ठः) तुम सब से बड़े यजमान हो। मुझ (देवयते) खेलना चाहनेवाले के लिए तुम (अध्वरे) क्रीड़ा-क्षेत्र में (देवान्) खिलाड़िओं को (यज) एकत्रित करो। तुम (स्रिधः अति) हिंसकों की पहुँच से बाहर होकर (होता) यज्ञ के लिए पुकारते हो। (मन्द्रो) मस्ती ला-लाकर (विराजसि) खूब सुशोभित होते हो।

प्रभो! हम देव बनना चाहते हैं। हमारी इच्छा अब जीवन को खेल बना देने की है। संसार में जड़-चेतन सभी प्रसन्न प्रतीत होते हैं। बादल खुशी से छलाँगें मार रहे हैं। हवा उछल रही है, दौड़ रही है। झरने मस्त हो-होकर भाग रहे हैं। नदियाँ कल्लोल करती हैं। वृक्ष घूम रहे हैं। पक्षी चहचहा रहे हैं, फूल प्रफुल्ल-वदन हैं। पत्ते नाच रहे हैं, और तो और, घास तक लहलहा रही है—लहलहा रही है और गा रही है। संसार सचमुच क्रीडागार है। जीने का मज़ा खेल में है।

इस खेल का ही दूसरा नाम यज्ञ है। खेल में कोई किसी का विरोधी नहीं होता। यज्ञ होते हैं पर वैर-विरोध के विना। चोटें लगती हैं, शरीर घायल हो जाते हैं पर दिल पर ज़ख़्म नहीं आता। खेल अध्वर है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। खेल में चोट को नहीं, उसके लगाने की विधि को देखते हैं। नियमानुसार लगाई हुई चोट चोट ही नहीं मानी जाती। चोट खाकर स्वयं चोट खानेवाला चोट लगानेवाले के गले मिल रहा है। खेल की शोभा, चोट न समझी जानेवाली इन चोटों ही से है।

प्रभो ! क्या हमारा सारा जीवन इस प्रकार का एक लम्बा खेल नहीं बन सकता ? हमें चोटों ने कभी इतना दु:खी नहीं किया जितना उन्हें चोट समझने ने । प्रहार में प्रहार-बुद्धि ही न हो तो वह प्रहार नहीं रहता । जो प्रहार करे, उसके लिए भी, और जिस पर प्रहार किया जाय उसके लिए भी ।

यही देव-वृत्ति है । अग्नि-देव ! तुम देवताओं के अगुआ हो । तुम्हारे खिलाडी-पन के तो कहने ही क्या हैं ? घर फूँक तमाशा देख—यह खेल खेलना तुम्हीं को आता है । सर्वस्व स्वाहा कर, खड़े खिलखिलाना—यह लीला कोई तुम्हीं से सीखे । तुम "यजिष्ठ" हो—सबसे बड़े खिलाड़ी । तो फिर अपने यजमान को भी तो खेलना सिखा दो । अकेले में व्यायाम तो किया जा सकता है, पर खेल नहीं । खेल के लिए और भी खिलाड़ी चाहिएँ । यज्ञ इकले करने की वस्तु नहीं । यजमानों का समूह इकट्ठा कर दो । जब तक और यजमान नहीं बनते, देवों को ही यजमान बना दो । मेरी आहुति की सुर-ताल हवा से, पानी से, चाँद से, सूर्य से मिला दो । विश्व-याग की वेदि पर मैं इनके साथ मिल-कर आहुति दूँ ।

अग्नि-देव ! कोई तुम्हारी हिंसा क्या करेगा ? तुम हिंसकों की पहुँच से परे हो । जिसका राग ही स्वाहा है, उसे कोई और क्या जला लेगा ? जो दिन-रात आहुति दे-देकर खुश हो रहा है, उसे कोई सताएगा क्या ? तुम मस्त हो—अपनी आहुति पर मस्त हो । अपनी आँच का ईंधन

बन कर मस्त हो। जल-जल कर हँसते हो। फिर कोई तुम्हें और आँच क्या दे? तुम्हारी यही वृत्ति क्रीडा-वृत्ति है।

तुम खेल रहे हो और दूसरों को खेल के लिए पुकार रहे हो। हिल रही जिह्वा से पुकार रहे हो। उठी हुई भुजाओं से पुकार रहे हो। खिल रहे कपोलों से पुकार रहे हो। हँस रहे ओंठों से पुकार रहे हो। आब-दार दाँतों से पुकार रहे हो। चमक रहे नेत्रों से पुकार रहे हो। तुम्हारे अंग-अंग में छा रही इस मस्तानी हँसी के जादू का कोई कैसे संवरण करे?

अग्नि-देव! अकेले मत खेलो। अकेले में व्यायाम तो किया जा सकता है, पर खेल नहीं। खेल के लिए खिलाड़ी चाहिएँ। तो क्या मैं आ जाऊँ? खिलाओगे?

***

बाल-लीला

जज्ञानः सप्तमातृभिर्मेधामाशासत श्रिये।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेतदा ॥५॥ १०१

ऋषिः—त्रितः=तीनों का ज्ञाता।

(सप्तमातृभिः) सात माताओं की गोद में (जज्ञानः) पैदा होकर [अग्नि-देव ने] (श्रिये) श्री के लिए (मेधाम्) यज्ञ-बुद्धि की (आशासत) अभिलाषा की। (रयीणाम्) खेल रही संपत्तियों का [क्रीडा-तत्त्व], (अयम्) यह (ध्रुवः) ध्रुव खिलाड़ी (आ-चिकेतत्) भली प्रकार जानता है।

अग्नि-देव! तुम कैसे बालक हो? इतने बूढ़े और फिर बालक? एक सृष्टि के नहीं, सभी सृष्टियों के समकालीन और

फिर बालक ? अभी तो तुम माता की गोद ही में पड़े हो। एक नहीं, अनेक माताओं की। संसार की सभी रूपवती आकृतियाँ तुम्हारी माताएँ हैं। तुम्हारा जन्म माताओं के साथ हुआ है। माता, माता बनी ही तभी है, जब उसकी गोद में बालक था। एक सौन्दर्य हो तो कहें भी, सातों सौन्दर्य—सातों रंग, सातों रूप—अग्नि-देव की माताएँ हैं। ये रुचिर रूप, ये रुचिर रंग अग्नि-देव को गोद में लिए खेल रहे हैं। एक-एक किरण एक-साथ सात रश्मियों की गोद में खेल रही है। सात माताओं का एक-साथ दुग्ध-पान कर रही है। सातों माताएँ अग्नि-देव के प्यार में एक हो रही हैं। यही यज्ञ है। स्रष्टा की श्री है। सृष्टि नाम ही इसी का है कि सात रंग एक हो जाएँ। इसी से प्रकाश की उत्पत्ति होती है।

प्रसुप्त अवस्था की तो बात ही और है परन्तु जब अग्नि-देव जागृत होता है—संसार के मंच पर जन्म लेता है, तो इसकी पैदायश सात रंगों की संयुक्त कोख से होती है। प्रभु की प्रेम-लीला का प्रकाश इन सात रंगों की मिली-जुली लीला के रूप में होता है। प्रभु की "मेधा" अर्थात् यज्ञ-बुद्धि यही है। इसी को विष्णु की श्री अर्थात् लक्ष्मी कहते हैं। अनेक सत्ताओं का एक हो जाना यज्ञ है। और यज्ञ ही श्री का कारण है।

उपयोगी पदार्थ कोई भी हो, धन है। आत्मा भोक्ता है और संसार उसका भोग्य। भोग्य का एक और नाम "रयि" है। साधारण भाषा में "रयि" धन को कहते हैं।

शायद इसलिए कि धन एक खेलने-कूदनेवाली चीज़ है। यह एक स्थान पर निठल्ला न बैठ कर इधर-उधर उछलता-कूदता फिरता है। आता है तो उछलता हुआ और जाता है तो खेलता-कूदता हुआ। इसका आना-जाना दोनों रमणीय हैं—रुचिकर हैं। साधारण जनों के लिए संभवतः ऐसा न हो। पर यजमान की दृष्टि में धन का आना-जाना दोनों लीला-मात्र हैं। जो स्वयं ध्रुव हो—विचलित न होनेवाला, वह लीला का आनन्द ले सकता है। धन के साथ या तो अग्नि बन कर खेल, नहीं तो वह तुझे अपनी क्रीडा का पात्र बना लेगा। तू गेंद होगा, वह बल्ला। तू डीटी होगा, वह डंडा। रहेगा तो तुझे दास बना कर, और जाएगा तो तुझे उदास छोड़ कर। अग्नि-देव इस उदासी पर हँसता है। संसार की सभी रमणीय सम्पत्तियाँ उसकी माताएँ हैं। वह श्री का, रयि का बालक है। एक नहीं सात लक्ष्मियों का। अपनी ध्रुव बाल-बुद्धि से वह इनकी गोद में खेलता है। रयि में रमण का यही रहस्य है।

मनुष्य बालक हो जाए। बिना वैर-विरोध के, बिना ईर्ष्या-द्वेष के, निष्काम यज्ञ करता जाए। खेल-रहे धन के साथ स्वयं खेलने लगे। अन्न-धन, शरीर-धन, विद्या-धन—सभी धनों के साथ खेल। खेल का आरम्भ भी है, अन्त भी। लीला फिर-फिर होगी, परन्तु खिलाड़ी ध्रुव है। नित नया खेल खेलता है। पुरानी हार-जीत को भूल जाता है। नित नया खेल और नित-नया भूलना। यही अग्नि-देव का बालक-पन है—सात माताओं की गोद में बालक की बाल-लीला।

अदिति

उत स्या नो दिवा मतिरदितिरूत्या गमत् ।
सा शन्ताता मयस्करदप स्रिधः ॥६॥ १०२

ऋषिः—इरिंबिठिः=प्रेरणामय शब्दोंवाला ।

(स्या) वह (अदितिः) विचलित न होनेवाली (मतिः) मति (ऊत्या) अपनी रक्षा-शक्ति-सहित (दिवा) दिन के प्रकाश में (उत) भी (नः) हमें (आगमत्) उपलब्ध हो। (सा) वह (शन्ताता) शान्ति का प्रसार करनेवाली [बुद्धि] (स्रिधः) बाधाओं को (अप) दूर कर (मयः) सुख की (करत्) सृष्टि करे।

दिन के परिश्रम से थककर मैं रात को सो रहता हूँ। कुछेक घंटों के लिए मुझे अपनी सत्ता का भी तो ज्ञान नहीं रहता। मेरी इन्द्रियाँ सो रहती हैं, मेरा मन सो रहता है। मैं उस समय न कुछ विचार ही कर सकता हूँ और न कुछ क्रियात्मिक व्यवहार। गहरी नींद में मुझे किसी काम की चिन्ता भी तो नहीं रहती। जिस कठिन-से-कठिन कार्य को मैं दिन के समय जान जोखिम में डाल कर अधूरा सिद्ध कर पाया था, उसे उसी अधूरी अवस्था में ही मैं किसके सहारे छोड़ देता हूँ? क्या यह सम्भव नहीं कि वह रात के अन्तर में सिरे से बिगड़ ही जाए? किया हुआ परिश्रम न किया हुआ-सा हो जाए? जिस संसार-पर मैं रात आते ही आँख मूँद लेता हूँ, वह दिन होते तक वैसे का वैसा बना रहेगा—इसकी गारण्टी क्या?

जब मेरे मन में इस प्रकार के सन्देह उदय होने लगते हैं, तो मेरे लिए सोना असम्भव हो जाता है। चिन्ता और चिता में से चिन्ता ही को अधिक कठोर स्वीकार किया गया है। चिन्ता की अवस्था में नींद कहाँ? रात आराम के लिए है। रात्रि रमयित्री हैं अर्थात् आराम देनेवाली। चिन्ता-भार के लिए दिन ही का समय बना है। दिन के रहते सन्देह-वाद को खुला अवसर है। रात को मनुष्य दिन की थकान से हार कर आखिर किसी विश्वसनीय शक्ति ही का सहारा लेता है। परिश्रमी के लिए विश्राम आवश्यक है सन्देह के आधार में विश्वास काम कर रहा है। विश्वास के विना सोना असम्भव हो जाए।

यह संसार जड़-शक्तियों की उपज नहीं। इसकी रचना आकस्मिक नहीं हुई। आकस्मिक घटना पर विश्वास कैसा? जड़-शक्तियाँ श्रद्धा की पात्र क्योंकर हो सकती हैं? रात अँधेरी हो पर हमें उस पर भरोसा है। हम जो भी अमानत उसके पास छोड़ेंगे, प्रभात होते ही वह ज्यों-की-त्यों हमारे अर्पण कर देगी। हमारी रक्षिका कोई चेतन मति है— विचलित न होनीवाली "अदिति" मति। यास्क इसे "अदीना देवमाता" कहते हैं। दिन के खिलाड़ी देव-गण रात होते ही इसी विचलित न होनेवाली अपनी माता की गोद में लम्बी तान कर सो रहते हैं।

प्रभो! यह अदिति मति क्या दिन को हमारी रक्षा नहीं कर सकती? हमारे कामों में भौतिक बाधाओं द्वारा इतनी रुकावट नहीं पड़ती जितनी मानसिक चिन्ताओं द्वारा

पड़ती है। यदि हम विश्वास-पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो जहाँ कार्यों में सिद्धि अधिक प्राप्त हो, वहाँ हमारे चित्त में भी शान्ति रहे, चिन्ता काम सँवारती नहीं, बिगाड़ती है। मानसिक व्याकुलता इसका एक और बुरा परिणाम है।

हे अविचलित नियम-रूप मेरी माँ! आसमान जागता हुआ भी सो रहा है, ज़मीन किस सुषुप्ति की-सी अवस्था में अपने सम्पूर्ण कार्य करती चली जा रही है। चाँद, सूर्य, सभी ग्रह-उपग्रह काम करते जा रहे हैं पर चिन्तित नहीं होते। इन पर दिन को भी रात का समाँ है—आराम देने-वाली रात का। हे जगज्जननी की अदिति मति! क्या मेरे लिए तेरी गोद में कोई स्थान नहीं है? थक कर तो आख़िर मैं तेरा सहारा तो लेता ही हूँ। जब मेरे अंग काम नहीं करते, इन्द्रियाँ हार जाती हैं, मन में सन्देह की शक्ति ही नहीं रहती, तब तो तेरी गोद में पड़ रहने के सिवा चारा ही क्या है? माँ तेरी कृपा का मैं क़ायल तब होऊँ जब तू दिन ही में दर्शन दे। घोर परिश्रम करते हुए फल की चिन्ता ही न हो। हृदय शान्त हो, मन अक्लान्त हो। शरीर उद्योग में रत हो, मन माँ की ममता के उपभोग में। तेरे चरणों की प्रीति ही मेरे परिश्रमी जीवन की अविचल नीति हो।

***

निरन्तर आ रहा

ईडिष्वा हि प्रतीव्यां ३ यजस्व जातवेदसम् ।
चरिष्णुधूममगृभीतशोचिषम् ॥ ७॥ १०३

ऋषिः—विश्वमनाः=विश्वविचारक ।

(प्रतीव्यम्) तेरे पास आ रहे, आ रहे—प्रतीति का विषय बन रहे, बन रहे—[प्रभु] की (ईडिष्व हि) तू स्तुति ही करता चल। जातवेदसम्) उस जीवन-धन [अग्नि-देव] का (यजस्व) यजमान बन। उस अग्नि-देव का (चरिष्णु धूमम्) जिसका धुआँ गति करता है और (अगृभीतशोचिषम्) ज्योति ग्रहण का विषय ही नहीं।

मेरे मन ! प्रभु तेरे अंग-संग है। तेरी प्रत्येक क्रिया का आधार वही है। रेल-गाड़ी रुकी हुई थी। बच्चे ने अधीर होकर उसके अन्दर-ही-अन्दर बैठे हुए उसे पाँव से धकेल दिया। गाड़ी चल पड़ी। बच्चा समझा मेरे धक्के से चली है। ऐसे ही मनुष्य अपनी क्रियाओं का कारण अपनी शक्ति को मानता है। शक्ति सब प्रभु की है। उसी के द्वारा हम अपने जीवन की छोटी-बड़ी सब प्रकार की क्रियाओं को चलाते हैं। हमारी प्रत्येक चेष्टा को प्रभु के सर्व-व्यापक हाथ सहारा दे रहे हैं। फिर भी प्रभु हमसे दूर है ! निकट से निकट और फिर दूर ! इतना निकट कि और निकट होने की सम्भावना ही नहीं। फिर भी प्रभु आ रहा है—आ रहा है। हमारी प्रतीति की घोड़ी पर चढ़ा आ रहा है, आ

रहा है, हमारी स्तुतियों के आकर्षण से खिंच खिंच कर आ रहा है, आ रहा है। मेरी जान ! तू इस प्रतीति का विषय बन रहे प्रभु की स्तुति किए जा, किए जा।

स्तुति है ही तब तक जब तक वह आ रहा है, आ रहा है। वह "जातवेदाः"—जीवन-धन प्रभु इस जीते-जागते संसार में विद्यमान है। प्रत्येक पदार्थ की प्रतीति का कारण अग्नि-देव है। अग्नि-द्वारा ही संसार में संयोग होते हैं और संयोग से ही यह कार्य-जगत् बना है। जगत् यज्ञ की सृष्टि है। मेरी जान ! तू यज्ञ कर। देव-पूजा कर, संगति-करण कर, दान कर। उस जीवन-धन अग्नि-देव की पूजा, उस जीवन-धन अग्निदेव से संगति करण और उस जीवन-धन अग्नि-देव को ही दान। यज्ञ आत्म-समर्पण ही को कहते हैं। पूजा, संगतिकरण और दान—ये तीनों आत्म-समर्पण के पर्याय हैं, प्रकार हैं। मेरी जान ! तू अग्नि-देव के लिए अपने-आपको समर्पित कर दे।

मैंने कहा—अग्नि-देव तेरी ओर आ रहा है। यह कहना कुछ ऐसा ही है जैसे मैं तुझ से कहूँ कि तेरा प्राण तेरी ओर आ रहा है, तेरा जीवन तेरी ओर आ रहा है। मेरी जान ! मेरा यह कहना कुछ ऐसा ही है जैसे कोई तुझसे कहे—तू अपनी ओर आ रहा है। वह प्राणों का प्राण, जीवन का जीवन, जान की जान तेरी ओर आ रहा है। प्रतीति गति ही होती है। दूरी ही में मैं और तू का भेद रहता है। संसार में गति—निरन्तर गति है। "जातवेदाः" प्रत्येक प्रकट पदार्थ में विद्यमान अग्नि-देव का यह प्रत्यक्ष रूप

है। प्रत्यक्ष होता ही गतिवाले का है। जिस पदार्थ में गति न हो, वह इन्द्रियों का विषय नहीं होता। शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—यह सब गतिमान् विषय हैं। शब्द चलता है, रूप चलता है, रस, गन्ध तथा स्पर्श चलते हैं। यह उस ज्योति का धुआँ है जो इन्द्रियों के ग्रहण से परे है। नैयायिकों का कहना है कि अग्नि का अनुमान होता है। धूम अग्नि का धुँधला-सा रूप है। ऐसे ही यह कार्य-जगत् उस परम-कारण प्रभु का। सूर्य धुआँ है, चाँद धुआँ है, संपूर्ण तारा-मण्डल धुआँ है। और तो और, आत्मा की सामान्य चिति धुआँ है, उस परम चिति का जो अभी आ रही है। उसका आना प्रगति होता है पर उसका स्वरूप अभी "अगृ-भीत" है, अप्रतीत है। मेरी जान! उस आ रही ज्योति की स्तुति कर। निरन्तर आ रही उस जीवन-ज्योति में अपनी आहुति दे दे। यज्ञ कर, यज्ञ कर। उस निकटतम और फिर निरन्तर निकट आ रही जीवन-ज्योति का स्वागत आत्म-समर्पण से होगा। जीवन-ज्योति आती-आती कुछ लजा-सी जाती है। उसका रुक-रुक कर आना कुछ कहता-सा प्रतीत होता है। मेरी जान! सुन। इस ज्योति की भाव-भंगी को देख। उसकी मूक—शरमाई हुई आवाज़ पर ध्यान दे—

बाद मुद्दत के गले मिलते हुए रुकता है दिल।
अब मुनासिब है यही, कुछ मैं बढ़ूँ कुछ तू बढ़े॥

देख! "प्रतीत" ज्योति! निकट आ रही और निकट बुला रही। प्रतिगमनशील और प्रतिगन्तव्य।

शत्रुजय

न तस्य मायया चन रिपुरीशीत मर्त्यः ।
यो अग्नये ददाश हव्यदातये ॥८॥ १०४

ऋषिः—विश्वमनाः=विश्व विचारक, सबका मनन करनेवाला ।

(यः) जिसने (हव्यदातये) हवि देनेवाले (अग्नये) अग्नि-देव को (ददाश) आत्म-समर्पण कर दिया (तस्य) उस पर (रिपुः) विरोधी (मर्त्यः) मनुष्य जो [अपनी शत्रुता के कारण] अपनी मौत आप बन रहा है (मायया) छल-कपट से (चन) भी (न ईशीत) अधिकार प्राप्त नहीं कर सकता ।

हम मनुष्य एक दूसरे से ईर्ष्या कर बैठते हैं । किसी को ऊपर उठता देख कर जी-ही-जी में जलते-भुनते रहते हैं । कोई स्वार्थ से, कोई लोभ से, कोई मोह से ईर्ष्या का शिकार हुआ ही रहता है । यह शत्रुता फिर भी रुकी तो है । इस शत्रुता को तो ज्यों-त्यों करके कोई शान्त कर भी ले, स्वार्थी के स्वार्थ की सिद्धि हो जाए, फिर उसके लिए शत्रुता का अवसर ही न रहेगा । अधिक दुःसाध्य शत्रुता वह है जो विना किसी स्वार्थ के, यों ही निष्काम भाव से की जाती है । कोई किसी को सुखी देखने-मात्र से ही दुःखी हो तो उसके दुःख का क्या इलाज ?

जिनके स्वाभाव में ही वैर हो, उनके मन की आग को कोई कैसे शान्त करे ? उन्हें तो अशान्त रहना ही है । कोई शान्त है, इसलिए वे अशान्त हैं । संसार के अधि-

कांश क्लेशों का कारण यह निष्काम वैर-विरोध ही है। इस आग में पड़ा मनुष्य जीता मर रहा है। जिसका कलेजा अपने सुख से नहीं, किन्तु दूसरों के दुःख ही से ठण्डा हो, उसे कोई ठण्डक दे भी तो कैसे? प्रसिद्ध कहावत की कुबड़ी की तरह इसे अपना कूब नहीं हटाना, किन्तु सारे संसार को अपने साथ कुबड़ा देखना और खुश होना है।

इन कुबड़ों की माया अनिर्वचनीय है। ये शत्रु हैं मित्रता के। ये वैरी हैं प्यार-मात्र के। इन्हें जीवन नहीं, मरण अभीष्ट है—शर्त यह है कि वह मरण संसार-भर का हो। इनकी ठण्डी आहों पर न जाइए। इनकी कराह रही आवाज़ से धोखा न खाइए। देखने को तो ये दया के पात्र प्रतीत होते हैं; पर वास्तव में ये दयालुता के विरोधी हैं। इनकी चल जाय तो ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने से नीचा दिखाने ही का उपाय करें। उस पर अपना अधिकार जमा लें और अपनी स्वाभाविक ईर्ष्या का राज्य जहाँ-तहाँ स्थापित कर दें।

शत्रुता भी संक्रामक है, दया भी। ईर्ष्यालु पुरुष ईर्ष्या का प्रचार करता है, दयावान् दया का। इसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं। दोनों का जीवन जीता-जागता उपदेश है। संसार में ये दोनों प्रकार के भाव परस्पर संग्राम कर रहे हैं। अधूरे दयालु को वैर-विरोध की सेना का भय लगा ही रहता है। काम-चलाऊ सत्य छल-कपट के सम्मुख मुश्किल ही से ठहर सकता है। पर जहाँ सर्वस्व स्वाहा कर दिया जाए, वहाँ विरोधियों की दाल नहीं

गल सकती। शत्रु जहाँ तक जाने को तैयार हो वहाँ सन्त पहले ही पहुँच चुका है। कोई अधिक-से-अधिक उसकी जान ही का लेवा ही तो होगा। उसने जान पहिले ही स्वाहा कर रखी है। अब कोई उसका विरोधी बन कर क्या कर लेगा? विशुद्ध यज्ञ के तेज के आगे न बल ही ठहर सकता और न छल।

यजमान की ओर स्वयं यज्ञाग्नि है। जो सम्पत्ति यज्ञ के अर्पण कर दी, वह हव्य बन गई। चोर से, चकार से, डाकू से, उचक्के से, ठग से, उठाई-गीरे से, हेरा-फेरी करने-वाले से उसकी रक्षा स्वयं यज्ञाग्नि कर लेगी। यज्ञाग्नि आहुति लेती है तो देती भी। उसका लेना-देना एक है। जो लेना स्वयं देना बन जाए, उसी को शास्त्र में हव्य कहते हैं। एक अक्षर के हेर-फेर से अदन दान बन जाता है और दान अदन। तेरा दान अदन तभी होगा जब तू उसे अग्नि के अर्पण करेगा।

जिसने सर्वस्व स्वाहा कर दिया, उसका न कोई शत्रु है न वैरी-विरोधी। किसी ने उसको छल भी लिया तो क्या हुआ? वह तो छले जाने पर पहिले से ही उधार खाए बैठा है। उसने चोर को न सही, साध को सब-कुछ दे दिया है। सन्त के घर आकर चोर की चोरी भी तो चुरा ली जाती है। बे-लाग सत्य के सम्मुख छल स्वयं छला जाता है। जब छलने को कोई चीज़ ही न हो तो कोई छलेगा क्या? जो शत्रुता का बदला मैत्री से चुका दे, उससे कोई बदला क्या ले?

प्यार से पराए नर, अपने बनाय लेंगे।
सत्य की चलेंगे चाल, छल को छलाय लेंगे॥
चित-चोर साँवरे, दिलों को हथियाय लेंगे।
नमक जो खाय लेंगे, बैर विसराय लेंगे॥

***

विरहाग्नि

अपत्यं वृजिनꣳ रिपुꣳ स्तेनमग्ने दुराध्यम्।
दविष्ठमस्य सत्पते कृधी सुगम्॥९॥ १०५

ऋषिः—ऋजिश्वा=सूधा ज्ञानी, सरल-स्वभाव।

(सत्पते) हे सचाई के रक्षक (अग्ने) अग्नि-देव! (त्वम्) तू (वृजिनम्) उस कुटिल (रिपुम्) शत्रुताशील (दुराध्यम्) दुष्ट (स्तेनम्) चोर को (दविष्ठम्) दूर से दूर (अप-अस्य) फेंक कर (सुगम्) अपने निकट (कृधी) कर लीजिए।

सच और झूठ की लड़ाई में अन्त को विजय सत्य ही की होती है। सच रोशनी है और झूठ अँधेरा। अँधेरा प्रकाश के आगे ठहर ही कैसे सकता है? संसार सत्य के सहारे स्थिर है। प्रकृति के सभी नियम सत्य ही के विविध रूप हैं। किसी दिन सूर्य ही ज़रा असत्य का व्यवहार कर दे। जो उसके उदय तथा अस्त के नियम हैं, उनसे बाल-भर इधर-उधर हो जाए। ब्रह्माण्ड का चलना असंभव है। यही अवस्था अन्य सब पदार्थों और शक्तियों की है। यज्ञ का पहिला स्तंभ है सत्य। मिल कर कोई भी काम करो, उसका आधार परस्पर विश्वास है। जहाँ सहकारियों में सन्देह हो, वहाँ सहकारिता हो ही कैसे सकती है? अग्नि-देव

तो है ही यज्ञ का देवता—सत्य-स्वरूप। सत्य में ही संघ है। सत्य ही के द्वारा संघ का नेतृत्व हो सकता है। एक-एक, दो ग्यारह—यह चमत्कार सत्य ही की शक्ति का है।

कुटिलता, चोरी, शत्रुता, दुष्टता इस शक्ति के आगे ठहर ही नहीं सकती। वैर-विरोध उसी समय तक सफल है, जब तक कोई विश्वप्रेमी सन्त अपने बे-लाग सत्य की मोहिनी अपने स्नेह-सम्पन्न नेत्रों से छिटकाए नहीं। ऋषि के आगे राव की हेकड़ी मात है। दुष्टता रात है, सज्जनता दिन। दिन के निकलने पर रात को भागने के सिवा और चारा ही क्या है? धूप आई और छाया यह जा, वह जा।

अग्नि-देव! तुम सच्चे भी हो और दयालु भी। तुम शत्रुता-शीलों से भी तो दया ही का व्यवहार करते हो। तुम्हारा धर्म है यज्ञ—निष्काम यज्ञ। तुम्हारे यज्ञ की विशेषता निष्कामता में है। यही उस यज्ञ की विशेष शक्ति है। तुम मारते हो प्यार करने के लिए। तुम्हारी मार वास्तव में प्यार ही का एक विशेष प्रकार है। जिसे तुम इससे दूर फेंक देते हो, वह तुम्हारे निकट आ जाता है। तुम्हारे लिए दूर-पास का भेद भी तो नहीं है।

सच तो यह है कि चाहे कोई चोरी करे और चाहे हेरी-फेरी, यह चोरी और हेरा-फेरी सफल उसी समय तक होती है जब तक इसमें सत्य का, यज्ञ का, संघ-शक्ति का कुछ-न-कुछ अंश विद्यमान है। चोर आपस में किए प्रणों को निबाहते हैं। उनका पारस्परिक व्यवहार सत्य पर आश्रित है। इसी में उनकी सफलता है। उनके निविड़ अन्धकार-

मय जीवन में ज्योति की यह रेखा चमक रही है। थोड़ी देर के लिए उनसे यह रेखा भी हर ली तो बस! फिर उन्हें अंधकार में रहना कठिन हो जाए। वे मस्त हैं अपनी चोरी के धर्म पर। ठगों के भी कोई देवी-देवता हैं। ठग और उनका धर्म? चोर और उनमें प्रभु की पूजा? इन दुष्कर्मों के नीचे सदाचार का आधार कब तक रह सकता है? पाप का गढ़ आखिर टूट कर रहेगा। छल के नीचे से सत्य का आधार आखिर खिसक जाएगा। राक्षस यज्ञ से दूर-ही-दूर होता जाएगा। इसी दूरी में नजदीकी का रहस्य है। पराकाष्ठा को पहुँच कर पाप पुण्य बन जाता है। जब तक कुछ भी धर्म का, सदाचार का, सत्य का, सौजन्य का लेश विद्यमान है, आत्मा के लिए सन्तोष का कारण मौजूद है। राक्षस अपने नंगे-रूप में आकर स्वयं अपने लिए भय का कारण हो जाता है। पापी के डसने को स्वयं पाप ही काफ़ी भयानक वस्तु है। आवश्यकता केवल इतनी है कि पाप अपने विशुद्ध रूप में हो। अपने पाप को अपनी आँखों से एक दृष्टि देख लेना पश्चात्ताप की भूमिका है। मनुष्य या तो प्रभु के निकट आए या उससे कोसों दूर हो जाए। विशुद्ध दूरी सहन नहीं की जा सकती। वह ऊजड़ है, सुनसान है। विशुद्ध राक्षस देवता बने बिना रह ही नहीं सकता।

अग्नि-देव! यदि मैं चोर हूँ तो मुझे मेरी चोरी का परिचय दो। मैं कुटिल हूँ तो मुझे मेरी कुटिलता की एक झाँकी दे दो। मैं दुष्ट हूँ तो मुझे मेरी दुष्टता के दर्शन करा दो। इसमें से अपना तेज हर लो। यह जो मुझे धोखा-सा रहता

है कि मेरी चोरी यज्ञार्थ है, मेरी कुटिलता बुद्धिमत्ता ही का रूपान्तर है। मेरी दुष्टता किसी सामाजिक उद्देश्य के लिए है, इस धोखे की टट्टी को एक क्षण के लिए मेरे आगे से उठाओ। मैं अपना वास्तविक स्वरूप देख लूँ। मुझे विश्वास है, मैं तुम्हारे विना एक क्षण भी नहीं जी सकता हूँ। यदि मैं वास्तव में तुमसे दूर हूँ, तो मुझे यह अनुभव करा दो कि मैं तुमसे दूर हूँ। इस अनुभव के साथ ही वह दूरी झट नज़दीकी में परिवर्त्तित हो जाएगी। तुमसे दूर आख़िर कहाँ जाऊँगा ?

प्रभो ! ठुकरा दो, पटक दो, फेंक दो। अपने पुत्र को एक क्षण अपनी छाती से अलग कर दो। वह चीखेगा, चिल्लाएगा, हाथ बढ़ाएगा, तुम्हारी ओर दौड़ेगा, तुमसे चिमट जाएगा। प्रेमियों के संयोग की भूमिका आख़िर विरह ही तो है। अग्नि-देव ! तुम मेरे लिए विशुद्ध विरहाग्नि बन जाओ। मेरे विरह को अग्नि ही का रूप धारण कर लेने दो।

* * *

माया के महल में

श्रुष्ट्यग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते ।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह ॥१०॥ १०६

ऋषिः—विश्वमनाः=सबका मनन करनेवाला।

(विश्पते) हे प्रजाओं के पालक ! (वीर) हे शत्रु-संहारक ! (अग्ने) अग्नि-देव ! (मे) मेरी (नवस्य) नयी (स्तोमस्य) स्तुति को (श्रुष्टी) सुनकर मेरी (मायिनः)

मायावी (रक्षसः) राक्षस-प्रवृत्तियों को (तपसा) तप के तेज से (नि-दह) भस्म कर दीजिए।

प्रभो ! मैं पहिले भी तुम्हारी महिमा के गीत गाता रहा हूँ। पर आज के गीत की लय नई है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहिले कभी आपका गुण-गान किया ही नहीं। आज मेरी मनोवृत्ति बदली हुई है। आज की स्तुति पश्चात्ताप के पश्चात् की है। इसमें एक अनोखा मिठास है।

पहिले तो मुझे भ्रम ही था कि मैं तुम्हारा भक्त हूँ। वह भक्ति क्या थी ? पाप-ताप की माया थी। मैं पाप कर रहा था, परन्तु मुझे धोखा था कि मैं पुण्य करता हूँ। मेरी सादगी में बनावट थी। मेरे सत्य में दंभ था—दिखावा था। और दिखावा तो असत्य ही का रूपान्तर है। मैं जब लोकैषणा छोड़ता था तो इस छोड़ने ही में लोकैषणा हो जाती थी। मेरा त्याग, तप—सब प्लैटफ़ार्म के लिए था। मैं अपनी शकल बिगाड़ लेता था—इसलिए कि लोग मुझे सादा कहें। मैं अपना कोई-कोई दोष प्रकट कर देता था—इसलिए कि लोग मुझे सत्य-प्रिय समझें। मेरा दान दाना-भास था। मैं धन से मुख मोड़ लेता था और उसकी क़ीमत प्रतिष्ठा के रूप में चुका लेता था। यह सब मेरी राक्षसी माया थी।

पर अग्नि-देव ! जबसे तुम्हारा प्रकाश इस हृदय-पटल पर पड़ा है। आन्तरिक जीवन आइना बन कर आँखों के सामने आ गया है। मैं समझ गया हूँ कि मैं किस पानी में हूँ। अब पुण्यात्मा होने का अभिमान नहीं

रहा। जीवन में एक सचाई-सी आ गई है। औरों के साथ मेरा व्यवहार जो हो सो हो, मेरा अपने साथ सत्यता का व्यवहार आरम्भ हो गया है। अब मैं अपने-आपको धोखा नहीं देता।

यह परिवर्त्तन होते मेरे जीवन की लय ही बदल गई है। तुम्हारे स्तोत्र का रंग ही अब कुछ और है। अब मैं सन्ध्या इसलिए नहीं करता कि लोग मुझे कर्म-काण्डी कहें। लोग तो लोग, अब मुझे स्वयं अपनी प्रशंसा की भी आवश्यकता नहीं रही। सच तो यह है कि जो धर्माभास मुझे पहिले धर्म मालूम होता था, अब वह उलटा अधर्म दिखाई देने लगा है। अब तो सन्ध्या मेरा और मेरे प्रभु का आन्तरिक मामला-सा हो गया है। जब से ऐसा हुआ है, तभी से तुम्हारा स्तोत्र वास्तव में तुम्हारा स्तोत्र हो गया है। पहिले यह जनता का स्तोत्र था। लोग मेरी सन्ध्या की प्रशंसा करते थे और मैं सन्तुष्ट था। जितना अधिक समय आँखें मूँद कर बैठ सकता, मन को उतनी अधिक तसल्ली प्राप्त होती थी। पर अब न तो किसी की सम्मति ही की पर्वाह है और न समय कम या ज्यादा लगा सकने की। अब तो एक ही चिन्ता है। वह यह कि तुम मेरे गीत को सुनो। मेरी पुकार पर ध्यान दो। मेरा गीत तुम्हारे कानों के लिए है। कहते हैं, तुम बिना कान के सुनते हो। क्या यह सच है कि तुम सुनते हो?

मैं तो तुम्हारे सुनने का क़ायल तब होऊँ, जब मेरी पाप की माया छिन्न-भिन्न हो जाए। तुम्हारे स्तोत्र के साथ पाप

की प्रवृत्ति का रहना असम्भव है। तुम जहाँ "विश्पति" हो—अर्थात् अपनी प्रजा का पालन करते हो, वहाँ "वीर" भी तो हो। राक्षसों को भस्म और कौन करता है ? अग्नि-देव ! हम तुम्हारी प्रजा हैं—"विशः"। हममें प्रवेश करो। हमारे स्तोत्र तुम्हारी आग की चिनगारी हों। उनमें वास्त-विकता हो। वे दंभ की, दिखावे की माया से मुक्त हों। हमारे गीतों में तुम्हारी ज्वाला हो। फिर राक्षसी माया का क्या काम है कि वह हम लोगों के हृदयों में रहे ! प्रभो ! तुम हमें सच्चा बना दो—आग की ज्वाला जैसा। माया के महल में आग की चिनगारी-सा सच्चा।

उप-स्तुति

प्र मंहिष्ठाय गायत ऋताव्ने बृहते शुक्रशोचिषे ।
उपस्तुतासो अग्नये ॥ १ ॥ १०७

ऋषिः—प्रयोगः=श्रेष्ठ उपायोंवाला ।

(उप-स्तुतासः) हे अपनी स्तुति के स्वयं उप-पात्र बन जानेवालो ! (मंहिष्ठाय) उस परम दान-शील (ऋताव्ने) सत्य-स्वरूप (बृहते) महान् (शुक्रशोचिषे) विशुद्ध ज्योति के पुञ्ज (अग्नये) अग्नि-देव के (प्रगायत) खूब गीत गाओ ।

स्तुति क्या हुई यदि उसका हमारे जीवन पर कोई प्रभाव न हुआ । हमने प्रभु को परम दान-शील कहा और स्वयं कुछ भी दान न किया । उसे सत्य का आधार कहा और हमारे अपने जीवन में असत्य ही की प्रधानता बनी रही । अग्नि-देव को महान् कह कर पुकारा और अपने में कोई महत्ता धारण ही न की । उस ज्योतिःस्वरूप का नाम तो लेते रहे पर स्वयं नाम-मात्र को भी अन्धकार से बाहर न हुए । कथन और आचरण में इस प्रकार के पारस्परिक विरोध के रहते हमारी स्तुति को कौन सच्ची स्तुति कह सकता है । यदि किसी गुण का सचमुच हमारे हृदय में आदर है तो उसे हमें अपने जीवन में ढालना भी तो चाहिए । हम लाख कहते रहें कि हम प्रभु की पूजा करते हैं परन्तु पूजा तो गुणों ही की होती है । किसी गुण की पूजा करने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि हम उसे अपने में धारण करें । स्तुति

की सफलता इसी में है कि हम स्वयं अपनी स्तुति के पात्र बन जाएँ। प्रभु की जिस महिमा का गुणगान हम अपने स्तोत्रों में करते हैं, उसी महिमा को धीरे-धीरे अपने आचार-विचार में विकसित करते जाएँ। अन्त को वह समय आ जाए जब हम अपनी भक्ति के पूरे नहीं, तो अधूरे भाजन तो बन ही जाएँ। स्तुत नहीं तो "उप-स्तुत" ही सही। अपनी आधी भक्ति का भाजन भक्त अपने आप होता है।

अग्नि-देव के तो स्वभाव में ही त्याग है। वह हवि को ग्रहण ही इसलिए करता है कि उसे सूक्ष्म हवा में फैला दे, अपने साथ अन्य देवताओं को भी हवि का हिस्सेदार बना दे। वह तो ग्रहण करता-करता त्याग कर रहा है। यह अग्नि-देव की स्तुति है। हम इतने ऊँचे न उड़ सकें, दान की पराकाष्ठा को न पहुँच सकें पर अपनी संपत्ति का कुछ अंश अग्नि-देव के ही अर्पण कर दें, विश्व-याग की आंशिक अथवा पूर्ण आहुति बन जाएँ! यह हमारी उप-स्तुति है।

अग्नि-देव सत्य-स्वरूप है, यज्ञ-स्वभाव है। उसकी तो सत्ता ही एक महान् आहुति है। यह उसकी स्तुति है। हम इस स्तुति के योग्य तो संभवतः हो ही न सकें, परन्तु इस उप-स्तुति के लायक़ तो हम हैं ही कि हमारे नैतिक व्यवहार में सत्य का प्रभुत्व रहे, हम यज्ञ-स्वरूप न सही, हम अग्नि-देव के यजमान रहेंगे।

प्रभु महान् है, पूज्य है। उसमें महत्ता की पूज्यता की पराकाष्ठा है। हम अल्प है, स्वभाव से अल्प हैं। इस लिए अक्षरशः विभु तो हम हो ही नहीं सकते। हमसे तो

इतना ही हो सकना संभव है कि हम अपनी शक्ति का प्रयोग सबके भले के लिए करें, हमारा सामर्थ्य जितना भी है, उसका व्यवहार सबके भले के लिए हो। यही उप-स्तुति है।

अग्नि-देव विशुद्ध ज्योति का पुञ्ज है। उसके प्रकाश में अँधेरा है ही नहीं। तार्किक कुछ कहे, धुआँ होता वहीं है जहाँ आग न हो। धूप के आते ही छाया हट जाती है। प्रकाश पहुँचा और अँधेरा यह जा, वह जा। इस प्रकाश का नाम लेते-लेते हम भी तो प्रकाश में आएँ। हम प्रकाश के पुञ्ज न सही, कोई किरण ही सही। प्रकाश-पुञ्ज की स्तुति करते-करते हम प्रकाश की कोई किरण बन जाएँ। यह हमारी उप-स्तुति है।

प्रभु के गीत गाने का एक लाभ यही है कि गायक स्वयं गीत बन जाए। गीत की लय ही में लीन हो जाए। उसकी पृथक् सत्ता का कुछ पता ही न रहे। गायक गीत हो और गीत गायक। देवता को संबोधन करते-करते यजमान अपने-आपको मन्त्र सुनाने लग जाए। स्तुति किसी की हो, उप-स्तुति अपनी ही होती है।

सखाओ! गाओ, खूब गाओ, इतना गाओ कि तुम गान-स्वरूप हो जाओ। तुम्हारी संपूर्ण सत्ता प्रभु की महिमा का स्तोत्र बन जाए। स्तोता तुम हो, स्तुति तुम हो और आज तो "स्तुति" भी तुम्हीं हो। मेरी जान! तुम औरों की स्तुति क्या गाती हो? अपनी उप-स्तुति गाओ। वास्तविक स्तुति वही है जो अपनी स्तुति न सही, उप-स्तुति तो हो ही।

***

कर्म-वीर

प्र सो अग्ने तवोतिभिः सुवीराभिस्तरति वाजकर्मभिः ।
यस्य त्वँ सख्यमाविथ ॥२॥ १०८

ऋषिः—सोमरिः=उत्तम पालक ।

(अग्ने) हे अग्नि-देव ! (यस्य) जिसके (सख्यम्) सखित्व को (त्वम्) तुमने (आविथ) स्वीकार कर लिया है, (सः) वह (सुवीराभिः) उत्तम वीरता-पूर्ण (वाजकर्मभिः) अन्न, बल तथा ज्ञान के व्यवहारों में सहायक (तव) तुम्हारी (ऊतिभिः) कृपाओं से (प्रतरति) तर जाता है, ख़ूब तर जाता है ।

यजमान का निस्तारा अग्नि-देव का सखा हो जाने ही में है। यजमान अपनी ख्याति वही बना ले जो अग्नि-देव की है। प्रकाश का पुंज हो, उसका लेना-देना एक हो जाए, उसका सम्पूर्ण जीवन एक लम्बा यज्ञ बन जाए। यह सखित्व केवल दिखावे का न हो, अपने तथा अन्य लोगों के लिए ख़ाली माया-ही-माया न हो, किन्तु वास्तविक हो, उस पर स्वयं अग्नि-देव की मुहर हो। वह तभी यजमान के कल्याण का हेतु बन सकता है। सत्य-असत्य का साक्षी स्वयं यजमान का हृदय ही हो सकता है। क्या उसकी साध स्वीकृत हो गई है ? प्रभु ने क्या उसे अपने सखित्व में ले लिया ?—स्वयं उसके सिवा इसका ज्ञान और किसको हो सकता है ? साईं का सखित्व तो है ही हृदय की चीज़ ।

यह गोष्ठी बाहर जमती ही नहीं। प्रभु अपने 'प्यारे स खुल जाए—इसे कोई तीसरा मनुष्य कैसे जाने ?

इस सखित्व का मोटा चिह्न यह है कि प्रभु के प्यारे को, अपने जीवन के सामान्य व्यवहार में, एक अलौकिक सहायता की अनुभूति-सी प्रतीत होने लगती है। प्रभु का प्यारा आड़े समय में घबराता नहीं, प्रसन्न रहता है। उसका धैर्य नहीं टूटता। वह वीर बना रहता है। शत्रुओं के घेरे में भी अधीर नहीं होता। संसार के सभी संग्रामों में उसकी हिम्मत बँधी रहती है। प्रत्यक्ष में हार भी जाए तो भी वह यह सोचकर सन्तुष्ट रहता है कि उसका पक्ष न्याय-युक्त था। धर्म की साधना में भी उसने अधर्म का कभी अवलंबन नहीं किया। उसका सम्पूर्ण खेल विशुद्ध रहा है। यही सच्ची वीरता—सुवीरता—है। यह वीरता अग्नि-देव की कृपा ही का परिणाम है।

मानव-संसार में तीन चीज़ों के लिए संग्राम हो रहा है—अन्न, बल तथा ज्ञान। यों तो प्रत्येक मनुष्य इन तीनों पदार्थों की प्राप्ति में लगा रहता है और अपनी शक्ति के अनुसार इस साधना में कुछ-न-कुछ सफल भी हो जाता है। परन्तु समाज-शास्त्रियों ने इन प्राप्तव्य पदार्थों की दृष्टि से मानव-जाति के तीन विभाग कर दिए हैं। वैश्य का धन अन्न है, क्षत्रिय का बल और ब्राह्मण का ज्ञान। भक्त इनमें से किसी भी वर्ण का हो सकता है। मनुष्यों के परिश्रम का ध्येय इन तीन सम्पत्तियों की उपलब्धि से मुख कैसे मोड़ सकता है ? उसका सभी क्रिया-कलाप इनके प्राप्त करने के

लिए ही होगा; उसे प्रभु की कृपा अन्न बन कर, बल बन कर, ज्ञान बन कर प्राप्त हो रही है। देखनेवालों को अन्न का धनी, बल का धनी, ज्ञान का धनी सौभाग्यवान् प्रतीत होता है। परन्तु कोई स्वयं भक्त की दृष्टि से देखे तो उसे स्पष्ट प्रतीत हो कि प्यारे का प्यार स्वयं अन्न अथवा बल या ज्ञान के रूप में नहीं, किन्तु इस तीन प्रकार के "वाज" से सम्बद्ध कर्म के वेष में प्रकट हो रहा है। यदि हमारा परिश्रम शुद्ध है तो उसका फल चाहे सफलता के रूप में हो या असफलता के रूप में, प्रभु की कृपा कर्म की शुद्धि ही में अपनी झलक दे चुकी है। फल की प्राप्ति के बाद उसके उपभोग-रूप कर्म में भी पाप का लेश न हो—प्रभु की प्रीति का यह एक और प्रमाण है।

प्रभु कर्म ही का अग्रणी है। कर्म में वीरता रहे—सुवीरता रहे—यही प्रभु की परम देन है, परम कृपा है।

तो अग्नि-देव! हम यजमानों को अपना सखा बना ही लो। हमारा अन्न, बल तथा ज्ञान मात्रा में जितना भी हो, उसकी प्राप्ति भी तुम्हारी वीरता-पूर्ण कृपा के हाथों से हो और उसका उपभोग भी तुम्हारी वीरता-पूर्ण कृपा के हाथों से ही किया जाए। यह तुम्हारी कर्मवीर कृपा हमारे जीवन को "सुवीर" बना दे। तुम हमें अपना यही सखित्व प्रदान करो—कर्मवीरता का सखित्व। अग्नि-देव! तुम कर्म-वीर हो। हमें भी कर्मवीर बनाओ।

***

चलता-फिरता अपाहज

तं गूर्द्धया स्वर्णरं देवासो देवमरतिं दधन्विरे।
देवत्रा हव्यमूहिषे ॥३॥ १०६

ऋषिः—सोमरिः=उत्तम पालक।

हे मेरे मन ! तू (तम्) उस (स्वर्णरम्) स्वर्ग के नेता की (गूर्द्धय) स्तुति कर जिसे (देवासः) देवताओं ने (अरतिं देवम्) निष्काम देवाधिदेव (दधन्विरे) स्वीकार किया। उसकी स्तुति यह है—देवाधिदेव ! तुम (हव्यम्) हवि को (देवत्रा) देवताओं में (ऊहिषे) पहुँचाते हो।

मेरे मन ! तू चाहता है कि स्वर्ग में पहुँचे ? तो वह स्वर्ग तेरे पास ही है। तेरा अपना "स्व" स्वः है—स्वर्ग है। तू अपने-आपको पहिचानता ही नहीं। वह सुख कौन-सा है जो तेरे अधीन नहीं ? अन्य इन्द्रियों को तो अपने विषयों तक पहुँचने में कुछ कठिनाई भी है। उनके विषय उनसे दूर हैं। वे इस दूरी को पाटें तब कहीं अपनी वाञ्छित वस्तु का उपयोग करें। तू जिस वस्तु को चाहे झट पास बुला ले। विषयों का तेरा चुनाव अशुद्ध रहता है। इसी से तुझे दुःख की प्राप्ति होती है। अपनी स्थिति को स्वयं स्वर्ग अथवा नरक बना लेना तेरे अपने अधीन है। स्वर्ग का राजा है—इन्द्र। आत्मा ही स्थायी सुखों का नेता है—स्वामी है। वही नर है। नर अथवा नारी एक ही चीज है। तू उस आत्मा का ध्यान कर। उसी को अपनी

स्तुति का पात्र बना। उसके गुणों का ध्यान कर, कीर्त्तन कर। तू अपने आनन्द की खोज उसी वस्तु में कर जिससे आत्मा को तृप्ति हो।

एक छोटा देवलोक तो यही शरीर ही है। इसमें काम कर रही सभी इन्द्रियाँ देव हैं! इन देवों का देवाधिदेव आत्मा है। इनकी संपूर्ण शक्ति आत्मा के कारण हैं। आत्मा सुखी है तो ये भी सुखी हैं। आत्मा को क्लेश हो तो किसी इन्द्रिय को भी चैन से रहने का अवसर नहीं मिल सकता। जहाँ इन्द्रियों का सुख आत्मा के सुख से विपरीत हो, वह सुखाभास हो तो हो, वास्तविक सुख नहीं। उस सुख का अन्त दुःख ही है। आध्यात्मिक शान्ति ही वास्तविक शान्ति है। उस शान्ति के रहते ही भौतिक जीवन में शान्ति की प्राप्ति हो सकती है।

बड़े पैमाने पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड देव-लोक है। इसमें स्थल-स्थल पर देवताओं की क्रीडा हो रही है। प्रत्येक देवता आनन्द में मगन है। इन देवताओं का देवाधिदेव परमात्मा है। वास्तविक लीला उसी की है। उसी की शक्ति से अन्य सब देव शक्ति-शाली हैं। उसी के आनन्द से सब आनन्दित हैं।

मेरे मन! तुझे आनन्द की तलाश है तो उस आनन्द-स्वरूप के संयोग ही से आनन्दित हो। स्तुति का पात्र वही है आत्मा "उप- स्तुत" है। परमात्मा की स्तुति में उप-स्तुति—गौण स्तोत्र—आत्मा का भी हो जाता है।

देवताओं को हवि चाहिए। बिना अग्नि के हवन नहीं

होता। देवताओं का हव्यवाट् अग्नि है। शरीर की अग्नि आत्मा है, विश्व की परमात्मा। जहाँ आत्मा ने शरीर को छोड़ा, इन्द्रियों के रहते भी उसमें उपभोग की शक्ति नहीं रहती। विना आत्मा के न शरीर का विकास ही होना संभव है, न किसी निर्जीव अंग द्वारा सुख-दुःख की अनुभूति ही हो सकती है।

शरीर की सब चेष्टाएँ आत्मा की विद्यमानता ही का फल हैं। ऐसे ब्रह्माण्ड में परमात्मा की स्थिति से ही व्यवस्था है, नियन्त्रण है, नियमित गति है।

शक्ति प्रभु से आती है। और तो और, हमारा अपना शरीर ही कई अंशों में हमसे स्वतन्त्र है। यह हमारे अधीन किया गया है। आख़िर इसके परमाणु हैं तो इसी ब्रह्माण्ड ही का एक भाग जिसकी सत्ता हमसे सर्वथा स्वतन्त्र है। फिर भी यह हमारा उपकरण बन रहा है। किसी महान् व्यवस्थापक की व्यवस्था से ही हमारा इसका सम्बन्ध हुआ है। फिर और वस्तुओं का तो कहना ही क्या है? ब्रह्माण्ड का एक बहुत बड़ा काम हमारे वशीभूत हो रहा है। यह उसी देवाधिदेव प्रभु की कृपा है।

मेरे मन! तू उसी की शरण जा। उसके गुण-गान से कृतज्ञता की भावना होगी। विनय का अभ्यास होगा। "हव्य-वाहन" की ओर रुचि होगी। जीवन नाम ही "हव्य-वाहन" का है। किसी के काम आना, किसी की आवश्यकता पूरी कर देना, भूखे को भोजन, नंगे को वस्त्र, लूले को गति, गूँगे को वाणी देना "हव्य-वाहन" है।

मेरे मन! क्या तू स्वयं भूखा नहीं, प्यासा नहीं, लूला नहीं, लँगड़ा नहीं? तू अपाहज न भी हो, सभी चेष्टाएँ तेरी अपनी हों भी, पर यदि संसार में और कोई वस्तु न हो, वस्तु हो और तेरा उससे कोई सम्बन्ध न हो, तेरी पहुँच से ही संसार बाहर हो तो तू चलता-फिरता भी क्या अपाहज न हो जाए! कोई तेरा "हव्यवाट्" हुआ है, तू दूसरों का "हव्यवाट्" बन। "हव्यवाट्" की वास्तविक स्तुति यही है।

***

यज्ञ की पुकार

मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः।
यः सुहोता स्वध्वरः ॥४॥ ११०

ऋषिः—सोभरिः=उत्तम पालक।

(नः) हमारे (अतिथिम्) फेरीवाले को (मा हृणीथाः) रुष्ट मत कर, हटा नहीं। (एषः) यह (अग्निः) यज्ञाग्नि (पुरुप्रशस्तः) हमारा लोक-प्रिय (वसुः) धन है।—वह यज्ञाग्नि (यः) जो (स्वध्वरः) उत्तम यज्ञ-रूप होकर (सुहोता) यज्ञ का उत्तम निमन्त्रण देनेवाला है।

यज्ञाग्नि हमारे चारों ओर प्रज्वलित है। ब्रह्माण्ड का एक-एक अणु यज्ञ कर रहा है। तारे यज्ञ कर रहे हैं, चाँद यज्ञ कर रहा है, सूर्य यज्ञ कर रहा है। हवा के झोंके यज्ञ कर रहे हैं। और तो और, हमारे शरीर की प्रत्येक यान्त्रिक क्रिया यज्ञ-रूप है। यह आग जल रही है और चारों ओर यज्ञ की अलख-सी पुकार रही है। अग्नि-देव

फेरीवाला-सा बन रहा है—न रुक रहा फेरीवाला-सा, सतत गमन-शील फेरीवाला-सा। हे मेरे मन! तू इस जोगी को रुष्ट न कर दीजियो। इसे अपने द्वार से हटा न दीजियो। तू इसकी पुकार को सुन ले तो अच्छा। उस पर आचरण ही कर ले तो उत्तम। यह न भी हो सके तो इसकी अलख तो अपने कानों तक पहुँचती रहने दे। कैसी मनोमोहनी अलख है? मेरे प्यारे की, प्रभु की मनोमोहिनी अलख!

यज्ञाग्नि के रहते हम निर्धन हों तो भी धनवान् हैं। अमीरी रुपये-पैसे की नहीं, दिल की चीज़ है। दिल दरिया हो, फिर मनुष्य अमीर-ही-अमीर है। यजमान से बड़ा अमीर कौन होगा जो धन की नदियाँ बहा रहा है। उसकी एक-एक आहुति हवा में यज्ञ की खेती कर रही है। भावना हवा में बोई जाती है। यह वहीं पनपती है। अच्छा विचार जितना भी वातावरण में फेंक दिया जाएगा, संसार में उसका उतना ही संचार होगा। वह फैलेगा, फले-फूलेगा। यज्ञ का मूल्य रुपयों-पैसों के परिमाण से नहीं, किन्तु दान की भावना के परिमाण से आँका जाता है। यजमान इस धन का तो धनी है ही।

यज्ञ-भावना की शिक्षा किसी मानवीय विद्यालय में नहीं, किन्तु स्वयं विश्वाग्नि की विशाल यज्ञशाला में दी जा रही है। संसार का कोई तुच्छ-से-तुच्छ पदार्थ ऐसा नहीं जो संयोग का फल न हो। एक घटक ने दूसरे घटक के लिए आत्म-समर्पण किया है। प्रत्येक वस्तु अनेक अंशों के संमिलन का परिणाम है। अणु-अणु "मैं तू" हुआ है, "तू मैं" हुआ

है, तब कहीं इस कार्य-जगत् की सृष्टि हुई है। मेरी लेखनी, मेरी दवात, मेरा काग़ज़—ये सब असंख्य यज्ञों के परिणाम हैं। मेरे रोंगटे-रोंगटे में यज्ञ हो रहा है। मेरी यज्ञ की भावना "पुरु-प्रशस्त" है। इसकी भीख अणु-अणु से मिल रही है। पृथिवी, आकाश, द्युलोक असंख्य-जिह्व होकर यज्ञाग्नि का गुण-गान कर रहे हैं—अपनी प्रत्येक चेष्टा से यज्ञ-भावना का व्यापक गीत बन रहे हैं। धन अपना बनता ही तभी है जब उसे दिया जाए। रखा हुआ धन तो जहाँ सुरक्षित हो, वहीं ठीक है—चाहे मेरे पास हो और चाहे चोर के नष्ट न वहाँ होता है न यहाँ। धन की क़ीमत लगानी हो तो उसके उपभोग ही से लग सकती है। इसी उपभोग का दूसरा नाम यज्ञ है।

फेरीवाला फेरी कर रहा है, अलख पुकार रहा है। इस की अलख इसकी ज़बान ही पर नहीं, अंग-अंग में है। प्रत्येक चेष्टा में, हाव-भाव में, गति-मति में अलख है। यह स्वयं यज्ञ-रूप है। विश्वाग्नि "अध्वर" है—विनाश की विरोधिनी, निर्माण का मूर्त-रूप। संसार बन रहा है। बिगड़ भी रहा है तो फिर-फिर बनने जाने के लिए। यह "स्वध्वर" —यज्ञ का उत्तम स्वरूप "सुहोता"—यज्ञ का मूर्त निमन्त्रण है। उदाहरण से उत्तम, शिक्षा का और साधन है ही कौन-सा ? पाठ वही जो क्रियात्मिक हो।

अग्नि-देव ने पहिले अपनी बलि दी है। यज्ञ की वेदी पर प्रथम बलिदान अग्नि ही का हुआ। अग्नि ही की आहुति में अन्य सब आहुतियाँ डाली गई हैं। यज्ञ में होता

की पदवी, अग्नि-देव को, आत्म-बलिदान ही के कारण मिली है।

इसी से अग्नि-देव संन्यासी हो गया है। उसने काषाय वस्त्र धारण किए हैं। उनकी ज्वालाओं से वह यज्ञ के लिए पुकार रहा है। संपूर्ण मानव-संसार को आत्माहुति का निमन्त्रण दे रहा है।

मेरे मन! आत्म-लाभ है ही आत्माहुति में। हवन, लेना-देना दोनों है। दे दे, इसी से धन तेरा होगा। पड़ा हुआ तो तेरा हो या चोर का, बराबर ही है। धन फिरता रहे—यज्ञाग्नि के हाथों, हाथों-हाथ घूमता रहे, चक्कर काटता रहे। यही धन की फेरी है, फेरीवाला वही है जिसका धन-धान्य फेरी में हो, जी-जान फेरी में हो, सर्वस्व फेरी में हो। फेरी ही यज्ञ है और यज्ञ ही धन-धान्य, जी-जान।

मेरे मन! इस अपनी जी-जान को रुष्ट न कर। अतिथि को दुत्कार नहीं। अपना। तू स्वयं इस फेरीवाले की फेरी बन जा। आत्म-लाभ आत्म-बलिदान में है। यही अलख सचाई है—सच्ची अलख है।

* * *

मंगल-मूल

भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः।
भद्रा उत प्रशस्तयः ॥५॥ १११

ऋषिः—सोमरिः=उत्तम पालक।

(आहुतः) आत्माहुति देनेवाली (अग्निः) यज्ञाग्नि (नः) हमारे लिए (भद्रः) मंगल का कारण हो। (रातिः)

दान-लीला (भद्रा) हमारे लिए कल्याण का हेतु हो। (सुभग) हे सौभाग्यवान् यजमान! (अध्वरः) विनाश का विरोधी निर्माण-स्वरूप यज्ञ-याग (भद्रः) कल्याण का हेतु है। (उत) और इनसे बढ़ कर (प्रशस्तयः उ) ये प्रशस्त शिक्षाएँ ही (भद्राः) वास्तविक मंगल हैं।

अग्नि को अग्नि क्यों कहते हैं? यास्क के शब्दों में इसलिए कि वह अग्रणी है—यज्ञ-याग का अगुआ है। यज्ञ की वेदी पर सबसे पूर्व अग्नि की आहुति पड़ती है। अग्नि हुतात्मा है—सबसे पहिला हुतात्मा। यज्ञाग्नि यज्ञ में सबसे पूर्व अपनी आहुति देने की भावना ही का नाम है। यह भावना मंगल-कारिणी है। गृहस्थ की वेदी पर अपने-आपको सर्वात्मना समर्पित कर रही कन्या सौभाग्यवती है। वह मंगल की मूर्ति है। उसका मंगल इसी में है कि वह अपने वर की वधू हो जाए—दो आत्माएँ एक हो जाएँ। इसी से सृष्टि का क्रम चलता है। और सृष्टि ही मंगल है। सन्तान में वर-वधू एक हो जाते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इस शुभ मंगल का घर है। सब ओर निर्माण की आग जलाई जा रही है। वस्तु-वस्तु का गठ-जोड़ा हो रहा है।

संसार आत्म-समर्पण की लीला का विशाल क्षेत्र है। प्रत्येक पदार्थ अपने-आपको दे रहा है। दान मट्टी में पड़ रहा है—इसलिए कि उसकी मट्टी से वृक्ष पैदा हो। यह "राति" है। रा दाने रमु क्रीडायाम्। खेल-खेल में दान, दान-दान में खेल, दान करना भी और फिर यह भी समझना कि यह तो एक नाटक था। दिया-लिया किसने है? संसार की वस्तु संसार ही में उपस्थित है।

बीज ने पृथिवी के लिए, पृथिवी ने बीज के लिए आत्म-समर्पण किया और उससे पैदा हो गया वृक्ष। कलाकार ने समाधि लगाई और उसका फल हुआ चित्र। आज उससे संसार-भर का मनोरंजन हो रहा है। कलाकार के हृदय में तो विशुद्ध आत्म-सन्तुष्टि ही की भावना काम कर रही थी। वह तो खेलने बैठा था। खेल-खेल में एक अमर कृति का निर्माण हो गया। यही भाव "अध्वर" है—विनाश का विरोधी, निर्माण-रूप यज्ञ-याग। यही मंगल है। कला और कलाकार के इस पारस्परिक आत्म-समर्पण से—आध्यात्मिक विचार से—एक अमर सन्तान की उत्पत्ति होती है। यही मंगल है।

कोई मनुष्य आत्म-समर्पण करे, उसे खेल का रूप दे, उससे शारीरिक अथवा मानसिक सन्तति की उत्पत्ति हो। इससे और अधिक मंगल-कार्य क्या हो सकता है? मंगलों की इस परम्परा में मुकुट-मुणि मंगल यह है कि इससे मंगल-भावना का संसार-भर में संचार होता है। यज्ञ में एक विचित्र आकर्षण है। कोई किसी शुभ कार्य के लिए आत्म-समर्पणा करे सही। जनता इस आत्म-बलि पर मुग्ध हो जाती है। तर्कण किसी भाव का इतना प्रचार नहीं करती जितना उदाहरण। यज्ञ की शिक्षा तो दी ही आत्म-बलि से जाती है। आत्म-बलि सबसे बड़ी "प्रशस्ति" है। स्वयं बलिदान करनेवाला उन लाखों बलिदानों के मंगल फल का अधिकारी हो जाता है जो उसके अनुकरण में किए जाते हैं। यह मंगल-परम्परा समाप्त नहीं होती। यज्ञाग्नि मंगल थी,

दान-लीला अथवा यज्ञ अपने-आपमें तो मंगल थे ही। इन्हीं को जब उदाहरण का रूप मिलता है तो यह एक अनन्त, असीम मंगल-माला को जन्म देते हैं जिसका श्रेय आत्म-बलिदान के प्रत्येक उदाहरण के साथ-साथ गुणन हो-होकर प्रथम बलि-दाता को अग्रणी-रूप में मिलता जाता है। यास्क की भाषा में "अग्रणी" का परोक्ष-रूप "अग्नि" है। अर्थात् जो अग्रणी हो तो सही पर कहे न, अपने-आपको अग्रणी समझे नहीं, वही अग्नि है। विश्व-वधू के सुहाग में मंगल का मूल यही अग्नि-भावना है।

***

तन-तन्त्री

यजिष्ठं त्वा ववृमहे देवं देवत्रा होतारममर्त्यम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ ६ ॥ ११२

ऋषि:—सोभरि:=उत्तम पालक।

हे अग्नि-देव! हम (त्वा) तुझ (यजिष्ठं) उत्तम यजमान —(अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञ के (सुक्रतुम्) उत्तम ज्ञान, उत्तम संकल्प, उत्तम क्रिया-रूप (देवम्) देव को (देवत्रा) देवताओं में (अमर्त्यम्) संजीवन-प्रद (होतारम्) आमन्त्रण-दाता (ववृमहे) स्वीकार करते हैं।

अग्नि-देव! हम तुम्हें अपने इस जीवन-याग का होता स्वीकार करते हैं—ऐसा होता जिसके आह्वान की मृत्यु नहीं होती। हम मर जाएँ, जल जाएँ, हमारे श्वास-प्रश्वास रुक जाएँ। यह जीवन-ज्योति बुझ जाए। हमारे शरीर की हड्डी-हड्डी बिखर जाए। पर तुम्हारी अमर आवाज़ हमें

सुनाई देती रहेगी—देती रहेगी। अन्य सब साथी श्मशान तक के हैं, पर तुम उसके पश्चात् भी हमारे साथ चलोगे। तुम्हारे रथ पर चढ़ कर हम अमर-लोक सिधारेंगे—तुम्हारी इस अमर आवाज़ के रथ पर। तुम्हारी अमर आवाज़ यज्ञ है। यज्ञ का ज्ञान, यज्ञ का संकल्प, यज्ञ की क्रिया—ये सब तुम्हारी आवाज़ें हैं। हमने जबसे यज्ञ के रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया है, तभी से हमने तुम्हारी आवाज़ सुन ली। इस ज्ञान ने संकल्प का रूप धारण किया, तब तुम्हारी आवाज़ अधिक प्रबल हो चुकी थी, इसे सुने बिना चैन नहीं पड़ती थी। हम सुनते थे और व्याकुल रहते थे। संकल्प ने क्रिया का रूप धारण किया। जो यज्ञ हमारे मन से, हमारे हृदय से, हमारे अन्तःकरण के प्रत्येक विभाग से हो रहा था, वह अब बाह्य इन्द्रियों द्वारा भी होने लगा। हम तुम्हारी आवाज़ में लीन हो गये। हमारे रोम-रोम से तुम्हारी पुकार उठने लगी। तुम होता थे—आवाज़ देने-वाले। हम श्रोता थे—उस आवाज़ को सुन कर मस्त रहनेवाले।

अग्नि-देव! तुम यजिष्ठ देव हो। एक ओर देव, दूसरी ओर स्वयं यजमान—यजमान-श्रेष्ठ। इन दो स्वरूपों का मिश्रण ही तुम्हारे सफल होता होने का रहस्य है। जो कहते हो, वही करते हो। क्रिया को शुद्ध बना कर कहते हो। तुम्हारा कथन सक्रिय है, इसलिए सजीव है। केवल सजीव ही नहीं, जीवनप्रद है। हम इस आवाज़ को सुन-कर जी उठे हैं। हमारे वास्तविक जीवन का आरम्भ

तभी से हुआ है जबसे हमने तुम्हारी आवाज़ को सुना है। ज्ञान, संकल्प तथा आचरण—इन तीनों कानों से हमने तुम्हारी आवाज़ को सुना है। हमारे ये तीनों कान पवित्र हो गये हैं—तुम्हारी अमर आवाज़ को सुनकर स्वयं अमर हो गए हैं। यज्ञ की मृत्यु कहाँ है ?

प्रभो ! हमारे होता तुम्हीं हो। एक नन्हीं-सी आवाज़ है जो हृदय की तन्त्री से उठ रही है—हमेशा उठ रही है। हर क्षण उठ रही है। मैं सोचता हूँ। इस सोचने में तुम्हारी आवाज़ सुनाई देती है। मैं कोई भी इच्छा करूँ, इस इच्छा में तुम बोल पड़ते हो। प्रभो ! मेरी तो चेष्टा-चेष्टा, तुम्हारा मनोमोहक गीत है। मेरी इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न —सब तुम्हारे आह्वान हैं। प्रभो ! मैं यज्ञ-रूप हूँ। तुम्हारी ओर खिंच रहा हूँ, सिंच रहा हूँ। एक परोक्ष-शक्ति द्वारा खेंचा हुआ तुम्हारी ओर खिंच रहा हूँ, खिंच रहा हूँ।

मैंने तुम्हारा वरण क्या किया ? देवताओं की नगरी में आ गया। तुम्हें होता बनाने ही की देर थी कि मेरा अंग-अंग देव बन गया। अब तुम्हारा दिव्य आह्वान है और ये देव हैं। तुम्हारी अमर ध्वनि है और ये कान हैं। आज मेरी संपूर्ण इन्द्रियाँ श्रोत्र-रूप हैं। बोलती भी हैं, सुनती भी। श्रोत्र अपने-आप तन्त्री-से बन रहे हैं।

भोला गवैया अपनी तान पर मस्त है। तान उठाता भी है, सुनाता भी। कैसे ध्यान से कान लगा रहा है, जैसे गानेवाला कोई और हो।

अग्नि-देव ! क्या सचमुच तुम और हो, मैं और हूँ ?

तुम यजिष्ठ होकर क्या स्वयं यजमान बन नहीं गये? यजमान के अन्दर की आग—उसके ज्ञान की, संकल्प की, क्रिया की न मरनेवाली गान-स्वरूप आग क्या उसके अपने आत्मा से जुदी है ?

मेरी आत्मा की आत्मा ! तुम होता हो, मैं देव; तुम यजिष्ठ हो, मैं यजमान; तुम यज्ञ के कर्त्ता हो, मैं स्वयं यज्ञ। मेरे यज्ञ के कर्त्ता ! इस यज्ञ को अपने अमर ज्ञान से, अमर संकल्प से, अपने अमर अनुष्ठान से संचारित करो। तुम्हारे अमर आह्वान की सफलता इस मेरे अमर अनुष्ठान में है।

बजा रहा तन-तन्त्री को, विन गायक का वाद।
नस-नस आहत कर रहा, अहो अनाहत नाद॥

***

विषामृत

तदग्ने द्युम्नमाभर यत्सासाहा कंचिदत्रिणम्।
मन्युं जनस्य दूढ्यम् ॥७॥ ११३

ऋषिः—सोमरिः=उत्तम पालक।

(अग्ने) हे अग्नि-देव! हममें (तत्) वह (द्युम्नम्) तेज (आभार) पैदा कर (यत्) जो (कंचित्) किसी (अत्रिणम्) पेटू राक्षस को (सासाह) दबा चुका है—जैसे (जनस्य) मनुष्य के (दूढ्यम्) पाप-संकल्प (मन्युम्) क्रोध को।

अग्नि-देव ! तुम्हारी ज्वाला पर मैं मस्त हूँ। तुम्हारे तेज पर म मुग्ध हूँ। मैं जितना तुम्हारे निकट आता हूँ, उतना निर्मल तथा निष्पाप होता चला जाता हूँ। तुम्हारी लपटों में जादू है। तुम्हारी तेज चमक में एक मोहिनी है।

मैं बहुत बार काम के, क्रोध के, अहंकार के वशीभूत हुआ हूँ। ऐसी अवस्थाओं में मेरा सम्पूर्ण शरीर गर्म हो जाता रहा है। हृदय में भी एक क्षणिक स्फूर्ति-सी प्रतीत हुई है। मुझे विश्वास दिलाया जाता रहा है कि ये सब जीवन के चिह्न हैं। वह मनुष्य मर चुका है जिसे क्रोध नहीं आता, अहं-बुद्धि—जिसे खुदी कहते हैं—नहीं अकड़ाती। मनुष्य में अहंकार होना आवश्यक है।

अग्नि-देव! क्या ये काम-क्रोध आदि भी तुम्हारी ज्वालाएँ हैं। इनमें आग तो होती ही है। पर वह दिव्य नहीं है। इन भावनाओं में भी तेज है पर वह "द्युम्न" द्युलोक का नहीं।

अग्नि-देव! तुम्हारा नाम अन्नाद है, अत्ता है। तुम खाते हो खिलाने के लिए। तुम तोड़ते हो बनाने के लिए। इसके विपरीत क्रोधाग्नि निरा विनाश है। वह "अत्री" है—अत्ता नहीं।

पाप के प्रति क्रोध चाहिए। धर्म के प्रति काम चाहिए। पर यह क्रोध, यह काम तेज होकर भी अन्त को शान्ति ही लाते हैं। ये सहन-स्वरूप हैं। इनमें अधीरता नहीं होती, उतावली का ज़रा-सा भी अंश नहीं होता। इनके बस में आकर मनुष्य अपने आपे से बाहर नहीं हो जाता। उसके सामने एक पवित्र उद्देश्य रहता है जिसकी प्राप्ति के लिए ही वह लड़ता है, निरन्तर युद्ध करता है और उस पर जो भी अत्याचार किया जाता है, वह उसे सह जाता है। वैरियों के वैर को, विरोधियों के विरोध को सह जाता है।

ईर्ष्या को, द्वेष को, छल को, कपट को अमृत का घूँट कर पी जाता है। द्वेषियों के प्रति द्वेष नहीं करता, छलियों के प्रति छल नहीं करता। यज्ञाग्नि के पेट में पड़ कर ये सब कुत्मित भावनाएँ दिव्य आहुतियाँ-सी बन जाती हैं।

मनुष्य की प्रकृति में एक "अत्री" है, एक अत्ता। अर्थात् अन्नाद। अन्नाद अन्न को खाता है, अत्री अत्ता को। काम-क्रोध स्वयं मनुष्य को ही अपना भोजन बनाने पर उतारू रहते हैं। उसके शरीर को, मन को, आत्मा को खा रहे हैं। ये ज्वालाएँ अग्नि-देव की नहीं। ये सच्ची नहीं, झूठी उषाएँ हैं। "दुर्धी"—दुष्ट संकल्प के विभिन्न-रूप हैं। इनसे धारण नहीं, उच्चाटन होता है, मारण होता है।

अग्नि-देव! मुझे स्मरण है, तुमने कभी-कभी इन पेटू भावनाओं को हँसते-हँसते अपने सहन-रूप जबड़ों में जगह दे दी है। तुम क्रोधियों के क्रोध को सह भी गए हो और सहते-सहते उसे दबा भी। तुमने उसे निगल कर, पचा कर, अपने आमाशय में ले जाकर अपने यज्ञिय शरीर का अंग-सा बना लिया है। वैर-विरोध को पी जानेवाली यह तुम्हारी ज्वाला अमृत थी। तुम्हारा सहन-रूप तेज सचमुच संजीवन था।

तो बस, हे मेरे जीवन के जीवन! मुझे वही दिव्य संजीवन दो जो दुष्टता से दबे नहीं, उलटा उसे पी जाए। दुष्टता अपनी हो या पराई, आखिर दुष्टता ही तो है। उसका प्रतिकार मैं दुष्टता से नहीं, सज्जनता से करूँ। मेरा अदम्य सहन जिसकी झाँकी मुझे कभी-कभी अपने ही काम-

क्रोध के अभिभूत करने में मिल जाती रही है, आज अपनी मीठी स्मृति से भी मुझे निहाल कर रहा है। सहन-रूप की मिठास अमर है। प्रभो ! मुझे यही अमर मिठास दो। मुझे अत्ता बनाओ अत्रियों का। विष के घूँटों को ज्यों ही गले से उतारूँ वे अमृत हो जाएँ।

अग्नि-देव ! तुम्हारी अमर ज्वाला मेरे विष को अमृत कर दे। मेरे काल-कूट को पी-पीकर उसे संजीवन-रस बनाती जाए।

* * *

मनुष्य का घर

यद्वा उ विश्पतिः शितः सुप्रीतो मनुषो विशे।
विश्वेदग्निः प्रति रक्षांसि सेधति ॥८॥ ११४

ऋषिः—विश्वमनाः=विश्व का [हित-] चिन्तक।

(यत्) यह जो (मनुषः) मनुष्य के (विशे) घर में (विश्पतिः) प्रजाओं का पालन करनेवाला (सुप्रीतः) खूब प्रसन्न हुआ हुआ (शितः) मानो सान पर चढ़ कर पैना हो चुका है, वह (अग्निः) अग्नि-देव (विश्वा इत्) सभी (रक्षांसि) राक्षसों का (प्रति सेधति) नाश कर उनको उनके विपरीत-रूप में पुनरुज्जीवित कर रहा है।

संसार में राक्षस भी हैं, देव भी। राक्षस पापका यज्ञ ले रहे हैं, देव धर्म का। हमारी अपनी प्रकृति में आसुरी भाव पपा के यज्ञ को प्रबल कर रहे हैं और देव-गण उनके दमन करने में लगे हैं। देवों की शक्ति यज्ञ-रूप है। इनकी प्रकृति में कोमलता है, मृदुता है, मधुरता है। यज्ञ नाम

ही इन्हीं दिव्य गुणों के व्यवहार तथा प्रचार का है। देव अकेला रहे तो उसकी कोमलता किस काम की? मीठे भोजन का आनन्द बढ़ जाता है, यदि उसका उपभोग मिल कर किया जाए। स्वयं मेल का एक अपना मिठास भी तो है। यही मिठास मीठे देवों को और अधिक मधुर बनाता है। वे इसके कारण अधिक शक्त—अधिक समर्थ हो उठते हैं।

यज्ञ-स्वरूप देवताओं का सरदार अग्नि-देव है। इसका सबसे बड़ा चमत्कार मनुष्य के घर में प्रकट हो रहा है। जो निष्काम प्यार माता का सन्तान से, बहिन का भाई से, पिता का पुत्र-पुत्रियों से है, उसका उदाहरण कहीं और मिल सकना असम्भव है। पुत्र कीं उत्पत्ति यज्ञ है, उसका पालन-पोषण यज्ञ है, उसकी शिक्षा-दीक्षा सब यज्ञमय है। इनमें से कोई भी क्रिया यज्ञ की भावना से खाली रह जाए, तो वह पूर्णता को प्राप्त हो ही नहीं सकती। अग्नि-देव की प्रसन्नता यज्ञ में है और यज्ञ की पराकाष्ठा घर-गिरस्ती के व्यवहार में।

यज्ञाग्नि को बे-लाग प्यार की जितनी आहुति घरेलू-जीवन द्वारा मिलती है, और कहीं उसका शतांश भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस आहुति से तृप्त हो-होकर अग्नि-देव सुरासुर-संग्राम के लिए अपने-आपको मानो सान पर चढ़ाता है। उसे जितना अधिक प्रीति का अभ्यास होता है, उसके हृदय में युद्ध के लिए उतना अधिक उत्साह बढ़ता है। आसुरी भावों के दबाने में यह प्रीति का दिव्य हथियार राम-बाण है। माता के प्रेमाश्रुओं से सन्तान के सभी पाप धुल रहे

हैं। सन्तान-सुधार का जो काम गुरुजनों के संयुक्त क्रोध ने नहीं किया, जननी की एक आर्द्र-दृष्टि ने आन-की-आन में कर दिया है। लड़की में स्वार्थ, लोभ, मोह आदि लाख संकुचित भावनाएँ हों, वह जहाँ माँ बनी, वहीं उदारता के सरोवर में स्नान कर जैसे धुल गई हो। जननी—इस शब्द में ही त्याग का, तपस्या का, निष्काम आत्माहुति का एक चित्र-सा खिंच गया है। गृहस्थ वास्तव में एक भट्टी है जिसमें लोहा सोना बन रहा है और सोना कुन्दन। भाई भीरु था, बहिन के एक सन्देश ने उसे राखी बँधा दी। अब उसकी भुजा स्वयं एक सजीव तलवार है। बहिन की आन के लिए वह जान हथेली पर लिए-लिए फिर रहा है। अग्नि-देव पवित्र प्यार की सान पर चढ़ कर कितना पैना, कितना तेज़, कितना उग्र हो गया है। गृहस्थ पवित्रता का सरोवर है। दैवी भावनाओं का स्रोत है। आसुरी प्रवृत्तियों का केवल संहार ही नहीं, किन्तु पूर्ण काया-कल्प—दैवी भावनाओं में परिवर्त्तन—घरेलू-जीवन द्वारा ही हो सकता है। डाकू वीर बन गया, अम्मी के आशीर्वादों से। कामी स्वयं संयमी बन गया, तपोमूर्ति पत्नी की पवित्र तपस्या से। क्रोधी मनस्वी बन गया, पिता के प्यार से। स्वार्थी त्यागी हो गया, पुत्रों के मोह से। वह कौन-सी कुत्सित भावना है जो गृहस्थ की भट्टी में पड़कर सुसंस्कृत नहीं हो गई? समुज्ज्वल नहीं हो उठी?

अग्नि-देव! मनुष्य का घर आखिर केवल उसका घर-बार ही तो नहीं है। तुम "विश्पति" सम्पूर्ण प्रजा के पालक हो, मानव-जाति का घर सकल मानव-समाज है। इस

समाज को "विशः" इसी लिए कहते हैं कि इसके व्यक्ति एक-दूसरे में समाविष्ट हैं। इनमें एकात्मता है। इनके हित-अहित समान हैं, संयुक्त हैं। मानव-जाति एक है। मानव-समाज एक "विश" अर्थात् घर है। इसमें आसुरी भावों का निवास इसी लिए है कि इसमें घर का भाव नहीं है।

अग्नि-देव ! किसी बे-घरवाले को घरवाला बनाना तुम्हारा ही काम है। इस संस्कार के पुरोहित तुम्हीं हो। आज मानव-जाति घर की भावना से शून्य बे-घर-सी हो रही है। इसमें कुटुम्ब की भावना पैदा कर दो, घर की भावना ही तो यज्ञ की भावना है। सभी वृद्ध पिता हो जाएँ, सभी बराबर के भाई हो जाएँ, सभी पुत्र-पुत्रियाँ हो जाएँ। नारी-जगत् मातृ-जगत् हो, नर-जगत् भ्रातृ-जगत। बड़ों का यज्ञ देव-पूजा के रूप में हो, बराबरों का संगति-करण की शकल में और छोटों का दान के नाम से। जातियों का जातियों से, राष्ट्रों का राष्ट्रों से, देशों का देशों से मेल हो जाए—यज्ञिय मेल हो जाए। यज्ञ के नाते सभी यजमान देव बन जाएँ। आसुरी भाव को अग्नि-देव के आधिपत्य में स्थान हो भी तो काया-कल्प का—अग्नि-देव की संगति से दैवी भाव में परिणत हो जाने का।

अग्नि-देव ! तुम विश्पति हो तो पृथिवी-भर की "विशः"—प्रजाओं को एक "विश"—निवेश में, घर में—एकत्रित कर दो। सम्पूर्ण वसुधा एक कुटुम्ब हो जाए। अनेक रंगों, अनेक रूपों, अनेक बोलियों, अनेक विश्वासों-वाला कुटुम्ब हो जाए। एक रंग-बिरंगा परिवार हो जाए।

अनुक्रमणिका

मन्त्रों तथा मन्त्रांशों की

